RAYANWAL KAHA

(RATNPAL KATHA)



रयणवाल कहा

(रत्नपाल कथा)

RAYANWAL KAHA

Chandan muni

रयणवाल कहा

[रत्नपाल कथा]

चन्दनमुनि

लेखक : चन्दन मुनि

°

प्रस्तावना : मुनि नथमल

°

संस्कृत छाया : मुनि गुलाबचन्द
'निर्मोही'

°

हिन्दी अनुवाद : मुनि दुलहराज

°

प्रकाशक : भगवतप्रसाद रणछोड़दास
४४ न्यू क्लोथ मार्केट
अहमदाबाद-२

निवास : पटेल सोसाइटी (शाहीबाग)
अहमदाबाद

°

प्रथम संस्करण : ८ अप्रैल १९७१
महावीर-जयन्ती

°

मुद्रण-व्यवस्था निर्देशन :
श्रीचन्द सुराना 'सरस'

°

मुद्रक : श्री विष्णु प्रिंटिंग प्रेस,
राजा की मण्डी, आगरा–२

°

मूल्य : १०. रुपए (भारत में)
१३. शिलिंग (विदेश में)

Author : **Chandan Muni**

°

Preface : **Muni Nathmal**

°

Translation-
Sanskrit : **Muni Gulabchand**
'Nirmohi'

°

Hindi : **Muni Dulehraj**

°

Publishers . **Bhagwatprasad Ranchhordas**
44. New cloth market
Ahmedabad-2

N. L. : Patel Society (Shahibagh) **Ahmedabad**

°

First Edition . **8th April, 1971**
Mahavir Jayanti

°

Printing Supervision :
Shrichand Surana 'Saras'

°

Printers : Shri Vishnu Printing Press, Raja ki mandi
Agra-2

°

Price : India Rs. 10 .
Forign 13 S.

समर्पण ।

TO THE
SCHOLARS
OF
PRAKRAT
&
SANSKRIT LANGVAGE

प्राकृत
एवं
संस्कृत भाषा
के
अभ्यासियों को

स्वतः

कभी-कभी एक छोटी-सी घटना भी विशेष प्रेरणा देने वाली हो जाती है। उससे सुप्त भावनाएं जागृत हो उठती हैं और व्यक्ति उन भावनाओं को साकार करने के लिए उद्यत हो जाता है।

प्राकृत भाषा के प्रति मेरा पुरुषार्थ ऐसी ही एक सुप्रेरणा का परिणाम है।

उस समय मैं बम्बई में प्रवास कर रहा था। तीन वर्ष पूर्ण हो चुके थे। चौथे वर्ष का वर्षावास मैं 'विलेपारले' में बिता रहा था। साधनाश्रम का सुरम्यस्थल और नगीनभाई तथा सुशीलाबहन की भक्ति अपूर्व थी। एक बार मैं बाहर गया था। रास्ते में मुझे प्रोफेसर 'भियाणी' मिले। वे प्राकृत भाषा के गंभीर विद्वान एवं उसके अनन्य पक्षपाती थे। वार्तालाप के प्रसंग में उन्होंने कहा—"मुनिजी, मुझे अत्यन्त खेद के साथ कहना पड़ रहा है कि प्राकृत भाषा के प्रति सर्वत्र उदासीनता है। यह भाषा सभी भाषाओं की जननी, सहज और बुद्धिगम्य है, फिर भी इसके प्रति उपेक्षा बरती जा रही है। और तो क्या—भगवान् महावीर के अनुयायी भी इस ओर इतने प्रयत्नशील नहीं देखे जाते। जैन मुनि भी इसे प्रायः नहीं जानते और जो जानते हैं वे भी इसकी गहराई में प्रवेश नहीं कर पाते। मैंने अनेक मुनियों को इस भाषा के अध्ययन के लिए प्रेरित किया, किन्तु रुचि के अभाव में वे इस ओर विकास नहीं कर सके।"

प्रोफेसर भियाणी की यह कटूक्ति मुझे अक्षरशः सत्य प्रतीत हुई। अपने आगमों की भाषा मधुर प्राकृत के प्रति अपनी उदासीनता अनुचित एवं असह्य लगी, जबकि हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई और सिक्ख आदि अपनी-अपनी भाषा का कितना गौरव अनुभव करते हुए उसके प्रति जागरूक हैं।

प्राकृत का अध्ययन :

उस समय मेरी अवस्था ५१ वर्ष की थी। मैंने प्राकृत भाषाओं का मौलिक एवं गम्भीर अध्ययन किया। प्रारम्भ में मैंने कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र द्वारा रचित 'अष्टम अध्याय' को कण्ठस्थ किया। प्राकृत भाषा संबन्धी तथ्यों की जानकारी के बाद मैंने **'समराइच्च कहा,' 'पउमचरिअं'** **'पासणाहचरिअं', 'गाहा सप्तसती'** आदि ग्रन्थों का पारायण किया। अध्ययन-काल में प्राकृत में लिखने की प्रेरणा जगी। यद्यपि मैंने कुछेक वर्षों पूर्व

संस्कृत भाषा में अनेक गद्य-पद्यात्मक काव्य लिखे थे, किन्तु प्राकृत में लिखने की भावना ही नहीं जगी थी। इस बार प्राकृत में लिखने की प्रेरणा प्रबल होती गई और प्रथम पुष्प के रूप में मैंने 'रयणवाल कहा' की रचना प्रारम्भ कर दी। 'समराइच्च कहा' की शैली का निर्वाह करते हुए मैंने इस रचना को आगे बढाया। प्राकृत व्याकरण का ज्ञान सहायक था ही, अतः व्याकरण-गत अनेक शब्दों के प्रयोग स्वाभाविक थे। पाठकों की सुविधा के लिए शब्द सम्बन्धी सूत्रों को यथास्थान दे देने के कारण उनकी प्रामाणिकता असंदिग्ध बन गई है। प्राकृत शब्दों के साक्ष्य के लिए 'पाइयलच्छी नाममाला' का प्रयोग किया है और उसके पद्य टिप्पण में उद्धृत भी कर दिए हैं। मुझे सरल, सहज भाषा और छोटे-छोटे वाक्य बहुत पसन्द हैं। अतः मैंने इस काव्य में उस रुचि का निर्वाह किया है। समास की बहुलता और जटिलता तथा लम्बे वाक्य पाठक को भटका देते हैं, अतः उनका प्रायः वर्जन ही किया है।

इसकी संस्कृत छाया मुनि गुलाबचन्द 'निर्मोही' ने अत्यन्त श्रम से तैयार की है। देशी शब्दों को उसी रूप में देकर, कोष्ठक ( ) में संस्कृत में भावार्थ दे दिया है।

इसका हिन्दी अनुवाद आगम संपादन-कार्य में संलग्न मुनि दुलहराज जी ने संपन्न किया है। हिन्दी का अनुवाद इतना सरस एवं सरल हुआ है कि पढने वाले को अनुवाद-सा नहीं किन्तु स्वतन्त्र ग्रन्थ-सा प्रतीत होता है।

इसकी भूमिका मुनि नथमल जी ने लिखी है। वे स्वयं प्राकृत, संस्कृत और हिन्दी के गंभीर विद्वान हैं। अपने व्यस्त समय में इस ग्रन्थ का अवलोकन कर जो दो शब्द लिखे हैं, मैं उनके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं।

अन्त में मैं लालमुनि, मूलमुनि तथा मोहनमुनि आदि सहयोगियों के प्रति हृदय से आभार प्रकट करता हूं।

आचार्य श्री तुलसी ने इस ग्रन्थ को देखकर प्रसन्नता व्यक्त की और मुझे प्राकृत भाषा में 'जयचरिअ, लिखने के लिए प्रेरित किया। मैं उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूं।

मैं आशा करता हूं कि यह ग्रन्थ प्राकृत भाषा के अध्ययनशील शिक्षार्थियों का पथ प्रशस्त करने में उपयोगी सिद्ध होगा और उनके विकास के लिए नए आलोक का सर्जन करेगा।

बीदासर (राजस्थान)
वि० सं० २०२७ फाल्गुन कृष्णा २

—मुनि चन्दन

पत्थावणा

"अपारे कव्व-संसारे, कवी अत्थि पयावई।
जहाभिरोयए विस्सं, तहेमं परिवट्टइ ॥"

अस्सि सिलोगे जहत्थमत्थि निरूविअं। रसमयस्स भुवणस्स निम्माणं कविणा चिअ कयमत्थि। खणभंगुरे एयम्मि लोए कुह को भवे सासओ रसो जइ तत्थ न सिया कव्वरसो। कवी सच्चं रस-थालीए परिपागं विणीय उवहरइ, तेण सो मोय-मेउरो पमोएइ अवरे वि।

कथावत्थु, भासा, गुंफणं—एयाणि भवंति महग्घाणि उवगर-णाणि कव्वस्स। एएसु भासा नत्थि सासया। कयाचि पागय-भासा कव्वस्स रयणाए पमुहा आसी। जह लिहिअमत्थि आगम-सुत्ते—

'सक्कयं पागयं चेव पसत्थं इसि-भासिअं।"

इयाणिं कालस्स परिवट्टणं जायं। सक्कयस्स पागयस्स य कालो अइक्कंतो। अज्जकालीणा विचक्खणा भणंति—एया मया भासा संति। को अमओ मयासु भासासु कव्वं काउं उच्छाहमणुगच्छे ? अच्छेरगमिणं चंदणमुणिणा एता किर भासा पाहण्णेण कव्वरयणाए पउत्ता। किमत्थि कारणं ?

मण्णेहं अणेगंतवायरस-पीणिएण मुणिणा वट्टमाणं अईअ-णिरवेक्खं णोवलद्धं। ण य वट्टमाण-णिरवेक्खं लद्धमईअं। जो अईए वट्टमाणं पासइ, पासइ तह वट्टमाणे अईअं सो भवइ सासय-मग्गगामी।

सासयमग्गगामी पम्हुट्ठेसु वि तच्चेसु पुणो सइं उप्पाएइ

लोगाण । लालिच्च-लावण्ण-गुणोववेया पागय-भासा उवेहिया ण किं दुक्ख जणयइ महुर-रस-सिणायगाण कवीण ?

जं पागयं जस्स मउला पदावली पीणेइ मण जणाण, जंसि महग्घ-सहस्स-वास-पज्जंत अणेगंमि महच्चाण महप्पाण सत्थाण जाय विरयण । भगवया महावीरेण वद्धमाणेण जम्मि उवएसा कया । महप्पणा बुद्धेण जंसि निव्वाण-मग्गो पयासिओ ।

जत्थ अणेगंतवायस्स परिक्खा उवलब्भइ, जत्थ य उवलब्भइ मज्झिमपडिवयाए महत्थो सारो । जं पुरोकाउं लिहियाणि विज्जंते अणेगाणि कव्वनाडगाईणि ललियाणि सत्थाणि । जेण सव्वाइयाणि रहस्साणि वहइ अज्जावि मा । किं तीसे मुत्त अहुणा विलसिअ न जुत्त ?

जइवि इयाणि पागयं नत्थि लोग-भासियं । तहवि पगाममत्थि पाढजोग्गं । जह मयाणि-सयाणि सत्थाणि पुरातणाणि पढिज्जंति, तह इयाणि विरइयाणि किं न अज्झयण-विसय-गयाणि भविस्संति ? तो पाइय-भासाए गंथ-रयणं नेवत्थि विचार-विरहियं । एयम्मि पओयणे अहं अभिणंदेमि चंदणमुणिं ।

सपुण्णे वि साहिच्चे कथा-गंथाणं अत्थि महं गोरवमयं ठाणं । कुवलयमाला कहा, उवमिति-भवपवंचकहा-पभितयो अणेगा कहा संति सुप्पसिद्धा । तप्परंपराए एसा वि भवइ निबद्धा । कहाकारेण मुणिणा कओ कहाए पबंधो सुललिओ । भासा-दिट्ठीए पओग-पहाणा इमा । मुणी एसो ललियाण अभिणवाणं य पओगाण पगरणे अत्थि सुप्पसिद्धो । कहा-पबंधे जत्थ तत्थ पागय-वागरण उदाहडमिव दिस्सइ । मउला पगई जह मणं हरइ, तह कहाए वि मउला पओग-पवत्ती भवइ मणोहरा । लहूणि वक्काणि सरलाणि साहूणि । निदसण-रूवेण ४० पिट्ठस्स इमा पंतीओ संति पढिअव्वा—

"अइक्कंतो गब्भकालो । सुह सुहेण पसविणी जाया भाणुमई । सव्वलक्खणसंजुत्त उप्पण्ण पुत्तरयण । अव्वो ! सुण्णं घर गिहमणिणा सोहिअ । अभूअपुव्वो उत्थारो वड्ढिओ मयणाणमणम्मि । धण्णोण

सेट्ठिणा लद्धो वंसभाणू। दाणाइ-णीर-सित्तो फलिओ पुप्फिओ धम्म-कप्परुक्खो। णिभालिऊण अब्भग-मुहचंदं परमतुट्ठा भाणुमई। चिरपरिकप्पिओ दोहलो पूरिओ विहिणा। अणेगेहिं आणंदिएहिं वयंसेहिं गहिअं सेट्ठित्तो पुण्णवत्तं।"

मण्णेहं सक्कय-पगइ-पहाणाओ पागयाओ भवइ अहियं लद्धपतिट्ठं जण-गण-पउत्तं पागयं। किंतु पउत्तिहेउणा तं नत्थि अहुणा उवलद्धं, तहावि कहाकारेण जत्थ-तत्थ देसि-सद्दाणं पओगो कओ अत्थि। कुह-कुहचि देसिसद्देण सक्कय-समसद्द-संजोगो कण्णापियो वि जाओ। उदाहरण-रूवेण एत्थ—'तक्कुअ-जणेहिं' (पृष्ठ २४) पत्थुअं भवइ। जइ एयस्स ठाणे 'सयण-जणेहिं' सिया, सिया वहु रमणीयं।

जइ वि हरिभद्दसूरिणा एस पओगो कओ अत्थि। कहाकारेण पाईण-गंथाणं पओग-पद्धतिमणुस्सिय कया पओगा। तहवि अज्ज भासा-पवंध-सरणीए बहु परिवट्टणमवेक्खियमत्थि।

कथा-वत्थु अत्थि पाईणं। तहवि कहाकारेण अभिणवो परिवेसो पदत्तो, तेण एसा भाति नव्वा विव।

एयम्मि कहा-पवंधे ठाणे-ट्ठाणे धुव-तच्चाणं संगाणमवि अत्थि मुहरिअं। पढियव्वा एता पंतीओ—

"अहो! अलक्खिअं खु मोह-महारायस्स विडंवणं! पुत्त-पोत्तेहिं परिवारिआ वि खिज्जंति विरहिआ वि। दुरहिगमा किर मोह-मइराए तणुवी अण्णाणरेहा। सुह-संकप्पिए वि दुहं, दुहाइ-एवि सुहं अब्भिडइ। वत्थुत्तो पोग्गलिअं आसत्ति-पल्हत्थं किं सुहं, किं दुहं? इहगओ उत्थारो वि परिणइंपत्तो पच्चक्खं सोआ-लिद्धो। हंत! तहवि कसाय-कलुसिओ जीवो णो जहातच्चं जिण-देसिअं धम्मं सद्दहइ, पत्तिअइ, रोएइ य।" (पृष्ठ १६)

जहमणी मुत्ताहारं सोभाहिअं करेइ, तह अंतो वद्धाणि नीइ-सुत्ताणि वद्धेंति गंथ-माहप्पं। कहाकारेण अणेगेसु ठाणेसु एयमा-

चरिअ। 'आहारम्मि ववहारम्मि य चत्तलज्जेण होअव्वं।' (पृष्ठ ३२) एय सुत्त एयस्स सक्कय-सिलोगस्स सइ जणयइ—

'आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जः सुखी भवेत्।'

माणसकारेण सत तुलसीदासेण अणेगेसि सक्कय-सिलोगाण माणसे कुसलाए पद्धईए सण्णिवेसो कओ, तेण माणसस्स कव्व-दिट्ठीए महामुल्लत्त जाय। बहूण पुराणाण अणुभूईण समवतारो पज्जोययइ गथस्स अगमग। विसय उवसहरमाणोहं एय साहेउ लहेमि ओगास—कहाकारेण एय पत्थुय कथागथ लिहिऊण—'पडिसो-यमेव अप्पा दायव्वो होउकामेण'—इति आगम-निद्देसो सफली-कओ। अज्ज पाइअे गथनिम्माण पडिसोय-गमणत्तो नत्थि नूण।

महामणेण गुरुवरेण कालूगणिणा जो उज्जमो कओ, गुरुवरेण महप्पणा तुलसीगणिणा जस्स धारा पवाहिआ, तीसे गुरुतरो एस जोगो कहा-पवधो भविस्सइ'त्ति वोत्तु सक्क।

एयमट्ठ साधुवादमरिहइ कहाकारो मुणी। एयस्स हिंदी-अणुवादो कओ मुणिणा दुलहराजेण, सस्कृत-छाया कया मुणिणा गुलाबचदेण। एव उभयमवि कज्ज कयमत्थि सस्सम। अणेण गथस्स महिमा परिवड्ढिया, सारल्लमवि। सक्कय-हिंदी-पाढगा अवि पढिउ सुलहत्त लद्धा।

तेरापथ-परपराए एयारिसी गथसपदा निरतर वड्ढमाणा भवे इइ चिरमभिलसामि।

वि० स० २०२७ माघवदि ९
बोरावड (राजस्थान)

—मुनि नथमल



प्रस्तावना

"इस अपार काव्य-संसार में कवि प्रजापति है। विश्व के निर्माण में उसकी जैसी अभिरुचि होती है, वह उसे उसी प्रकार में बदल देता है।"

कवि की इस उक्ति में यथार्थ का निरूपण हुआ है। कवि के द्वारा ही रसमय संसार का निर्माण होता है। यदि काव्यरस नहीं होता तो इस क्षण-भंगुर संसार में शाश्वत रस क्या होता? कवि सत्य को सरस बनाकर प्रस्तुत करता है। इससे वह स्वयं आनन्दित होता है और दूसरों को भी आनन्दित करता है।

काव्य में तीन मूल्यवान उपकरण होते हैं—कथावस्तु, भाषा और शैली। इसमें भाषा शाश्वत नहीं होती। एक समय था जब काव्य-रचना में प्राकृत भाषा की प्रधानता थी। आगम में लिखा है—"संस्कृत और प्राकृत ये दोनों भाषाएं प्रशस्त और ऋषिभाषित हैं।" आज समय बदल चुका है। संस्कृत और प्राकृत भाषाओं का समय अतिक्रान्त हो गया है। आज के विद्वान् मानते हैं कि ये मृत भाषाएं हैं। कौन अमृत पुरुष इन-मृत-भाषाओं में काव्य-रचना करने के लिए उत्साहित होगा?

यह एक आश्चर्य है कि चन्दनमुनि इन भाषाओं में काव्य-रचना करने के लिए प्रवृत्त हुए। इसका कारण क्या है? मैं मानता हूं कि अनेकान्तवाद के रस से प्रीणित चन्दन मुनि को अतीत-निरपेक्ष वर्तमान नहीं मिला और न वर्तमान-निरपेक्ष अतीत ही उन्हें प्राप्त हुआ। जो अतीत में वर्तमान और वर्तमान में अतीत को देखता है, वह शाश्वत मार्ग का अनुगामी होता है।

जो शाश्वतमार्गगामी होता है, वह विस्मृत तथ्यों के प्रति भी लोगों की रुचि उत्पन्न कर देता है। प्राकृत भाषा ललित है और लावण्य से उपपेत है। वह प्राकृत भाषा! जिसकी मृदु पदावली जन-मानस को आनन्दित करती है; जिसमें सहस्रों वर्ष पर्यन्त अनेक महान् शास्त्रों की रचना होती रही है;

भगवान महावीर वर्धमान ने जिस भाषा मे उपदेश दिया; महात्मा बुद्ध ने जिस भाषा मे निर्वाण मार्ग का प्रकाशन किया, क्या उसकी उपेक्षा मधुररस मे स्नात कवि-हृदयो को दुःखित नही करती ? इस भाषा मे अनेकान्तवाद की परीक्षा और मध्यमप्रतिपदा का महान् स्वर प्राप्त होता है। इस भाषा मे अनेक काव्य, नाटक आदि ललित शास्त्र लिखे गए हैं। इसीलिए यह भाषा आज भी सख्यातीत रहस्यो का वहन करती है। ऐसी स्थिति मे उस परम्परा का निर्वाह करना क्या युक्त नही है ?

यद्यपि प्राकृत भाषा आज जन-भाषा नही है, तब भी वह अत्यन्त पठनीय है। जैसे अपने-अपने प्राचीन शास्त्र पढे जाते हैं, वैसे ही वर्तमान मे विरचित ग्रन्थ अध्ययन योग्य क्यो नही होगे ? अतः प्राकृत भाषा मे ग्रन्थ रचना करना विचार-शून्य नही है। इस उद्देश्यपूर्ति के सदर्भ मे मैं चन्दनमुनि का अभिनन्दन करता हूँ।

सम्पूर्ण-साहित्य विधाओ मे कथा-साहित्य का गौरवमय स्थान है। कुवलयमाला, उपमितिभवप्रपच कथा आदि अनेक कथा-ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। उन्ही की परम्परा मे प्रस्तुत कथा-ग्रन्थ भी सबद्ध होगा। कथाकार चन्दनमुनि ने कथा का सुललित प्रबन्ध प्रस्तुत किया है। भाषा की दृष्टि से इसमे नए-नए प्रयोग है। चन्दनमुनि ललित भाषा और नए-नए प्रयोगो के लिए प्रसिद्ध है। प्रस्तुत कथा-प्रबन्ध मे यत्र-तत्र प्राकृत व्याकरण के उदाहरण दृग्गोचर होते हैं। जिस प्रकार मृदु प्रकृति मन को हरती है, उसी प्रकार कथा मे मृदु प्रयोगो का व्यवहरण मनोहर होता है। इसमे वाक्य-छोटे-छोटे सरल और सुन्दर हैं। उदाहरण के लिए चालीसवें पृष्ठ पर की ये पक्तियाँ पठनीय हैं —

"अइक्कतो गब्भकालो। सुहसुहेण पसविणी जाया भाणुमई। सव्वलक्खणसजुत्त उप्पण्ण पुत्तरयण। अव्वो ! सुण्ण घर गिहमणिणा सोहिअ। अभूअपुव्वो उत्थारो वट्टिओ सयणाण-मणम्मि। धण्णेण सेट्ठिणा लद्धो वसभाणू। दाणाइणीर-सित्तो फलिओ पुप्फिओ धम्म-कप्परुक्खो। णिभालिऊण अब्भग-मुहचद परमतुट्ठा भाणुमई। चिरपरिकप्पिओ दोहलो पूरिओ विहिणा। अणेगेहिं आणदिएहि वयसेहि गहिअ सेट्ठिणो पुण्णवत्त।"

मैं मानता हूँ कि सस्कृत-प्रकृतिमय प्राकृतभाषाओ मे जनता द्वारा-प्रयुक्त प्राकृत भाषा अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त करती है। किन्तु उस भाषा का व्यवहरण

न रहने के कारण आज वह उपलब्ध नहीं है। तो भी कथाकार मुनि ने यत्र-तत्र देशी शब्दों के प्रयोग प्रस्तुत किए हैं। कहीं-कहीं देशी शब्दों के साथ संस्कृत सम शब्दों का संयोग कर्ण-अप्रिय-सा बन गया है। उदाहरण के लिए पृष्ठ २४ पर एक संदर्भ में **'तक्कुअ जणेहिं'**—ऐसा लिखा है, यहाँ **'तक्कुअ'** देशी शब्द है; इसका अर्थ है—'स्वजन' इसके स्थान पर यदि **'सयणजणेहिं'** (स्वजन जनैः) होता तो सुन्दर होता।

यद्यपि हरिभद्र सूरी ने यह प्रयोग किया है। कथाकार ने प्राचीन ग्रन्थों की प्रयोग-पद्धति का अनुसरण कर ऐसे प्रयोग प्रस्तुत किए हैं, किन्तु आज भाषा प्रबन्धों की दिशा में बहुत परिवर्तन अपेक्षित है।

प्रस्तुत निबन्ध की कथावस्तु प्राचीन है; परन्तु कथाकार ने उसे नए परिवेश में प्रस्तुत किया है, अतः वह नई प्रतीत होती है। इस कथा प्रबन्ध में स्थान-स्थान पर शाश्वत तथ्यों का संगान हुआ है। निम्न पंक्तियाँ पठनीय हैं—

"अहो! अलक्खिअं खु मोह-महारायस्स विडंवणं! पुत्तपोत्तेहिं परिवारिआ वि खिज्जंति विरहिआ वि। दुरहिगमा किर मोह-मइराए तणुवी अण्णाणरेहा। सुहसंकप्पिए वि दुहं, दुहाइएवि सुहं अविभडइ। वत्थुत्तो पोग्गलिअं आसत्ति-पल्हत्थं किं सुहं किं दुहं? इहगओ उत्थारो वि परिणइं पत्तो पच्चक्खं सोआलिद्धो। हंत! तहवि कसाय-कलुसिओ जीवो णो जहातच्चं जिण-देसिअं धम्मं सद्दहइ, पत्तिअइ, रोएइ य।" (पृष्ठ १६)

जिस प्रकार मणि मुक्ताहार की शोभा बढ़ाता है, उसी प्रकार ग्रन्थ के अन्त में निबद्ध नीति-सूत्र ग्रन्थ के माहात्म्य को बढ़ाने वाले हैं। कथाकार ने अनेक स्थानों पर इन नीति-सूत्रों का प्रयोग किया है। पृष्ठ ३२ में प्रयुक्त वह नीति-वाक्य मननीय है—'आहार और व्यवहार में लज्जा नहीं रखनी चाहिए, यह नीति-सूत्र इस संस्कृत श्लोक का उपजीवी है—

'आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जः सुखी भवेत्।'

रामचरित मानस के प्रणेता संत तुलसीदास ने अपने ग्रन्थ में अनेक संस्कृत श्लोकों का समावेश अत्यन्त कुशलता से किया है। इसलिए काव्य की दृष्टि से रामचरित मानस का मूल्य बढ़ जाता है। इस ग्रन्थ का प्रत्येक अंश प्राचीन अनुभूतियों के प्रयोगों का समावेश अभिव्यक्त करता है।

विषय का उपसंहार करते हुए मैं यह कहना चाहूँगा कि कथाकार ने इस कथा ग्रन्थ को प्रस्तुत कर **'पडिसोयमेव अप्पा, दायव्वो होउकामेण'**—'जो विकास करना चाहता है; उसे प्रतिस्रोत मे बहना चाहिए' की आगम उक्ति को चरितार्थ किया है। वर्तमान मे प्राकृत भाषा मे ग्रन्थ रचना करना प्रतिस्रोत मे बहने से कम नही है।

महामना गुरुवर्य कालूगणी ने जो प्रयत्न किया था और महामना तुलसीगणी ने जिसको आगे बढाया, उसी दिशा मे यह कथा-प्रबन्ध महान् योगदायी सिद्ध होगा—यह कहा जा सकता है।

इसलिए कथाकार मुनि साधुवाद के पात्र है। इस कथा प्रबध का हिन्दी अनुवाद मुनि दुलहराज ने तथा सस्कृत छाया मुनि गुलाबचन्द ने प्रस्तुत की है। यह दोनो कार्य पूर्ण श्रम से सम्पादित हुए हैं। इनसे ग्रन्थ का गौरव बढा है और सस्कृत तथा हिन्दी पाठको के लिए पठन-पाठन की सरलता भी हुई है।

मै यह चिर अभिलाषा करता हूँ कि तेरापथ परपरा मे इस प्रकार की ग्रन्थ-सम्पदा निरन्तर बढती रहे।

वि० स० २०२७, माघ कृष्ण ६
बोरावड (राजस्थान) —मुनि नथमल

★★

FOREWORD

One of the impressive features of Jainism is its saying power. It is generally assumed to have had its beginnings with the Tirthankara Pārśvanātha in the 8th century B. C. and, though today it has only a relatively small body of adherents, it maintains a healthy, lively, and productive existence in both of its two great divisions.

In the many contacts which I have had with both Jain munis and Jain laymen during the past forty-three years I have observed the zeal with which the Jain community, both monks and laymen, preserves, studies, publishes and preaches its literature and honors the Jain teachings in their living. The Jains are not only a gentle people, but also a devoted and industrious people in conserving their faith. Furthermore, in our own time as in the past, the Jain munis constantly produce new works of religious edification, which may be written in English, but much more often in Gujrati, Hindi, Kanarese and other modern spoken languages of India and in Sanskrit as well, which learned Jain monks, like learned Hindu scholars, use for intellectual communication. Most surprising in this diligence in producing

works in ancient and modern languages is the use in new publications of the canonical Ardhamagadhi and in the commentarial Jaina Mahārāshtri Prākrita. I have met monks whose fluency with Jaina Mahārāshtri is such they can speak extemporaneously in it when addressing public meetings. And there are some monks who can write freely in it and compose verses in it using the traditional metre specially the Āryā. Such a product is Muni Chandanmal's 'Rayanavalakahā'. From one point of view this work is a tour de force, an astonishing achievement but it is also more than that. It is a work of devotion, a product of religious devotion, meant by the author to promulgate Eternal Truth, as the Jain faith conceives it, and by presenting those teachings in narrative form to make them more comprehensible to the world to stimulate zeal in spreading them. Whatever one's personal doctrines about cosmic order and religious belief, one must regard such a motive as a noble one, which should be listened to attentively, and a work so motivated must be respected.

W. Norman Brown

President, American Institute of Indian Studies
Professor Emeritus of Sanskrit, Pennsylvania University

अनुक्रमणिका

उगणवालु कहा

अह सिरिचंदणमुणि-विरइआ

पाइअ-भासा-णिबद्धा-रयणवालकहा

तत्थ कव्वकारगस्स परमेट्ठि-पंचग-सइरूव

मंगलायरणं

आरिया-छंदाइं

विलसइ जत्थ अणंतं णाणाईणं चउक्कयं[1] सहजं ।
तेसिं अरहंताणं कुणेमि सरणं[2] सुभत्तीए ॥१॥

करिअ अट्ठकम्माणं समूल-णासं सहाव-संलीणा ।
जम्मावसाण-रहिआ सिद्धा मे सिद्धिदा होंतु ॥२॥

जेसिं महोवयारो वट्टइ सम्मत्त-णाण-दाणेहिं ।
तेसिं आयरिआणं को ण कयण्णू थुइं कुणइ ? ॥३॥

---

१ चतुष्कम् २ स्मरणम् ।

अथ श्रीचन्दनमुनि-विरचिता

प्राकृत-भाषा-निबद्धा रत्नपाल-कथा

तत्र काव्यकारकस्य परमेष्ठि-पञ्चक-स्मृतिरूपं मंगलाचरणम्

आर्या-छन्दांसि

विलसति यत्रानन्तं ज्ञानादीनां चतुष्ककं सहजम्।
तेषामर्हतां करोमि स्मरणं सुभक्त्या ॥१॥

कृत्वाऽष्टकर्मणां समूलनाशं स्वभाव-संलीनाः।
जन्मावसान-रहिताः सिद्धा मे सिद्धिदा भवन्तु ॥२॥

येषां महोपकारो वर्तते सम्यक्त्व-ज्ञान-दानैः।
तेषामाचार्याणां को न कृतज्ञः स्तुतिं कुरुते? ॥३॥

विज्जाणं वित्थारो सुलहो जेसिं समासओ हवइ ।
विज्झाविअ[1]-भव-तावा संतु सरण्णा[2] उवज्झाया ॥४॥

जेसिं दसण-मेत्तं खवेइ भव्वाण कट्ठ-कोडीओ ।
इह तेसिं साहूण पय-कमल को ण पणमेइ ? ॥५॥

एव परमेट्ठीण पंचण्हं भाव-पूअणं किच्चा ।
अहमप्पण्णू कव्व काउं सहसा पयट्टोम्हि ॥६॥

पर-पुग्गल-सत्ताणं कह करिज्जइ सुहाण परिहासा[3]?
दुक्खाणं पि तहेव य, हंत! विचित्तोत्थि ससारो ॥७॥

किं हसणं, किं रुअण, को सोओ, एत्थ को णु आणंदो?
पुग्गल-धम्माण किर सव्वा खण-भंगुरा लीला ॥८॥

कहमेगम्मि वि जम्मे जीवो अणुहवइ कम्म-वेचित्तिं ।
कहा रयणवालस्स य णिदंसणं सम्ममिह अत्थि ॥९॥

कव्वछडा[4]-विरहिअमवि सहाव-सरसं कहाणयं महुरं ।
अणलंकिओ वि बालो णागरिसण-कारगो किं णु? ॥१०॥



---

१ विध्यापितभवतापा २ शरण्या —शरणे साधवः ३ परिभाषा ४ काव्यच्छटाविरहितमपि ।

विद्यानां विस्तारः सुलभो येषां सकाशाद् भवति।
विध्यापित-भव-तापाः सन्तु शरण्या उपाध्यायाः ॥४॥
येषां दर्शन-मात्रं क्षपयति भव्यानां कष्ट-कोटीः।
इह तेषां साधूनां पद-कमलं को न प्रणमति? ॥५॥
एवं परमेष्ठीनां पञ्चानां भाव-पूजनं कृत्वा।
अहमल्पज्ञः काव्यं कर्तुं सहसा प्रवृत्तोऽस्मि ॥६॥
पर-पुद्गल-सक्तानां कथं क्रियते सुखानां परिभाषा।
दुःखानामपि तथैव च हन्त! विचित्रोऽस्ति संसारः ॥७॥
किं हसनं, किं रोदनं, कः शोकोऽत्र को नु आनन्दः?
पुद्गल-धर्माणां किल सर्वा क्षणभङ्गुरा लीला ॥८॥
कथमेकस्मिन्नपि जन्मनि जीवोऽनुभवति कर्म-वैचित्रीम्।
कथा रत्नपालस्य च निदर्शनं सम्यगिहास्ति ॥९॥
काव्यच्छटा-विरहितमपि स्वभाव-सरसं कथानकं मधुरम्।
अनलंकृतोऽपि बालो नाकर्षण-कारकः किं नु? ॥१०॥

१

पढमो ऊसासो

•

इओ किर अईए काले अत्थि पाइअ[1]-सुंदेर-सोहिअं बहुविहुज्जाण-पव्वय-परिमंडिअं पुरिमतालपुरं नाम णयरं। तत्थ रज्ज-धम्म-णीइ-सुणिउणो तक्कर-पारदारिअ-पस्स-ओहराईसु कूरो वि परमसोमो भुअबल-परिकंपिअ-सत्तु-णिवहो अणलसो सूरसेणो णाम णिवइं। अणेगे इब्भा सेट्ठिणो गाहावइणो अपरिहूअ-विहवा अमाण-मच्छरिणो तत्थ परिवसन्ति। तेसिं मिअव्वयाणं[2] पि धण सुसप्पओगम्मि णईसोत्त पिव पवहइ। मायरं पिव पेच्छइ पर-जुवइ-जणं तेसिं लज्जालुइणी[3] दिट्ठी। मणयमवि गरहिअं काऊण झत्ति पायच्छित्तं पडिवज्जिउकामा तेसिं तत्त-परिपूआ मई।

---

१ प्राकृत सौन्दर्य-शोभितम् २ मितव्ययानामपि ३ 'गौणादय' इतिसूत्रेण साधु, लज्जालुरित्यर्थं

१

प्रथमः उच्छ्वासः

इतः किल अतीते काले अस्ति प्राकृत-सौन्दर्य-शोभितं बहुविधोद्यान-पर्वत-परिमण्डितं पुरिमतालपुरं नाम नगरम् । तत्र राज्य-धर्म-नीति-सुनिपुणः, तस्कर-पारदारिक-पश्यतोहरादिषु क्रूरोऽपि परम-सोमः, भुजबल-परिकम्पित-शत्रु-निवहः, अनलसः सूरसेनो नाम नृपतिः । अनेके इभ्याः श्रेष्ठिनः, गाथापतयः अपरिभूत-विभवाः अमान-मत्सरिणः तत्र परिवसन्ति । तेषां मितव्ययानामपि धनं सुसम्प्रयोगे नदीस्रोत इव प्रवहति । मातरमिव प्रेक्षते पर-युवतिजनं तेषां लज्जालु दृष्टिः । मनागपि गर्हितं कृत्वा झगिति प्रायश्चित्तं प्रतिपत्तुकामा तेषां तत्त्व-परिपूता मतिः । श्वः परेद्युः वा कर्तव्यं सुवि-

सुवे[1] परज्जु[2] वा कायव्व सुविहिअ एत्ताहे[3] कुणिमु 'त्ति तेसिं विसिट्ठा जागरणा। पाय धणेसरा अवि ते परदुहम्मि दुक्खिया। दुस्सहो तेहि खतिखमेहि पि धम्मिओ पराहवो। आवडिए बहुकज्जभारे वि अबीअं[4] मुणंति ते धम्मकज्जं। अहो! अच्छरिअ![5] तेसिं सहलं[6] मणुअत्त पेच्छिऊण देवा अवि पडिफद्धति[7] तारिसा होउ।

तेसु सयल-पुरजण-समाणिओ मेढि-चक्खू-भूओ भद्द-पयडी दयल्लहिअयो[8] जिणदत्तो णाम महेब्भो। सामाइअ-पडिक्कमण-पोसहोववासाइं सम्मं पालेमाणो सुहसुहेण विहरइ। सो अंतरप्पम्मि निरंतरं सावयाण तिण्णि मणोरहे भावेमाणो दुरुत्तरं दुरवगाहं संसार-सायरं पारं णेउं पयासइ। धण-संपयाओ बहुमण्णए सो धम्ममपय। सरिआजलं पिव गत्तर जुव्वणं, विज्जू-पयास-निहं च जीविअ, पुरा पच्छा वा चइअव्वं सव्वमिण 'ति सरेंतो अप्पमाओ अच्छइ[9]। पाउसागमे मोरव्व भाविअप्पाण मुणिदचंदाणं दंसणं लहिआण पंफुल्ल-माणसो हवइ। तेसिं धम्मोवएसं सद्धि वयंसेहिं तत्त-ग्गहण-मईए सायरं एगग्गमणो कुंपलीकय[10]-पाणिजुअलो आयण्णेइ।

तस्स सेट्ठिणो मणुअ-सरीर पत्ता विव अच्छरसा, पिंडी-भूआ विव गुणसंतई, सक्ख विणयसंपया, वंस-परंपरा[11]-लद्धुच्च-सक्कारा, लज्जा-णमिअ-दिट्ठी, महुरववहारा भाणुमई णाम भारिआ। जाए नेत्त-कमला[12] णिच्चं उम्मिल्ला वि पर-जण-गयावगुणाइ[13] दट्ठुं मुद्दिअ-पम्हजुअला। जाए णव-

१ श्व २ परेद्यु, ३ एत्ताहे-इदानीम् ४ अद्वितीयम् ५ आश्चर्यम् ६ सफलम् ७ प्रतिस्पर्धन्ते ८ दयार्द्र हृदय ९ तिष्ठति १० कुड्मलीकृत० ११ वंशपरम्परा

हितं 'इदानीं कुर्मः' इति तेषां विशिष्टा जागरणा। प्रायः धनेश्वरा अपि ते पर-दुःखे दुःखिताः। दुस्सहः तैः क्षान्ति-क्षमैरपि धार्मिकः पराभवः। आपतिते बहुकार्यभारेऽपि अद्वितीयं जानन्ति ते धर्मकार्यम्। अहो! आश्चर्यम्! तेषां सफलं मनुजत्वं प्रेक्ष्य देवा अपि प्रतिस्पर्धन्ते तादृशाः भवितुम्।

तेषु सकल-पुरजन-सम्मानितः मेधि-चक्षुर्भूतः भद्रप्रकृतिः दयार्द्रहृदयः जिनदत्तो नाम महेभ्यः। सामायिक-प्रतिक्रमण-पौषधोपवासान् सम्यक् पालयन् सुखं सुखेन विहरति। स अन्तरात्मनि निरन्तरं श्रावकाणां त्रीन् मनोरथान् भावयन् दुरुत्तरं दुरवगाहं संसार-सागरं पारं नेतुं प्रयस्यति। धनसम्पत्तः बहुमन्यते स धर्म-सम्पदम्। सरिज्जलमिव गत्वरं यौवनं, विद्युत्प्रकाशनिभं च जीवितं, पुरा पश्चाद् वा त्यक्तव्यं सर्वमिदमिति स्मरन् अप्रमादः तिष्ठति। प्रावृडागमे मयूरवद् भावितात्मनां मुनीन्द्रचन्द्राणां दर्शनं लब्ध्वा प्रफुल्लमानसो भवति। तेषां धर्मोपदेशं सार्धं वयस्यैः तत्त्व-ग्रहण-मत्या सादरं एकाग्रमनाः कुड्मलीकृत-पाणियुगलः आकर्णयति।

तस्य श्रेष्ठिनः मनुजशरीरं प्राप्ता इव अप्सराः, पिण्डीभूता इव गुणसन्ततिः, साक्षाद् विनयसम्पद्, वंशपरम्परा-लब्धोच्च-संस्कारा, लज्जानमित-दृष्टिः, मधुर-व्यवहारा भानुमती नाम भार्या। यस्याः नेत्रकमलानि नित्यमुन्मीलितान्यपि परजनगतावगुणान् द्रष्टुं मुद्रित-

णीअ-कोमलो वि उरो गहिअ-पइण्णा-सरक्खणट्ठं वज्ज-कढिणो । जास वयणाइं सव्वेसिं परमाल्हाय-जणगाइं । कुलमेरा च्चिय णाए परमा गरिमा[१] । गुरूण-पुरओ विणयसीला सा कयजली सव्वेहिं दिट्ठा । केणावि किं पि साहिआ[२] तह 'त्ति' जुत्तं 'ति' विकासर-वयणारविंदाए पडि-वज्जमाणाए णाए सम्मं भाविअं । सिरीस-कोमलंगी वि अवीसामं घर-कज्जं अखेअं कुणमाणा पाडिवेसिएहिं[३] पस-सिआ । तम्हा सव्वेहि घर-ववहारेसु पुच्छिअव्वा सा पीइ-वीसंभ-भायणं जाया । पाडिप्फद्धिणो[४] वि अण्णरथालब्भ ताए णेसग्गिअं महुर-ववहारं पप्प विसुमरिअ-वेरभावा भूआ ।

एवं सव्वओ दाहिणभावं पडिवण्णो त्ति जिणदत्तो एगेण चिंतासल्लेण किंचि उच्चेओ[५] वट्टइ । जमेगेण कुलदी-वेण विहूणं धण-धण्ण-भिच्च-किंकर-पडिपुण्णं सुसज्जिअं सुमंडिअं पि धवलगिहं सुसाण-तुल्लं परिलक्खिज्जइ । हंदि ! केरिसो णिट्ठुरो किविणो विही !! जं केसिमवि ण सव्वंगिअं सुहं निंतिक्खेइ । सव्व-काम-समप्पिओ वि पुरिसो ईसिं अणणु-कूलत्तणं पायमणुहवइ चेव । सुहासोअंसि वि अहियाइं काइं सुण्हा[७] कालकूड-रेहा । मणुअस्स णिडालम्मि किं भद्दमभद्दं लिहिअं 'ति किं णज्जइ' अप्पण्णुणा मणुएण । तहवि अज्झत्थ-तत्त-निउणो आपाय-बधुरं पि पेरंत-दारुणं पोग्गलिअं परिणामं मुणेंतो अंतग्गयं तं चिंता-सल्लं णाइं वहु

---

१ वेमाङ्जन्यायां स्त्रियाम्' (हे० १-३५) इति नित्य स्त्रीत्वम् २ कथिता ३ प्रातिवेश्मिकैः ४ प्रतिस्पर्धिनोऽपि ५ उद्विग्न, यथा-आदग्ग उव्विग्ग उच्चेय

र्गतं तत् चिन्ताशल्यं न बहु गणयति। नमस्कार-महामन्त्रं प्रतिक्षणं स्मरन् सुखं जीवनं यापयति।

अथ अन्यदा समागतः कौमुदी-महोत्सवः। तेन बहवः पौराः परिहित-नानाविध-शोभननेपथ्याः महार्घ्याभरणाऽलङ्कृत-शरीराः स्वकैः स्वकैः परिवारैः परिवृताः उद्यानाभिमुखं वाहनैः पादचारेण वा सानन्दं निर्गच्छन्ति।

इतश्च भानुमती भोजनादि-सकल-गृह-कार्यात् निवृत्ता सती स्वक-भवन-वातायने स्थिता चतुष्पथं प्रलोकितुं लग्ना। अकस्मात् तस्याः दृष्टिः स्त्रीणां समूहे निपतिता। याः वनिताः पुत्र-पौत्र-परिवारिताः नाना-क्रीडा-संसक्त-मानसाः परस्परं मिलन्ति, हसन्ति, रमन्ते विविध-बालकथाः विस्तारयन्ति च। तासु कापि स्व-सिंलिबं (स्व-शिशुं) अंगुल्या गृहीत्वा मधुरमुल्लापयन्ती शनैः शनैः चालयति। अन्या रुदन्तं डिम्भं विचित्राणि क्रीडनकानि दापयित्वा तुष्टिमुत्पादयति। इतरा 'कोडे कुरु' इति गृहीत-हेवाकं पोतं उत्थाप्य भद्रं तदास्य-कमलं चुम्बन्ती सुखमनुभवति। धान्य-कण-भक्षणपरं पारापत-सन्दोहं प्रेक्ष्य कोऽपि असंज्ञीभूतो बालो विचित्र प्रश्नान् पृष्ट्वा अम्बां विस्मापयति। कापि अग्रे व्रजन्तं कमपि जटिलं दर्शयित्वा निजं अर्भकं शीघ्रं पलायितुं कथयति। अपरा नानाप्रकारं मिष्टान्नं क्रीत्वा शिशु मुखे सवात्सल्यं प्रक्षिपति। परा डिम्भैः समं मनःप्रह्लादजननीं कथां विस्तारयन्ती विविध-गृह-कार्यजनितं मस्तकस्थं खेदं शिथिलयति। एतादृश्यः नाना-बालक्रीडा-

गणइ। णमुक्कार-महामंतं पडिच्छणं सरमाणो सुहं जीवणं जवेइ[1]।

अह अण्णया समागओ कोमुई-महूसओ। तेण बहवे पउरा परिहिअ-णाणाविह-सोहण-णेवत्था महग्घाऽऽभरणालंकिअ-सरीरा सएहिं-सएहिं परिवारेहिं परिवुडा उज्जाणाहिमुह वाहणेहि पायचारेण वा साणंद निग्गच्छंति।

इओ अ भाणुमई भोअणाइ-सयल-गिह-कज्जाओ निअट्टा समाणा सयग[2]-भवण-वायायणम्मि ट्ठिआ चउप्पहं पलोएउं लग्गा। अकम्हा ताए दिट्ठी थीण समूहम्मि णिवडिया। जाओ विलयाओ[3] पुत्त-पोत्त-परिवारिआओ नाणाकीड्डा-ससत्त-माणसाओ परोप्पर मिलंति, हसंति, रमंति, विविह-वालकहा वित्थारयंति अ। तासु काइ स-सिलवं[4] अंगुलिआए गहिऊण महुरमुल्लावेंती सणिअ सणिअ चलावेइ। अण्णा रुअंत डिंभ विचित्ताणि कीलावणयाणि दावेऊण तुट्ठिमुप्पावेइ। इअरा 'कोडे कुणसु'[5] त्ति गहिअ[6]-हेवायं पोअ उट्ठावेऊण भद्द तयस्स-कमल चुंवेमाणी सुहमणुहवइ। धण्णकण-भक्खणपर पारेवअ[7]-सदोहं पेक्खिअ कोइ अमण्णोभूओ बालो विचित्त-पण्हे पुच्छिअ अम्मय विम्हावेइ। काइ अग्गे वच्चंत कमवि झडिलं[8] दसिऊण णिअ अब्भअ सयराहं[9] पलाएउं साहेइ। अवरा णाणापगार मिट्ठण्णं किणिअ[10] सिसु-मुहम्मि सवच्छल्लं पक्खिवइ। परा डिंभेहिं सम मणपल्हायजणणिं कहं वित्थारेमाणी विविह-घर-कज्ज-जणिअं मरथयत्थ खेअं सिढिलयइ। एआरिसा[11] णाणा-बालकीला-

[1] यापयति 'यापेर्जव' (हे० ४-४०) [2] स्वकभवनवातायने [3] वनिताः 'वनिताया विलया' (हे० २-१२८) [4] स्वशिशु। यथा—डहरो डिंभो चुल्लो,

गतं तत् चिन्ताशल्यं न बहु गणयति । नमस्कार-महामन्त्रं प्रतिक्षणं स्मरन् सुखं जीवनं यापयति ।

अथ अन्यदा समागतः कौमुदी-महोत्सवः। तेन बहवः पौराः परिहित-नानाविध-शोभननेपथ्याः महार्घ्याभरणाऽलङ्कृत-शरीराः स्वकैः स्वकैः परिवारैः परिवृताः उद्यानाभिमुखं वाहनैः पादचारेण वा सानन्दं निर्गच्छन्ति ।

इतश्च भानुमती भोजनादि-सकल-गृह-कार्यात् निवृत्ता सती स्वक-भवन-वातायने स्थिता चतुष्पथं प्रलोकितुं लग्ना। अकस्मात् तस्याः दृष्टिः स्त्रीणां समूहे निपतिता। याः वनिताः पुत्र-पौत्र-परिवारिताः नाना-क्रीडा-संसक्त-मानसाः परस्परं मिलन्ति, हसन्ति, रमन्ते विविध-वालकथाः विस्तारयन्ति च। तासु कापि स्व-सिलिवं (स्व-शिशुं) अंगुल्या गृहीत्वा मधुरमुल्लापयन्ती शनैः शनैः चालयति। अन्या रुदन्तं डिम्भं विचित्राणि क्रीडनकानि दापयित्वा तुष्टिमुत्पादयति। इतरा 'क्रोडे कुरु' इति गृहीत-हेवाकं पोतं उत्थाप्य भद्रं तदास्य-कमलं चुम्बन्ती सुखमनुभवति। धान्य-कण-भक्षणपरं पारापत-सन्दोहं प्रेक्ष्य कोऽपि असंज्ञीभूतो वालो विचित्र प्रश्नान् पृष्ट्वा अम्बां विस्मापयति। कापि अग्रे व्रजन्तं कमपि जटिलं दर्शयित्वा निजं अर्भकं शीघ्रं पलायितुं कथयति। अपरा नानाप्रकारं मिष्टान्नं क्रीत्वा शिशु मुखे सवात्सल्यं प्रक्षिपति। परा डिम्भैः समं मनःप्रह्लादजननीं कथां विस्तारयन्ती विविध-गृह-कार्यजनितं मस्तकस्थं खेदं शिथिलयति। एतादृश्यः नाना-वालक्रीडा-

---

सिसू सिलंबो य अब्भओ पोओ (पाइय० ६५) ५ 'क्रोडे कुरु' 'गोद में ले' इतिभाषा। ९ गृहीतहेवाकं कृताग्रहमित्यर्थः १० पारापत-संदोहम् ११ जटा-धारिणं १२ शीघ्रम् १३ क्रीत्वा १४ बहुवचनमिदम्।

निक्खित्त-चित्ता मायरा जाणु-कुप्पर-माऊए भाणुमईए दिट्ठा। तक्खण सा पुत्त-वंझं णिअ उच्छगं निहालेमाणी अगाह-सोअ-सायरम्मि णिमग्गा। हद्धी[1]! अफलो जाओ मे जम्मो! ऊ[2]! किं मए लद्धं णिरट्ठअं माणुसीत्तण! थू[3]! णिल्लज्जेण विहिणा मोरउल्ला[4] णे समप्पिआ अउला अत्थ-सपया! ओ[5]! वीसु[6] गाढमधयारं पत्थरिअं दीसइ! हरे[7]! कस्स पुरओ दुह पाउक्करेमि! धण्णाओ कय-पुण्णाओ ण एआओ अम्मयाओ जाहि सक्खं-सुविहिअ-फल पिव दुल्लह पुत्त-मुह-हिमयर-दसणं सुलद्धं। अहो! केरिस णिरुवम अणुहव-गमणिज्ज सुहं सवेअयति ता, जाण कण्ण-जुअल कीलारय[8]-बाल-रोलेण पडिपुण्णं। अम्मो! तुडिअक्खरा पयड-वागरण-णिअम-विसढा[9] वि सावाण वाणी उच्छु-लट्ठित्तो वि अहिअयर माहुरिअं पावेइ। अहह! कया एआरिसं सोवण्णिअ पच्चूहं[10] पेच्छिस्स, जया मामगमुच्छंगमवि अवच्च-हलप्फलिअं भविस्सइ। हहा! केवइआ अगणिआ जंत-मंत-तंताइआ उवरुवरि उवाया पुत्तट्ठं कया, किणो[11] ण केणावि किमवि पडिफल दसिअ? मणे[12] भास-रासिम्मि हुअ विव ते वअत्तणं गया। ओ! केरिस अववत्थिअ अविआरिअ जडाए पयडीए रज्जं, जत्थ ण पिमवि जहारिह दीसइ। अरे! जत्थ य दरिद्दस्स निच्चलो वासो तत्थ अवारा परिवारस्स वुड्ढी। जत्थ पुण मुत्ताहलेहि भरिअं भंडायारं तत्थ एकल्लोवि[13] दुइआए नवल्लो चदो ण दिट्ठीपहमोअरइ। एव भाणुमई विविह-

---

१ हद्धी-निर्वेदे (हे० २-१९२) २ ऊ-गर्हाक्षेपविस्मयसूचने (हे० २-१९९) ३ थू-कुत्सायाम् (हे० २-२००) ४ मोरउल्ला मुधा (हे० २-२१४) ५ ओ-

निक्षिप्त-चित्ताः मातरः जानु-कूर्पर-मात्रा भानुमत्या दृष्टाः। तत्क्षणं सा पुत्र-वन्ध्यं निजं उत्सङ्गं निभालयन्ती अगाध-शोक-सागरे निमग्ना। हद्धी ! (निर्वेदे) अफलं जातं मे जन्म ! ऊ (गर्हायाम्) किं मया लब्धं निरर्थकं मानुषीत्वम् ? थू ! (कुत्सायाम्) निर्लज्जेन विधिना मुधा अस्मभ्यं समर्पिता अतुला अर्थसंपत् ! ओ ! (पश्चात्तापे) विष्वग् गाढं अंधकारं प्रस्तृतं दृश्यते ! हरे (क्षेपे) कस्य पुरतो दुःखं प्रादुष्करोमि। धन्याः कृतपुण्याः णं (वाक्यालङ्कारे) एताः अम्बाः याभिः साक्षात् सुविहित-फलमिव दुर्लभं पुत्रमुख-हिमकर-दर्शनं सुलब्धम्। अहो ! कीदृशं निरुपमं अनुभवगमनीयं सुखं संवेदयन्ति ताः; यासां कर्णयुगलं क्रीडारत-बाल-कोलाहलेन प्रतिपूर्णम् ! अम्मो ! (आश्चर्ये) त्रुटिताक्षरा प्रकट-व्याकरण-नियम-विषमा अपि शावानां वाणी इक्षु-यष्टितोऽपि अधिकतरं माधुर्यं प्राप्नोति। अहह ! कदा एतादृशं सौवर्णिकं प्रत्यूषं प्रेक्षिष्ये, यदा मामकमुत्सङ्गमपि अपत्य-व्याकुलं भविष्यति ? हहा ! केवतिकाः अगणिताः यन्त्र-मन्त्र-तन्त्रादिका उपर्युपरि उपायाः पुत्रार्थं कृताः, किणो ! (प्रश्ने) न केनापि किमपि प्रतिफलं दर्शितम्। मणे (विमर्शे) भस्मराशौ हुतं इव ते वन्ध्यत्वं गताः। ओ ! (पश्चात्तापे) कीदृशं अव्यवस्थितं अविचारितं जडायाः प्रकृत्याः राज्यं, यत्र न किमपि यथार्हं दृश्यते। अरे ! (संभाषणे) यत्र च दारिद्र्यस्य निश्चलो वासः तत्र अपारा परिवारस्य वृद्धिः, यत्र पुनः मुक्ताफलैः भरितं भाण्डागारं, तत्र एकोऽपि द्वितीयायाः नवश्चन्द्र न दृष्टिपथमवतरति। एवं भानुमती विविध-विकल्प-ताप-परितप्ता एक्कसरिअं (झगिति) सशब्दं परिदेवितुं आरब्धा।

विकप्प-ताव-परितत्ता एक्क-सरिअं[1] ससद्दं परिदेविउमाढत्ता[2]। सकज्जल-बाहनीरेण उज्जलं गंडत्तल मलिणं काउ लग्गा। अलाहि[3] पेम्म मणोरह-सुण्णेण जीवणेणं' ति हिमाणी-दड्ढा भिसिणी[4] व्व विलीण-सुसमा जाया। णीसासूसासमंता वि लोहार-चम्म-कोसिअव्व पायड-[5] चेअण-केअणावि चेअणा-रहिआ निव्वुत्ता।

अहो! अलक्खिअं खु मोह-महारायस्स विडंबणं! पुत्तपोत्तेहिं परिवारिआ वि खिज्जंति विरहिआ वि। दुरहिगमा किर मोह-मइराए तणुवी[6] अण्णाणरेहा। सुह-संकप्पिए वि दुहं, दुहाइएवि[7] सुहं, अब्भिडइ[8]। वत्थुत्तो पोग्गलिअं आसत्ति[9]-पल्हत्थ किं सुहं, किं दुहं? इहगओ उत्थारो[10] वि परिणइ-पत्तो पच्चक्खं सोआलिद्धो[11]। हंत! तहवि कसाय-कलुसिओ जीवो णो जहातच्च जिण-देसिअ धम्मं सद्दहइ, पत्तिअइ, रोएइ य।

इओ एगवए[12] तत्थ जिणदत्तो सेट्ठी पेयसी[13]-ससीम-मागओ। असु-ण्हाय ताए मिलाणं मुह-कमलं पेक्खिऊण किंपि असोहणं' ति सकिओ अउलं वेयणमणुहवंतो सप्पणय महुरमहुरयाए गिराए साहेउ पउत्तो—"दे[14] माणिणि! कीस तुमं अज्ज-विमणायमाणी लक्खिज्जसि! को णु इर[15] एआरिसो मंदभग्गो जणो जेण भवईए मणो पईविओ[16]। ज्झत्ति[17] भणासु, तस्स दुद्धक्खर-घडिअं णामधेयं, जहा हं तं णिगिण्हेमि। कय-दुस्साहसस्स कढोर-पायच्छित्त-दाणेण तस्स दप्पं ओसारेमि[18]। कोमल[19]-कव्वडेण अहर-ट्ठिआइं

१ 'एकस्मन्निअ अर्जिति मनीति' (है० २-२१३) २ आरब्धा लग्ना ३ अलाहि निवारणे (है० २-१८२) ४ विषिनीव-कमलिनीव ५ प्रकटचेतनकेतनापि

सकज्जल-बाष्पनीरेण उज्ज्वलं गण्डतलं मलिनं कर्तुं लग्ना। अलाहि (निवारणे) अनेन मनोरथ-शून्येन जीवनेन, इति हिमानी-दग्धा बिसिनीव विलीन-सुषमा जाता। निःश्वासोच्छ्वासमती अपि लोहकार-चर्मकौशिका इव प्रकट-चेतन-केतना अपि चेतना-रहिता निर्वृत्ता।

अहो अलक्षितं खु (निश्चये) मोहमहाराजस्य विडम्बनम्! पुत्र-पौत्रैः परिवारिताः अपि खिद्यन्ते, विरहिता अपि। दुरधिगमा किल मोहमदिरायाः तन्वी अज्ञानरेखा। सुख-संकल्पितेऽपि दुःखं, दुःखायितेऽपि सुखं संगच्छते। वस्तुतः पौद्गलिकं आसक्ति-पर्यस्तं किं सुखं, किं दुःखम्? इहगतः उत्साहोऽपि परिणतिं प्राप्तः प्रत्यक्षं शोकाश्लिष्टः। हन्त! तथापि कषाय-कलुषितो जीवः न यथातथ्यं जिन-दर्शितं धर्मं श्रद्धत्ते, प्रत्येति, रोचते च।

इतः एकपदे तत्र जिनदत्तः श्रेष्ठी प्रेयसी-ससीममागतः। अश्रुस्नातं तस्याः म्लानं मुख-कमलं प्रेक्ष्य किमपि अशोभनमिति शङ्कितः अतुलां वेदनां अनुभवन् सप्रणयं मधुर-मधुरया गिरा कथयितुं प्रवृत्तः—"हे मानिनि! कस्मात् त्वं अद्य विमनायमाना लक्ष्यसे? को नु एतादृशः मन्दभाग्यो जनः, येन भवत्याः मनः प्रतीपितम्? झगिति भण, तस्य दुष्टाक्षर-घटितं नामधेयं, यथा अहं तं निगृण्हामि। कृतदुस्साहसस्य कठोर-प्रायश्चित्त-दानेन तस्य दर्पं अपसारयामि। कोमलकर्पटेन अधर-स्थितान् बाष्प-बिन्दून् मृजन्

---

६ तन्वी 'तन्वीतुल्येषु' (हे० २-११३) ७ दुःखायिते ८ संगच्छते 'समा अब्भिडः (हे० ४-१६४) ९ आसक्ति-पर्यस्तं १० उत्साहः। वोत्साहे थो हश्चरः (हे० २-४८) ११ आश्लिष्टे ल धौ (हे० २-४९) १२ एकपदे-सहसा १३ प्रेयसीस-मीपम् १४ 'हे' सम्बोधने १५ 'इर' किलार्थे १६ प्रतीपितं-प्रतिकूलतां-नीतम् १७ झगिति १८ अपसारयामि १९ कोमलकर्पटेन (रुमाल इतिभाषा)।

बाह-बिंदूइं लुंछमाणो भत्ता सोअ-कारणं मग्गिउं लग्गो। परंतु सुण्हिक्काए पणइणीए ण एगमवि अक्खरं वाहरिअं, पच्चुत्तं[1] तुडिअ-मुत्ताहल-मालं पिव नेत्तंबुधारं वासेमाणी अईव दुक्खिआ जाया।

पाणसमे! कहं मोणमालंबिअ दइअं दुहयसि! अमुणिअ[2]-तत्थेण मए कह दुह-पडिआरो कायव्वो? धी! धी! ते गिहत्थासमं जत्थ पडिकूलयावण्णो इत्थिआ-जणो मणम्मि विसीअइ। णिवडिआ च्चिय मुणेअव्वा तत्थ घोरा विवया विज्जू जत्थ अवमण्णिज्जइ णारी-वग्गो पुरिसमत्तेण। परं णाहं चाहमि[3] सहेउं मे अद्धंगिणीए णिवारणारिहं दुहं, एवं भणमाणेण सेट्ठिणा उग्गकंठा दइआ, पुणो पुणो अणुरुद्धा आयण्णिउं अयंड-समुट्ठिअं[4] सोअ-कारणं।

पइणा परम-पेम्म-पोसिआ भज्जा किंचि पयडित्था[5] जाया। पइदेवस्स अहिणंदणं कुणमाणीए तीए कह कहमवि जाणाविओ णिअ-सोअ-वइअरो। अज्जउत्त! अज्जाहं भोयणाईणं कसिण वर-कज्ज संगोविअ गवक्खम्मि ट्ठिआ। अलक्खिआ मे दिट्ठी णिवडिआ चउप्पहम्मि आहिंडमाणे पुत्त-पोत्त-परिवारिए विलयाजणे। तं पेच्छिअ मे हिअयम्मि काइ पसुत्ता पुत्त-कामणा जागरूआ जाया। अहह! धण्णाओ एआओ भामणीओ[6], जाणं पुरओ धूलि-धूसरिआ मम्मणुच्चारा जंपिच्छिआ[7] हसमाणा रुवेमाणा विधक्कार-हेवागा पागा[8] कीलंति, रमंति, पलोट्टंति च। अहयं-

1 प्रत्युत 2 अज्ञाततथ्येन 'ज्ञो जाणमुणो' (हि० ४-७) 3 चहमि-शक्नोमि यथा-मक्कड चयइ 'य' तरेइ पारेइ (५६७ पाइ० नाममाला) 4 अकाण्ड-समुत्थ 'अयंडमणवसर' (पाइय० ८-३६) 5 प्रकृतिस्था 6 भामिन्य 7 पुन्नागमत्

भर्ता शोक-कारणं मार्गयितुं लग्नः। परन्तु तूष्णीकया प्रणयिन्या न एकमपि अक्षरं व्याकृतम्, प्रत्युत, त्रुटित-मुक्ताफल-मालामिव नेत्राम्बुधारां वर्षयन्ती अतीव दुःखिता जाता।

प्राणसमे! कथं मौनमालम्ब्य दयितं दुःखयसि? अज्ञाततथ्येन मया कथं दुःख-प्रतीकारः कर्त्तव्यः। धिग्! धिग्! गृहस्थाश्रमं यत्र प्रतिकूलतापन्नः स्त्रीजनो मनसि विषीदति। निपतिता एव ज्ञातव्या तत्र घोरा विपद्-विद्युत् यत्र अवमन्यते नारी-वर्गः पुरुषमात्रेण। परं नाहं शक्नोमि सोढुं मे अर्द्धाङ्गिन्याः निवारणार्हं दुःखम्। एवं भणता श्रेष्ठिना उपगूढा दयिता, पुनः पुनः अनुरुद्धा आकर्णयितुं अकाण्ड-समुत्थितं शोककारणम्।

पत्या परम-प्रेम-पोषिता भार्या किञ्चित् प्रकृतिस्था जाता। पतिदेवस्य अभिनन्दनं कुर्वत्या तया कथं कथमपि ज्ञापितो निजशोक-व्यतिकरः!। आर्यपुत्र! अद्याहं भोजनादीनां कृत्स्नं गृह-कार्यं संगोप्य गवाक्षे स्थिता! अतर्किता मे दृष्टिः निपतिता चतुष्पदे आहिण्डमाने पुत्र-पौत्र-परिवारिते वनिताजने। तं प्रेक्ष्य मे हृदये कापि प्रसुप्ता पुत्रकामना जागरूका जाता। अहह! धन्याः एताः भागिन्यः यासां पुरतो धूलि-धूसरिताः मन्मनोच्चाराः जंपिच्छिआः (यत्किमपि मार्गणशीलाः) हसन्तो रुदन्तो विष्ठितहेवाकाः पाकाः क्रीडन्ति, रमन्ते,

---

गिन्योर्गोमः (हे० १-१९१) ७ जिसे देखता है उसे चाहने वाला। यथा—जंपिच्छइ तंपिच्छइ जो सो जंपिच्छिओ भणिओ (६५५ पाइ०) ८ विरोध्याग्रहाः। ९ पाकाः १० अहमेव-अहयं।

तु केरिसी अहण्णा अपुण्णा ऊसरधरणी-सकासा जीए णो एगमवि बीअं परिफुडिअं भूअं। इह्इ भुवणतले ओअरिअं केवलमह इत्थी-ओलीए[1] विदुट्ठाण पत्ता।

पियवर ! ण कह खेओ जायए मे वज्ज-कढोरम्मि हिअयम्मि ? केत्तिओ कालो वोलीणो[3] पयट्टे अम्हाण पाणिग्गहणे, तहवि ण अल्लिविअं[4] देवेण कुलदीवग एगमवि अवच्चं। णाऽज्झयण्णिआ सुमिणे वि जाय-कहा। पत्थुआ अणेगे उवाया थोववेलाए[5] आसा-पयाम दसिअ अंते फेण-बुब्बुअ-सन्निहा अदिट्ठा जाया। कुलभक्खर विणा को णु एआरिसीए महालच्छीए संरक्खिरो[6] भविस्सइ ? सयल-पुरजण-पयट्ठिअं भवओ अहिआण किं ण णाम पम्हुट्ठं[7] होहिइ आगामि-वंसपरंपराए ? एवं सगग्गयक्खरं भणमाणी भाणुमई पुणरवि रोत्तुमाढत्ता।

अंतो संधुक्किअं[8] सोअ-जलणं कहकहमवि णिवाविऊण[9] सेट्ठिणा कहिअ—"सुहवे[1] तत्तविआणिरी[0] भविआवि कहमुल्लंविआइ निरट्ठ-चिताविआणाइ ? ण याणासि किं अणुल्लंघणिज्जा हु दइविगी[1] रेहा ? वहणिज्जो चिय अणि-च्छिअव्वो वि पामरेण जतुणा कय-कम्माण भारो। किं ण अणुचिट्ठामो अम्हे पडदिअहं पुत्तवडिआए कमवि कमवि उवाय, तहावि ण होइ जइ फलीभूआ अम्हाण आसा, तयाणि अंतराय[2]—विअ भिअमेव मुणेअव्वं तं।

अज्जवि ण विणट्ठं किमवि। पणट्ठा होज्जा जइ

---

१ जननीयं २ स्त्रीपङ्क्तौ ३ व्यतीत ४ अपित (अर्पेरल्लिव-च्चुप्प-पणामा ८० ४-३६) ५ स्तोकवेलाया 'स्तोकस्य थोक्क-थोव-थेवा' (हे०

प्रलुठन्ति च। अहं तु कीदृशी अधन्या अपुण्या ऊषर-धरणी-संकाशा यस्यां न एकमपि बीजं परिस्फुटितं भूतम्। इह भुवनतले अवतीर्य केवलमहं स्त्री-आल्यां बिन्दुस्थानं प्राप्ता।

प्रियवर! कथं खेदो जायते भवतः वज्रकठोरे हृदये? कियान् कालो व्यतीतः प्रवृत्ते अस्माकं पाणिग्रहणे; तथापि न अर्पितं देवेन कुलदीपकं एकमपि अपत्यम्। नाकर्णिता स्वप्नेऽपि जात-कथा। प्रस्तुताः अनेके उपायाः स्तोकवेलायां आशा-प्रकाशं दर्शयित्वा अन्ते फेन-बुद्बुद्-सन्निभाः अदृष्टाः जाताः। कुलभास्करं विना को नु एतादृश्याः महालक्ष्म्याः संरक्षिता भविष्यति? सकल-पुरजन-प्रतिष्ठितं भवतः अभिधानं किं न नाम विस्मृतं भविष्यति आगामि-वंश-परम्परायाम्? एवं सगद्गदाक्षरं भणन्ती भानुमती पुनरपि रोदितुं आरब्धा।

अन्तः संधुक्षितं शोकज्वलनं कथंकथमपि निर्वाप्य श्रेष्ठिना कथितम्—"सुभगे! तत्व-विज्ञात्री भूत्वापि कथं उल्लम्बितानि निरर्थ-चिन्तावितानानि? न जानासि किं अनुल्लंघनीया 'खु' (खलु अर्थे) दैविकी रेखा। वहनीयः एव अनेष्टव्योऽपि पामरेण जन्तुना कृतकर्मणां भारः। किं न अनुतिष्ठामः वयं प्रतिदिनं पुत्र-प्रतिज्ञया कमपि कमपि उपायं, तथापि न भवति यदि फलीभूता अस्माकं आशा तदानीं अन्तराय-विजृम्भितमेव ज्ञातव्यं तत्।

अद्यापि न विनष्टं किमपि! प्रनष्टा भवेयुः यदि घनोत्करा इव पुण्य-प्रभञ्जन-स्फेटिताः प्रत्यूहाः। भवेत् शीघ्रमेव फलितः, पुष्पितो

२-१२५) ६ संरक्षिता, शीलाद्यर्थस्येरः (हे० २-१४७) ७ विस्मृतम् ८ जाज्वल्यमानम् ९ निर्वाप्य १० तत्वविज्ञात्री ११ दैविकी १२ अन्तरायविजृम्भितमेव।

घणुक्केरा[1] इव पुण्ण[2]-पहजण-फेडिया पच्चूहा । हवेज्ज सयराहमेव[3] फलिओ पुप्फिओ एसो मणोरह-कप्परुक्खो । अत्थि आसा अमरधग्गं[4] ति पसिद्धा लोगुत्ती । तम्हा ण हयासेहि होअव्व अम्हेहि ।"

तक्खणमेव तत्थ पाउब्भूअं जक्खजक्खिणी-जुअलं । रुम्रंति भाणुमइ-अणुकपमाणीए जक्खिणीए अग्गे गच्छतं जक्खद अणुरुज्झिऊण दरिसग्ग दिण्ण । जिण्णासिअं सहाणहूइ-पुण्णेहि महुरसद्देहि ताए चिंताए पओअणं । परुण्णवयणाए[5] भाणुमईए त जुअल पणमिअ पवेइअं सव्व-मवि सोअ-कारण । पुत्तवज्ञ सुण्ण जीविअं णाई[6] चिरं सहेउ सक्क । अज्जतण सुदिण अम्हेच्चय, जम्मि दिव्वं दरिसणमणायास लद्ध । नूण णट्ठा पच्चूहा । उइण्णाइं[8] मगलाइं । पवुड्ढ[9] मुहोदक्केण[10] । अणाचिक्खणीयप्पहावा[7] हवति खलु बुदारया[11] । कुव्वतु अणुग्गह । जओ हवति अणुग्गहसीला महाणुभावा । इत्थ विणयमाणी भाणुमई णिवडिआ तेसिं चलणेसु ।

एत्थंतरम्मि हिअयालु-जक्खाहिवइणा ओहिं पउंजिअ विलोइअं तेसि भविस्सं । विमणायमाणेण जक्खेसेण पच्चु-त्तरिअ तक्काल—"इब्भवर ! विलिओ[11] हं होमि वर पणा-मेउ[12] । सुण, होहिइ ते पुत्तो लच्छी-पणासेण सद्धि । चइअव्वं तुब्भेहि पि इण पुरगेहाइअ । पुत्तो वि वुड्ढिं लहिस्सइ पर-हत्थ-गओ, किं पणामेमि[13] वर ?"

---

१ घनोत्कर —मेघसमूहा २ पुण्यप्रभञ्जनस्फेटिता ३ सयराह-तत्क्षण,

नः (अस्माकम्) मनोरथकल्पवृक्षः । 'अस्ति आशा अमरधनम्' इति प्रसिद्धा लोकोक्तिः । तस्मात् न हताशैः भवितव्यं अस्माभिः ।

तत्क्षणमेव तत्र प्रादुर्भूतं यक्ष-यक्षिणी-युगलगम् । रुदतीं भानुमतीं अनुकम्पमानया यक्षिण्या अग्रे गच्छन्तं यक्षेन्द्रं अनुरुध्य दर्शनं दत्तम् । जिज्ञासितं सहानुभूतिपूर्णैः मधुरशब्दैः तया चिन्तायाः प्रयोजनम् । प्ररुदितवदनया भानुमत्या तद् युगलं प्रणम्य प्रवेदितं सर्वमपि शोक-कारणम् । पुत्र-वन्ध्यं शून्यं जीवितं न चिरं सोढुं शक्यम् । अद्यतनं सुदिनं अस्मदीयं, यस्मिन् दिव्यं दर्शनं अनायासं लब्धम् । नूनं नष्टाः प्रत्यूहाः । उदीर्णानि मङ्गलानि । प्रवृद्धं शुभोदर्केण । अकथनीय-प्रभावाः भवन्ति खलु वृन्दारकाः । कुर्वन्तु अनुग्रहम् । यतः भवन्ति अनुग्रहशीलाः महानुभावाः, इत्थं विनयमाना भानुमती निपतिता तेषां चरणयोः ।

अत्रान्तरे हृदयालु-यक्षाधिपतिना अवधिं प्रयुञ्ज्य विलोकितं तेषां भविष्यम् । विमनायमानेन यक्षेशेन प्रत्युत्तरितं तत्कालम्—"इभ्यवर ! व्रीडितोऽहं भवामि वरं अर्पयितुम् । शृणु, भविष्यति ते पुत्रो लक्ष्मी-प्रणाशेन सार्धम् । त्यक्तव्यं युवाभ्यामपि इदं पुरगृहादिकम् । पुत्रोऽपि वृद्धिं लप्स्यते पर-हस्तगतः । किं अर्पयामि वरम् ?"

यथा—

सयराहं नवरि य दुत्ति झत्ति सहसत्ति इक्कसरिअं च ।
अविहाविअं इक्कवए अतक्किअं तक्खणं सहसा ।

—(पाइयलच्छी० १७)

४ प्ररुदितवदनया ५ नअण णाइं नञर्थे (हे० २-१९१) ६ उदीर्णानि ७ वृद्धं ८ शुभोदर्कोण ९ अकथनीया १० वृन्दारकाः—देवाः ११ व्रीडितः—लज्जितः १२ अर्पयितुम् १३ अर्पयामि ।

हरिस[1]-वस-विसप्पमाणहिअया उम्मिसिअ[2]-वयणार-विंदा भाणुमई पइणो पुव्वमेव साहेउं पउत्ता—"अहिणंदण, अहिणंदणा मे वरस्स। अणुगाहेउ जक्खणाह ! लच्छी-विणिमयेण लब्भामो जइ अम्हे कुलभक्खरस्स दरिसणं। ण एत्थ वीमसणिज्जं किंचि वि। पुत्तविहूणाण विच्छुंभइ[3] पडिवल हिअय। पुत्त दट्ठूण सव्व त दरिद्द-जणिअ दुक्ख विम्हरिअ[4] भविस्सइ। तम्हा देव ! कुणउ किव। तक्काल किवालुणा जक्खेण तहत्थु 'त्ति पणामिअ वरं। पजलिउडेहि ठियं जपईहिं। अतद्ध[5] पत्त तक्खणं जक्खजुअल।

अइक्कतो कोइ कालो। ससत्ता[6] जाया भाणुमई। उव्वेल्लिओ[7] जाओ हरिस-पारावारो। गुव्विणी सेट्ठिणि 'त्ति सव्वेहि तक्कुअ-जणेहि[8] णाय मागद। किंतु चिर-संचिआ विभूई अणुदिण पलाएउ पउत्ता। एगओ आय-ण्णिज्जइ ज विविह-महग्घ-विक्केज्ज-भरिआ तरणी मज्झे-समुद्द बुड्डा। परओ संदेसो पत्तो ज कत्थइ गोहूमाईण धण्णाण महाभंडायार अकम्हा अग्गिणा डज्झ। अण्णओ-दक्खिण-देसाओ पउत्ती लद्धा ज अमुगो पमुहो वाणोत्तरो[9] गम्भ सपय घेत्तूण पलाइओ। इओ वावारेसु वि सव्वेसि वत्थूण भावा मंदत्तण गया। छसु मासेसु सिट्ठी समंतओ दालिद्देण पराहूओ। कम्मगरा भिच्चा वाणिज्जिआ[11] चिरपरिचिआ वि सेट्ठि मोत्तूण परसंतिआ[12] भूआ। तहेव मित्ता[13] सयणा दायदा सहयरा वि विमुहीभूआ।

---

१ हर्षवश-विसर्पद्हृदया २ उन्मिषितवदनारविन्दा ३ विशुम्भति ४ विस्मृत। यथा —'पम्हुट्ठ विम्हरिय' (पाइयलच्छी ५५०) ५ अन्तर्धा ६ गमन्वा-

हर्षवश-विसर्पद्-हृदया उन्मिषित-वदनारविन्दा भानुमती पत्युः-पूर्वमेव कथयितुं प्रवृत्ता—"अभिनन्दनम् ! अभिनन्दनम् ! भवतो वरस्य, अनुगृह्णातु ! अनुगृह्णातु ! यक्षनाथ ! लक्ष्मी विनिमयेन लभामहे यदि वयं कुल-भास्करस्यदर्शनम्। न अत्र विमर्शनीयं किञ्चिदपि। पुत्रविहीनानां विक्षुभ्यति प्रतिपलं हृदयम्। पुत्रं दृष्ट्वा सर्वं तद् दारिद्र्य-जनितं दुःखं विस्मृतं भविष्यति। तस्माद् देव ! करोतु कृपाम्।" तत्कालं कृपालुना यक्षेण 'तथास्तु' इति अर्पितं वरम्। प्राञ्जलिपुटाभ्यां स्थितं दम्पतीभ्याम्। अन्तर्धां प्राप्तं तत्क्षणं यक्षयुगलम्।

व्यतिक्रान्तः कोऽपि कालः। ससत्त्वा जाता भानुमती। उद्वेलितो जातो हर्ष-पारावारः। 'गुर्विणी श्रेष्ठिनी' इति सर्वैः तक्कुअजनैः (स्वजनजनैः) ज्ञातं सानन्दम्। किन्तु चिरसंचिता विभूतिः अनुदिनं पलायितुं प्रवृत्ता। एकतः आकर्ण्यते यत् विविध-महार्घ्य-विक्रेय-भरिता तरणी मध्ये समुद्रं त्रुडिता। परतः सन्देशः प्राप्तो यत् कुत्रापि गोधूमादीनां धान्यानां महाभाण्डागारं अकस्मात् अग्निना दग्धम्। अन्यतः दविष्ठ-देशतः प्रवृत्तिः लब्धा यत् अमुकः प्रमुखः वाणोत्तरो गुर्वीं सम्पदं गृहीत्वा पलायितः। इतः व्यापारेष्वपि सर्वेषां वस्तूनां भावाः मन्दत्वं गताः। षट्सु मासेषु श्रेष्ठी समन्ततः दारिद्र्येण पराभूतः। कर्मकराः भृत्याः वाणिजिकाः, चिरपरिचिता अपि श्रेष्ठिनं मुक्त्वा परसत्काःभूताः। तथैव मित्राणि, स्वजनाः, दायादाः, सहचराः अपि विमुखीभूताः। स्थावरा जङ्गमा अपि च

सगर्भा ७ उद्वेलितः ८ तक्कुअजनः-स्वजनः (देशीयः) ९ आकर्ण्यते १० वाणोत्तरः —देशीय-शब्दः 'गुमास्ता' इतिभाषा ११ वाणिज्यकराः १२ परसत्काः-परकीया इत्यर्थः १३ पुं० नं० यथा—मित्तो, सही, वयंसो (पाइयलच्छी १९१)

थावरा जंगमा वि य तत्थगया सपया उत्तमण्णेहि[1] अहिकया। भूमि-गयं दविणमवि अदिट्ठं केणावि अवहडं। एत्तिएण जिणदत्तो थेवसमयम्मि वि णिस्सो[2] जाओ। सेट्ठिणा चिंतिअं-हरे! किमेअं जायं! केरिच्छा वंस-परंपरा-संचिआ सिरिआ अब्भविलायं विलीणा! विचित्त विहिणो विलसिअं! भूमिगो वि अलक्खिआ वासरा पच्चक्ख समोइण्णा। अईव पच्चभिण्णाया[3] सिणेहिणो वि विगलिअ-सोहद्दा संवुत्ता।

धी धी! सत्थपरा जगस्सपीई! को कस्स त्ति ण साहेउं सक्कं। तहावि केरिसं ममत्तं? विचित्ता मुच्छा। अवागरणिज्जा आसत्ती। अहो वड्डखेड्डमेयं[4]! जे मज्झ सयासाओ अच्चंत-लहूभूआ तुच्छा अकिंचणा गुरुत्तरं गया, जावज्जीवं णो मे उवयारं पम्हुस्सामु' त्ति वयमाणा संता एत्ताहे सव्वे वि विमुहा विदूरगा जाया। नूण ण कस्सइ दोसो, भविअव्वयाए चावल्लमिणमो। अहवा ण आइट्ठं किं पुव्वमेव जक्ख-पुंगवेण? ता अलमेत्थ चिंताए। तितिक्खामो पत्तआलं[5] विवयं। कराकड्ढिअं[6] कट्ठं कहमण्णहा भविस्सइ!

समागओ सत्तमो मासो गुव्विणीए भज्जाए। पइदिणं लद्धाज्मुह[7]-उअतेण वुण्णावि[8] सा गब्भगयं तेअं पेच्छमाणी अंतो सुहमणुहवइ। एगया समयण्णुआए भाणुमईए पइदेवं पइ णिवेइअं—अज्जउत्त! पयट्टिज्जइ[9] मे गब्भस्स सत्तमेण मासेण। किं णाइ अहिगमिज्जई[10] भवया पुत्तणिमित्तं किंपि अणुट्ठाणं? केरिसो अम्हकेरा[11] णयरम्मि पइट्ठा? पढमिल्ले

१ उत्तमर्ण-दायकैः २ निःस्व-निर्धन ३ प्रत्यभिज्ञाता ४ महत्कौतुकमिदम्

तत्रगता सम्पद् उत्तमर्णैः अधिकृता । भूमिगतं द्रविणमपि अदृष्टं केनापि अपहृतम् । एतावता जिनदत्तः स्तोक-समयेऽपि निस्वो जातः । श्रेष्ठिना चिन्तितम्—"हरे ! किमेतद् जातम् ? कीदृक्षा वंशपरम्परा-रञ्चिता श्रीः अभ्रविलायं विलीना । विचित्रं विधेर्विलसितम् । स्वप्नेऽपि अलक्षिताः वासराः प्रत्यक्षं समवतीर्णाः । अतीव प्रत्यभिज्ञाताः स्नेहिनोऽपि विगलित-सौहार्दाः संवृत्ताः ।"

धिग् । धिग् । स्वार्थपरा जगतः प्रीतिः । कः कस्य इति न कथयितुं शक्यम् । तथापि कीदृशं ममत्वम् ? विचित्रा मूर्च्छा ! अव्याकर्त्तव्या आसक्तिः ! अहो ! वड्डखेड्डं (महत्कौतुकं) एतत् । ये मम सकाशात् अत्यन्तलघुभूताः, तुच्छाः, अकिंचनाः गुरुत्वं गताः । "यावज्जीवं न भवतः उपकारं विस्मरिष्यामः" इति वदन्तः सन्तः अधुना सर्वेऽपि विमुखा विदूरगाः जाताः । नूनं न कस्यापि दोषः, भवितव्यतायाः चापल्यमिदम् । अथवा न आदिष्टं किं पूर्वमेव यक्षपुङ्गवेन ? तस्मात् अलमत्र चिन्तया । तितिक्षामहे प्राप्तकालं विपदम् । काराकृष्टं कष्टं कथं अन्यथा भविष्यति ?

समागतः सप्तमो मासो गुर्विण्याः भार्यायाः । प्रतिदिनं लब्धाऽशुभोदन्तेन उत्रस्तापि सा गर्भगतं तेजः प्रेक्षमाणा अन्तः सुखमनुभवति । एकदा समयज्ञया भानुमत्या पतिदेवं प्रतिनिवेदितम् "आर्यपुत्र ! प्रवर्त्यते मे गर्भस्य सप्तमेन मासेन, किं न अधिगम्यते भवता पुत्र-निमित्तं किमपि अनुष्ठानम् ? कीदृशी अस्मदीया नगरे प्रतिष्ठा ?

वड्डखेड्डमिति, देशीयः शब्द : ५ प्राप्तकालं ६ कराकृष्टम् ७ लब्धाऽशुभोदन्तेन ८ भृशा-उत्त्रस्ता ९ प्रवर्त्यते १० अधिगम्यते ११ अस्मदीयः ।

अवसरम्मि साहारणा अवि जणा जहारिहं किमवि काउं पयासेंति । भवं तु लद्धपइट्ठो राइणावि परमसम्माणणिज्जो वट्टइ, कह णो परिलक्खिज्जइ सामइय पइट्ठाणुरूवं किच्चं ?

अज्झत्थचिंतामिलाणेण सेट्ठिणा भणियं—पिआ ! सामाइय सत्तमासिअं 'आघरणि'[1] त्ति णामग किच्च ण मए अलक्खिअं । पइट्ठाणुरूवं सव्व साहुं करेमि'त्ति अहिलसइ मे उच्छुओ मणो । पर विहवेण विणा सव्वाओ दिसाओ सुण्णाओ । तव्वइरित्तो केरिसो महूसवो ! हा ! सच्चा हु एसा जणस्सुइ ज "दरिद्दसमो पराभवो णत्थि" हन्त ! किं करेमि ? कत्थ वच्चेमि ? विहिए वि पयत्ते कस्स वि सगासाओ ण पत्त हवइ उद्धाररूवंपि धणं । सयणा तु संकहमवि ण कुणंति । चिरपरिचिआ खु मित्ता अच्छिमेलणमवि कुणेता वीलन्ति । किमिवि जायहिइ त्ति संकता दूरओ पलायंति ।

दारिद्द-दुक्खिअं पइदेवं पेक्खिऊण समय-दक्खा[2] भाणुमईए भणिअ—णाह ! ईइसो एस संसारो । सत्थपरायणा एत्थ कसिणावि पउत्ती । अणुऊलम्मि दिव्वम्मि सव्वे परक्का णिआएंति । पडिऊलम्मि सगा अवि हुवेज्जा पारकेरा । हद्दी ! विविरीयम्मि विहिम्मि अंगलग्गाणि वत्थाणि वि पडिवक्खत्तणं पडिवज्जेति । तहवि ण णेअव्वा दीणभावणा, ण छिंदणिज्जा आसा-रज्जू, ण हायव्वो य पयत्तो । हवेज्ज पयत्त-जल-अब्भुक्खिआ कयाइ फलीहूआ आसावल्ली । तक्केमि अहय जहा मम्मणो णाम इब्भो

1 आघरणी-माधपुराई-गर्भवती के सातवें महीने का महोत्सव 2 सत्था-

प्राथमिके अवसरे साधारणा अपि जनाः यथार्हं किमपि कर्त्तुं प्रयस्यन्ति । भवान् तु लब्धप्रतिष्ठः राज्ञाऽपि परमसम्माननीयः वर्तते, कथं नो परिलक्ष्यते सामयिकं प्रतिष्ठानुरूपं कृत्यम् ?

अध्यात्म-चिन्ताम्लानेन श्रेष्ठिना भणितम्—प्रिये ! सामयिकं सप्तमासिकं 'आघरणी' इति नामकं कृत्यं न मया अलक्षितम् । 'प्रतिष्ठानुरूपं सर्वं साधु करोमि' इति अभिलषति मे उत्सुकं मनः । परं विभवेन विना सर्वाःदिशःशून्याः । तद्व्यतिरिक्तः कीदृशो महोत्सवः ? हा ! सत्या खलु एषा जनश्रुतिः यत् "दारिद्र्यसमः पराभवो नास्ति" हन्त ! किं करोमि ? कुत्र व्रजामि ? विहितेऽपि प्रयत्ने कस्यापि सकाशात् न प्राप्तं भवति उद्धाररूपमपि धनम् । स्वजनाः तु संकथामपि न कुर्वन्ति ? चिरपरिचितानि खलु मित्राणि अक्षिमेलनमपि कुर्वन्तः व्रीडन्ति । 'किमपि याचिष्यते' इति शङ्कमानाः दूरतः पलायन्ते ।

दारिद्र्य-दुःखितं पतिदेवं प्रेक्ष्य समय-दक्षया भानुमत्या भणितम्—"नाथ ! ईदृशः एष संसारः । स्वार्थ-परायणा अत्र कृत्स्नापि प्रवृत्तिः । अनुकूले दैवे सर्वे परकीयाः निजायन्ते । प्रतिकूले स्वकाः अपि भवेयुः परकीयाः । हद्धी (हा धिक्) विपरीते विधौ अङ्गलग्नानि वस्त्राणि अपि प्रतिपक्षत्वं प्रतिपद्यन्ते । तथापि न नेतव्या हीनभावना, न छेदनीया आशारज्जुः, न हातव्यश्च प्रयत्नः । भवेत् प्रयत्न-जलाभ्युक्षिता कदापि फलीभूता आशावल्ली । तर्कयामि अहं यथा मन्मनो

मपि-'आपसी बातचीत' ३ निजायन्ते ४ स्वकाः ५ प्रतिपक्षत्वम् ६ प्रयत्नजलाभ्युक्षित ।—निषिक्ता इत्यर्थः ।

तुम्ह परम-पीइमंतो बाल-सहयरो। आवडिए एआरिसे विवया-समये भवेज्ज सहायगो कयाइ। एगहुत्तं[1] पुणो तस्स परिक्खा कायव्वा मह कहणेण।

मम्मणस्स किलिट्ठ-किवणिमाए पच्चभिण्णाओ वि सेट्ठी वोसत्थभज्जाए पुणो पुणो पेरिओ तग्गेह[2]-हुत्तं गंतुमणो जाओ। मग्गे गच्छंतो जहा-जहा समीवयइ[3] तस्स दढमुट्ठिणो घरं तहा-तहा उव्विग्गं जायइ अंतोकरणं। छि छि! जीवसि तुमं जिणदत्त! अहमाहमं जायग-भावं उररी-कुणमाणो! किं ण जायणाओ-मरणं पवित्तं? तुराए चल-माणा सेट्ठिणो चलणा तत्थेव थंभिआ जाया। धीरमालं[4]-बिऊण पुणो विचिंतेइ—अलमलं णेण आउलत्तणेण। णूणं पुरिसआर-जेयं[5] सव्वदुक्खं'ति विभावेमाणो पुणो अग्गओ चलिओ। इत्थ विसाइअंतक्करणो[6] कहकहमवि पत्तो मम्मण-सेट्ठिणो हम्मियं[7]।

विमण्ण-वयणं आगच्छंतं जिणदत्तं णिभालिअ मम्मणो विम्हिओ जाओ। लक्खणं उट्ठिऊण ससंभमं अहिमुहं गओ। 'सागयं' ति वयमाणो आसण-दाणेण संतोसिओ। 'किं मागमणकारणं' इअ पीसकं पुच्छिओ। महुर-वयणेहिं पुण समासासिओ।

विअलिअ-हियएणावि जिणदत्तेण पाउक्कया मणो-वेअणा। मित्तवर! किं कहेमि अकहणिज्जं वइयरं। आव-डिओम्हि भीसणे विवयाजाले। विहिआ विविहा पयत्ता विहलीहूआ। अंतम्मि बालसहयरं तुमं आसाए आलयणं

---

१ एकवारम् २ मम्मनगृहाऽभिमुखम् ३ समीपयति ४ दृढमुष्टे —कृपणस्य

नाम इभ्यो युष्माकं परमप्रीतिमान् बालसहचरः। आपतिते एतादृशे विपत्-समये भवेत् सहायकः कदाचित्। एकवारं पुनः तस्य परीक्षा कर्त्तव्या मम कथनेन।"

मन्मनस्य विलष्ट-कृपणतया प्रत्यभिज्ञातोऽपि श्रेष्ठी विश्वस्त-भार्यया पुनः पुनः प्रेरितः तद्गृहाभिमुखं गन्तुमनाः जातः। मार्गे गच्छन् यथा यथा समीपयति तस्य दृढमुष्ठेः गृहं तथा तथा उद्विग्नं जायते अन्तःकरणम्। (छि ! छि !) (धिग् ! धिग् !) जीवसि त्वं जिनदत्तः ! अधमाधमं याचकभावं उररीकुर्वन् ? किं न याचनातः मरणं पवित्रम् ? त्वरया चलन्तौ श्रेष्ठिनश्चलनौः तत्रैव स्तम्भितौ जातौ। धैर्यमालम्ब्य पुनः विचिन्तयति—अलमलं अनेन आकुलत्वेन। नूनं पुरुषकारजेयं सर्वं दुःखम्, इति विभावयन् पुनः अग्रतः चलितः। इत्थं विषादितान्तकरणः कथं कथमपि प्राप्तः मन्मनश्रेष्ठिनः हर्म्यम्।

विषण्णवदनं आगच्छन्तं जिनदत्तं निभाल्य मन्मनो विस्मितो जातः। तत्क्षणं उत्थाय ससम्भ्रमं अभिमुखं गतः। 'स्वागतम्' इति वदन् आसनदानेन सन्तोषितः। 'किं आगमनकारणम्' इति निस्संकं पृष्टः। मधुरवचनैः पुनः समाश्वासितः।

विचलित-हृदयेनापि जिनदत्तेन प्रादुष्कृता मनोवेदना। मित्रवर ! किं कथयामि अकथनीयं व्यतिकरम्। आपतितोऽस्मि भीषणे विपज्जाले। विहिता विविधाः प्रयत्नाः विफलीभूताः। अन्ते बालसहचरं

---

५ धीरं-धैर्यम् 'इद्धैर्ये' (हे० १-१५५) ६ पुरुषकारजेयम्-पौरुषजेयमित्यर्थः ७ विषादितान्तकरणः ८ हम्मिअं-देशीयः-हर्म्यमित्यर्थः।

जाणिअ एत्थ आगओ। करीयउ[1] सामग्गिअ साहेज्ज किंचि। जहा मे आवण्ण[2]-सत्ताए भज्जाए सत्तमासिओ गब्भ-महूसओ सुसपन्नो हवेज्जा। तएजारिसाणं[3] काए ण किमवि दुक्करं। सहि! को पविसइ कस्स वि देहली-देसं गाढकारणं विणा जाएउ। एवं वयंतो सेट्ठी वाह[4]-जलाउल-लोअणो जाओ।

सुणिआण[5] जिणदत्तस्स पत्थणं किंत्रिणमणो मम्मणो विआर-णिमग्गो जाओ। किं पडिवयणं दायव्वं 'ति वीमं-सणपरो संवुत्तो। 'आहारम्मि ववहारम्मि य चत्तलज्जेण होअव्वं'ति चिंतिऊण मत्थअं धुणमाणो मम्मणो वयासो-मित्त! णिवडिओ म्हि अपेच्छिज्जमाण[10]-नीसरणमग्गे चिंताजाले। एगओ मे अज्जपभिइ पालिअमदाणव्वयं, अण्णओ परमसहयरस्स सामइय पत्थणा। किं करेमि, कहिं वच्चेमि त्ति ण णिण्णेइ मे मुज्झमाणं माणसं। जाणामि अहमवि विवय-वसवयाणं ठिइ, तहावि असमत्थोम्हि सिणिद्ध! अस्सि विसयम्मि किंपि काउं।

तवा-विणयकंधरो जिणदत्तो पुणरवि भणइ-भायर! णाहं दाणरूवं धणं इच्छेमि, किंतु उद्धाररूवेण। जइ दाउ-मिच्छसि तरहिं दरिससु उआरभावणं।

पगइ-महालुद्धो मम्मणो आयइ-पावणिज्ज धणं सकेतो पुणरवि साहेउं लग्गो-''बंधुवर! किमवरं भणीयइ[11], वत्थु-विणिमयेण विणा किमवि दाउं अक्खमो म्हि अहं। वत्थु-

---

१ क्रियताम् २ आपन्नसत्त्वाया—गर्भवत्या ३ त्वादृशानाम् ४ बाष्प-जलाकुललोचन। बाष्पे होष्पणि (हे० २.७०) ५ श्रुत्वा 'क्त्वस्तुमत्तूणतुआणा' (हे० २-१४६) एते क्त्वा प्रत्ययस्यादेशा. तुआणस्य रूपमिदम् १० अप्रेक्ष्यमाण

त्वां आशायाः आलम्बनं ज्ञात्वा अत्र आगतः। क्रियतां सामयिकं साहाय्यं किञ्चित्। यथा मे आपन्नसत्वायाः भार्यायाः सप्तमासिकः गर्भमहोत्सवः सुसम्पन्नः भवेत्। त्वादृशानां कृते न किमपि दुष्करम्। सखे ! कः प्रविशति कस्यापि देहलीदेशं गाढकारणं विना याचितुम्। एवं वदन् श्रेष्ठी वाष्प-जलाकुल-लोचनो जातः।

श्रुत्वा जिनदत्तस्य प्रार्थनं कृपणमनाः मन्मनो विचार-निमग्नः जातः। 'किं प्रतिवचनं दातव्यं' इति विमर्शनपरः संवृत्तः। 'आहारे व्यवहारे च व्यक्तलज्जेन भवितव्यं' इति चिन्तयित्वा मस्तकं धुन्वन् मन्मनः अवादीत्—"मित्र ! निपतितोऽस्मि अप्रेक्ष्यमाण—निःसरण-मार्गे चिन्ताजाले। एकतः मे अद्यप्रभृति पालितं अदानव्रतम्, अन्यतः परम-सहचरस्य सामयिकं प्रार्थनम्। 'किं करोमि ? कुत्र व्रजामि ?' इति न निर्णयति मे मुह्यत् मानसम्। जानामि अहमपि विपद्-वशं-वदानां स्थितिं, तथापि असमर्थोऽस्मि स्निग्ध ! अस्मिन् विषये किमपि कर्त्तुम्।"

त्रपा-विनत-कन्धरः जिनदत्तः पुनरपि भणति—"भ्रातः ! नाहं दानरूपं धनं इच्छामि, किन्तु उद्धार-रूपेण यदि दातुं इच्छसि तर्हि दर्शय उदार-भावनाम्।"

प्रकृति-महालुब्धो मन्मनः आयति-प्रापणीयं धनं शङ्कमानः पुनरपि कथयितुं लग्नः—"बन्धुवर ! किमपरं भण्यते, वस्तुविनिमयेन विना किमपि दातुं अक्षमोऽस्मि अहम्। वस्तु-परावर्तन यद किमपि

-निःसरणमार्गे ७ निर्णयति ८ स्निग्ध ! मित्रमित्यर्थः ९ त्रपाविनतकन्धरः १० भ्रातः ! 'नाम्न्यरं वा (हे० ३-४०) इति सम्बोधने वाऽरम्, यथा—हे पिअरं ! हे पिअ ! ११ भण्यते।

जाणिअ एत्थ आगओ। करीयउ[1] सामथिग्र साहेज्जं किंचि। जहा मे आवण्ण[2]-सत्ताए भज्जाए सत्तमासिओ गब्भ-महूसओ सुसपन्नो हवेज्जा। तएजारिसाण[3] कए ण किमवि दुक्कर। सहि! को पविसइ कस्स वि देहली-देसं गाढकारण विणा जाएउ। एव वयतो सेट्ठी वाह[4]-जलाउल-लोअणो जाओ।

सुणिआण[5] जिणदत्तस्स पत्थण किविणमणो मम्मणो विआर-णिमग्गो जाओ। किं पडिवयण दायव्व 'ति वीम-सणपरो सवुत्तो। 'आहारम्मि ववहारम्मि य चत्तलज्जेण होअव्व'ति चिंतिऊण मत्थग्र धुणमाणो मम्मणो वयासी-मित्त! णिबद्धिओ म्हि अपेक्खिज्जमाण[6]-नीसरणमग्गे चिंताजाले। एगओ मे अज्जपभिइ पालिअमक्खणव्वय, अण्णओ परमसहयरस्स सामइय पत्थणं 'किं करेमि, कहिं वच्चेमि'त्ति ण णिण्णेइ[7] मे मुज्झमाण माणसं। जाणामि अहमवि विवय-वसवयाण ठिइ, तहावि असमत्थोम्हि सिणिद्ध[8]! अस्सि विसयम्मि किपि काउ।

तवा-विणयकधरो[9] जिणदत्तो पुणरवि भणइ-भायर[10]! णाहं दाणरूव धण इच्छेमि, किंतु उद्धाररूवेण। जइ दाउ-मिच्छसि तरिहि दरिससु उआरभावणं।

पगइ-महालुद्धो मम्मणो आयइ-पावणिज्जं धण सकेतो पुणरवि साहेउं लग्गो-"बधुवर! किमवरं भणीयइ[11], वत्थु-विणिमयेण विणा किमवि दाउ अक्खमो म्हि अहं। वत्थु-

१ क्रियताम् २ आपन्नसत्वाया —गर्भवत्या ३ त्वादृशानाम् ४ वाष्प-जलाकुललोचन। वाष्पे होऽश्रुणि (है० २७०) ५ श्रुत्वा 'क्त्वस्तुमत्तूणतुआणा' (है० २-१४६) एते क्त्वा प्रत्ययस्यादेशाः तुआणस्य रूपमिदम् १० अप्रेक्ष्यमाण

त्वां आशायाः आलम्वनं ज्ञात्वा अत्र आगतः। क्रियतां सामयिकं साहाय्यं किञ्चित्। यथा मे आपन्नसत्वायाः भार्यायाः सप्तमासिकः गर्भमहोत्सवः सुसम्पन्नः भवेत्। त्वादृशानां कृते न किमपि दुष्करम्। सखे! कः प्रविशति कस्यापि देहलीदेशं गाढकारणं विना याचितुम्। एवं वदन् श्रेष्ठी वाष्प-जलाकुल-लोचनो जातः।

श्रुत्वा जिनदत्तस्य प्रार्थनं कृपणमनाः मन्मनो विचार-निमग्नः जातः। 'किं प्रतिवचनं दातव्यं' इति विमर्शनपरः संवृत्तः। 'आहारे व्यवहारे च व्यक्तलज्जेन भवितव्यं' इति चिन्तयित्वा मस्तकं धुन्वन् मन्मनः अवादीत्—"मित्र! निपतितोऽस्मि अप्रेक्ष्यमाण—निःसरण-मार्गे चिन्ताजाले। एकतः मे अद्यप्रभृति पालितं अदानव्रतम्, अन्यतः परम-सहचरस्य सामयिकं प्रार्थनम्। 'किं करोमि? कुत्र व्रजामि?' इति न निर्णयति मे मुह्यत् मानसम्। जानामि अहमपि विपद्-वशं-वदानां स्थितिं, तथापि असमर्थोऽस्मि स्निग्ध! अस्मिन् विषये किमपि कर्त्तुम्।"

त्रपा-विनत-कन्धरः जिनदत्तः पुनरपि भणति—"भ्रातः! नाहं दानरूपं धनं इच्छामि, किन्तु उद्धार-रूपेण यदि दातुं इच्छसि तर्हि दर्शय उदार-भावनाम्।"

प्रकृति-महालुब्धो मन्मनः आयति-प्रापणीयं धनं शङ्कमानः पुनरपि कथयितुं लग्नः—"बन्धुवर! किमपरं भण्यते, वस्तुविनिमयेन विना किमपि दातुं अक्षमोऽस्मि अहम्। वस्तु-परावर्तन यद किमपि

-निःसरणमार्गे ७ निर्णयति ८ स्निग्ध! मित्रमित्यर्थः ९ त्रपाविनतकन्धरः १० भ्रातः! 'नाम्न्यरं वा (हे० ३-४०) इति सम्बोधने वाऽरम्, यथा—हे पिअरं! हे पिअ! ११ भण्यते।

परावत्तेण ज किमवि जहारिह गहेउ सक्केइ भवंतो। हंत! एआरिसी विज्जइ मे जीवण-संगिणी पइण्णा।

मिलाणीहूअ-वयण-कमलेण जिणदत्तेण भणिअं–"अरे! रक्खणारिह[1] जइ भवेज्ज वत्थुजायं तयाणि तव्विणिमयेण संति सय दायारा इमीए णयरीए। इणमेव महाकट्ठं ज णत्थि किमवि तारिस वत्थुं। भाय! तओ किंचि पुणरवि दत्तावहाणो होहि।"

"अणुवायो म्हि अहमेत्थ, किं बहुणा। हवइ मह पइण्णा-भंगो। ता वच्चउ अण्णत्थ जहासुहं, संति अणेगे उआरमाणसा धणिणो णयरम्मि" फुडं वज्जरिअं[2] वज्जकढोरेण मम्मणेण।

कत्थ परत्थ गंतव्वं'ति चिंतापरो सेट्ठी अंतम्मि गब्भ-गय-पुत्त-विणिमयेण दविणं गिण्हेमि'त्ति कयविणिच्छयो जाओ। किंचि वीमंसिऊण जिणदत्तेण दीह-णीसासेण सद्धिं पयडीकय–"सहो[3]! जइ ण इच्छसि विणिमयेण विणा किमवि दाउं, तया मम भारियाए गब्भं रक्खिऊण दायव्व जहारिहं धणं।"

आयण्णिअ जिणदत्तस्स भणिइं तक्काल ससम्भयं[4] समओ मम्मणो। साहु णिण्णीअं सहयरेण। अवच्च-विणिमयेण जं किंपि इच्छेसि तं गहसु, अविलंबिअं दाउमणो म्हि।

तक्खणं जाओ एगो पइण्णा-लेहो[5]। जहा "जम्मणंतरं पुत्तो मम्मणगिहम्मि पुत्तरूवेण वुड्ढिं लहिस्सइ। विणिवुत्त-बालभावो कय-मुट्ठु-विज्जाज्झयणो जया हवेज्जा तयाणि मम्मण-सेट्ठिणा सो धणमज्जेउं पवासम्मि पट्ठाविअव्वो[6]।

यथार्हं गृहीतुं शक्नोति भवान्। हन्त ! एतादृशी विद्यते मे जीवन-सङ्गिनी प्रतिज्ञा।"

म्लानीभूत-वदन-कमलेन जिनदत्तेन भणितम्—"अरे ! रक्षणार्हं यदि भवेत् वस्तुजातं तदानीं तद्विनिमयेन सन्ति शतं दातारः अस्यां नगर्याम्। इदमेव महत्कष्टं यत् नास्ति किमपि तादृशं वस्तु। भ्रातः ! ततः किञ्चित् पुनरपि दत्तावधानो भव।"

"अनुपायोऽस्मि अहमत्र, किं बहुना ! भवति मम प्रतिज्ञा-भङ्गः। तस्माद् व्रजतु अन्यत्र यथासुखम्, सन्ति अनेके उदारमानसाः धनिनो नगरे"—स्फुटं कथितं वज्रकठोरेण मन्मनेन।

'कुत्र परत्र गन्तव्यं'—इति चिन्तापरः श्रेष्ठी अन्ते गर्भगतपुत्र-विनिमयेन द्रविणं गृण्हामीति कृतनिश्चयो जातः। किञ्चिद् विमृश्य जिनदत्तेन दीर्घनिःश्वासेन सार्धं प्रकटीकृतम्—"सखे ! यदि न इच्छसि विनिमयेन विना किमपि दातुं तदा मम भार्याया गर्भं रक्षित्वा दातव्यं यथार्हं धनम्।"

आकर्ण्य जिनदत्तस्य भणितिं तत्कालं ससम्मदं सम्मतो मन्मनः। साधु निर्णीतं सहचरेण। अपत्य-विनिमयेन यत् किमपि इच्छसि तद् गृहाण, अविलम्बितं दातुमना अस्मि।

तत्क्षणं जातः एकः प्रतिज्ञालेखः, यथा—"जन्मानन्तरं पुत्रो मन्मन-गृहे पुत्ररूपेण वृद्धिं लप्स्यते। विनिवृत्त-बालभावः कृतसुष्ठु-विद्याध्य-यनो यदा भवेत् तदानीं मन्मनश्रेष्ठिना स धनं अर्जयितुं प्रवासे

---

१ रक्षणार्हं २ वज्जरिअं—कथितम्, यथा—वज्जरिअ-सिद्ध-सूइय-उप्फा-लिय-पिसुणियाइं साहिअयं (पाइयलच्छी १४५)। ३ सखे ! ४ सहर्षं ५ प्रतिज्ञा-लेखः ६ प्रेषणीयः।

जया सो तत्थ धणमज्जेऊण णिअ पुर पडिचलिओ संतो सवुड्ढिअं गहिअं धणं पच्चप्पिऊण[1] णिअ पेइअ[2] गिह गतुमरिहो भविस्सइ" एआरिसो उभयसमओ लेहो पंच-पयरप्पमुहाण हत्थक्खरेहिं सच्चविओ[3] गहिओ जिणदत्तेण मम्मणेण य। तव्विणिमयेण[4] पत्त जिणदत्तेण दीनार-सहस्स।

इओ य चिर पडिवालेइ[5] पइ-प्पवेसं अत्थचिंतासंतत्ता भाणुमई। कह णाइ समागया अज्जउत्ता दविणं गहेऊण? किं फुण्णा[6] दारिद्देण अम्हकए[7] सव्वावि वसुंधरा? किं सव्वेहिं विसंभरिआ कयण्णुआ? समेहिं सहयरेहिं अवि पामुक्का[8] अच्छि-लज्जावि?

तक्खण मिलाण-वयणारविंदा सणिअं सणिअ भवण पविसमाणा पइदेवा दिट्ठीपहमोइण्णा मग्गं पेच्छतीए ताए। झत्ति समुहमागच्छंतीए णाए किं भूअ'ति अदिहिमंताए[9] पुच्छिअ।

विहिअ-अकरणिज्ज-कज्जेण बाहिज्जमाणो[10] सेट्ठी लुण्ठिक्को[11] जाओ। मह विहिअ किच्चं माइहिअया भज्जा अणुजाणहिइ[12] ण व 'त्ति संकाउलो जाओ। एत्थंतरम्मि पइणा जहाकयं कज्जं पियाए पुरओ जहातहं पाउक्कयं, पच्च-प्पिअं पुण दीणार-सहस्सं। अवसरण्णू विणयसहावा भाणुमई 'अज्जउत्ता पमाणं'ति वयमाणा मोणावलंबिणी जाया।

इअ सिरिचंदणमुणि-विरइआए-पुत्त-पत्थण-जक्खदंसण-इड्ढिक्खयाइ-भावसंजुत्ताए रयणवालकहाए पढमो ऊसासो समत्तो ॥१॥

प्रस्थापितव्यः । यदा स तत्र धनं अर्जयित्वा निजं पुरं प्रत्यावलितः सन् सवृद्धिकं गृहीतं धनं प्रत्यर्प्य निजं पैतृकं गृहं गन्तुमर्हो भविष्यति ।" एतादृशः उभय-सम्मतः लेखः पञ्च-नगर-प्रमुखाणां हस्ताक्षरैः सत्यापितो गृहीतो जिनदत्तेन मन्मनेन च । तद्-विनिमयेन प्राप्तं-जिनदत्तेन दीनार-सहस्रम् ।

इतश्च चिरं प्रतिपालयति पति-प्रवेशं अर्थ-चिन्ता-संतप्ता भानुमती । कथं न समागताः आर्यपुत्राः द्रविणं गृहीत्वा ? किं स्पृष्टा दारिद्रयेण अस्मत्कृते सर्वापि वसुन्धरा ? किं सर्वैः विस्मृता कृतज्ञता ? समैः सहचरैः अपि प्रमुक्ता अक्षिलज्जापि ?

तत्क्षणं म्लान-वदनारविन्दा शनैः शनैः भवनं प्रविशन्तः पतिदेवाः दृष्टिपथमवतीर्णाः मार्ग प्रेक्षमाणायाः तस्याः । झगिति सम्मुखं आगच्छन्त्या तया 'किं भूतं' इति अधृतिमत्याः पृष्ठम् ।

विहिताकरणीय-कार्येण वाध्यमानः श्रेष्ठी तूष्णीको जातः । 'मम विहितं कृत्यं मातृहृदया भार्या अनुज्ञास्यति न वा' इति शङ्काकुलो जातः । अत्रान्तरे पत्या यथाकृतं कार्यं प्रियायाः पुरतः यथातथं प्रादुष्कृतं, प्रत्यर्पितं पुनः दीनार-सहस्रम् । अवसरज्ञा विनयस्वभावा भानुमती 'आर्यपुत्राः प्रमाणम्' इति वदन्ती मौनावलम्बिनी जाता ।

इति श्रीचन्दनमुनि-विरचितायां पुत्रप्रार्थन—यक्षदर्शन
ऋद्धिक्षयादिभावसंयुक्तायां रत्नपालकथायां
प्रथमः उच्छ्वासः समाप्तः ।

---

१ प्रत्यर्प्य २ पैतृकम् ३ सत्यापितः—प्रलोकितः ४ तद्विनिमयेन ५ प्रतिपालयति ६ स्पृष्टा ७ अस्मत्कृते ८ पामुक्का-परित्यक्ता, यथा—पामुक्कं, विच्छड्डियं, अवहत्थियं, उज्झियं, चत्तं (पाइयलच्छी १३८) ९ अधृतिमत्याः धृतेर्दिहिः (हे० २-१३१) १० वाध्यमानः ११ तूष्णीकः-मौनी १२ अनुज्ञास्यति ।

२

बिइओ ऊसासो

पायसो गयाणुगइआ लोआ। अणणुकूले दइवम्मि सव्वंगिअम्मि[1] विवयसमयम्मि वि सुहसमय-णिव्वहणिज्जं परंपरा-पइट्ठाइअ खणिअगारव-दसगं आडंबरिल्लं कज्ज ण परिचाएउमिच्छंति अहिमाणधणा जणा। मुवे[2] किं हविस्सइ 'त्ति ण परामुसति अज्जंत[3]-कालमपेच्छमाणाणि माणंध-लोअणाणि।

जिणदत्तेणावि विहिअं पिइपिआमह-गारव-गज्जिअं सत्तमासिअं गब्भमह[4]। भोइआ णाणाविह-असण-पाण-खाइम-साइमेहि बंधुजणा। सम्माणिआ जहोचिअ-सम्माण-दाणेण पुव्वजा पुज्जा। संतोसिआ पुण कुलाणुरूव विअरणेण मंगलपाढका कुलगुरुणोवि।

---

१ सर्वाङ्गीणे 'सर्वाङ्गादीनस्येव' (है० २-१५१) २ श्व 'एवम्बरे श्व

२

द्वितीयः उच्छ्वासः



प्रायशः गतानुगतिकाः लोकाः । अननुकूले दैवे सर्वाङ्गीणे विपत्-समयेऽपि सुखसमयनिर्वहणीयं परम्परा-प्रतिष्ठापितं क्षणिक-गौरव-दर्शकं आडम्बरवत् कार्यं नं परित्यक्तुं इच्छन्ति अभिमानधनाः जनाः । 'श्वः किं भविष्यति' इति न परामृशन्ति आयतिकालं अप्रेक्षमाणानि मानान्धलोचनानि ।

जिनदत्तेनापि विहितः पितृ-पितामह-गौरव-गर्जितः सप्तमासिको गर्भमहोत्सवः । भोजिताः नानाविधअशन-पान-खादिम-स्वादिमैर्बन्धुजनाः । सम्मानिताः यथोचितसम्मान-दानेनः पूर्वजाः पूज्याः । सन्तोषिताः पुनः कुलानुरूपं वितरणेन मङ्गलपाठकाः कुलगुरवोऽपि ।

स्वे (हे० २-११४) ३ उत्तरकालं, यथा—'आयइ अज्जंतकालं च' (पाइयलच्छी ६३५) ४ पु. न. गर्भमहोत्सवः ।

अइक्कंतो गब्भकालो । सुहंसुहेण पसविणी जाया भाणुमई । सव्वलक्खणसंजुत्तं उप्पण्णं पुत्तरयणं । अव्वो ! सुण्णं घरं गिहमणिणा सोहिअं । अभूअपुव्वो उत्थारो[1] वड्ढिओ सयणाण-मणम्मि । धण्णेण सेट्ठिणा लद्धो वंसभाणू । दाणाइ-णीर-सित्तो फलिओ पुप्फिओ धम्म-कप्परुक्खो । णिभालिऊण अब्भग-मुहचंदं परमतुट्ठा भाणुमई । चिरपरिकप्पिओ दोहलो[2] पूरिओ विहिणा । अणेगेहिं आणंदिएहिं वयंसेहिं गहिअं सेट्ठिणो पुण्णवत्तं[3] ।

जाहे णाया मम्मणेण जिणदत्तस्स पुत्तुप्पत्ती, सयराह-मेव पेसिआ तत्थ णिअया किंकरा पुत्तं णेउं । आगय तेहिं जिणदत्तस्स हम्मिअम्मि, साहिअं च—"मम्मणसंतिआ अम्हे णवजाय सिलिंब[4] णिणेउं संपत्ता एत्थ तयादेसेण[5] ।"

तम्मग्गणं निसमिआण[6] सेट्ठी छिण्ण-हिअयो जाओ एगपए । हा हा ! अहुणेव मग्गणं ! एआरिसो अवीसंभो[7] ? तहवि णिअ-भावं संगोवेमाणेण तेण दीणमुहेण उईरिअं—"भद्दा ! अज्जेव जाओ पुत्तजम्मो । अहुणावि ण कओ को वि खणो । ण ठविअं पुत्त-णामधिज्जं । ण भूआ पीइ-भोअणाइ विही । पत्थेह ससामि-"भो ! जहा सो चिरावेइ[8] किंचि । तइय वत्थुं[9] निच्चलं तस्स समप्पिस्सं णाइ कोइ संदेहो । किंतु किवाए सत्तवीस अहोरत्ते पडिवालेउ[10] सो उआरहिअयो महाणुहावो ।"

---

१ उत्साह (है० २-४८) २ गर्भिण्या मनोरथः ३ हीरइ ज आणंदे, न

अतिक्रान्तो गर्भकालः। सुखंसुखेन प्रसविनी जाता भानुमती। सर्वलक्षणसंयुक्तं उत्पन्नं पुत्ररत्नम्। अव्वो (आनन्दे) शून्यं गृहं गृहमणिना शोभितम्। अभूतपूर्वः उत्साहो वर्तितः स्वजनानां मनसि। धन्येन श्रेष्ठिना लब्धो वंशभानुः। दानादि-नीर-सिक्तः फलितः पुष्पितो धर्मकल्पवृक्षः। निभालयित्वा अर्भकमुखचन्द्रं परमतुष्टा भानुमती। चिरपरिकल्पितो दोहदः पूरितो विधिना। अनेकैः आनन्दितैः वयस्यैः गृहीतं श्रेष्ठितः पूर्णपात्रम्।

यदा ज्ञाता मन्मनेन जिनदत्तस्य पुत्रोत्पत्तिः, शीघ्रमेव प्रेषिताः तत्र निजकाः किंकराः पुत्रं नेतुम्। आगतं तैः जिनदत्तस्य हर्म्ये कथितं च—"मन्मनसत्काः वयं नवजातं सिलिंबं (बालं) नेतुं सम्प्राप्ता अत्र तदादेशेन।"

तन्मार्गणं निशम्य श्रेष्ठी छिन्नहृदयो जातः एकपदे। हा! हा! अधुनैव मार्गणम्? एतादृश अविश्रम्भः? तथापि निजं भावं संगोपयता तेन दीनमुखेन उदीरितम्—"भद्राः! अद्यैव जातं पुत्रजन्म! अधुनापर्य्यन्तं न कृतः कोऽपि क्षणः। न स्थापितं पुत्रनामधेयम्। न भूतः प्रीतिभोजनादिविधिः। प्रार्थयत स्वस्वामिनं भोः! यथा स चिरायते किञ्चित्। तदीयं वस्तु निश्चलं तस्मै समर्पयिष्यामि न कोऽपि सन्देहः। किन्तु सप्तविंशति अहोरात्रान् प्रतिपालयतु स उदारहृदयो महानुभावः।"

वत्थं पुणवत्तं'ति (पाइय० ६-४२) ४ शिशुं ५ तदादेशेन ६ निशम्य ७ अविश्रम्भःअविश्वासः ८ चिरायते ९ प्रतिपालयतु।

पच्चावलिआ[1] भिच्चा। कहिओ वइअरो जहावत्तं। अवीसत्थो मम्मणमणो चिंताउलो जाओ। मा एणं गहिअ थणाधय भारिया-बिइओ[2] जिणदत्तो कत्थइ पलाएज्जा, तम्हा अहं पुव्वमेव संरक्खणं करेमि 'त्ति चिंतिअ तक्खणं हक्कारिआ[3] तेण णिअय-संतिआ सत्थपाणिणो पुरिसा। आणत्तं[4] पुण तेसिं "सावहाणेहिं तुब्भेहिं जिणदत्त-भवणस्स पुरओ चिट्ठिअव्वं, पेच्छिअव्व अहोणिसं जहा ण किमवि अणिट्ठं सावगासं हवेज्जा। अईए णिच्छिए काले अब्भगं[5] गहिअ मे समीवमागंतव्वं" ति।

सत्थपाणिणो पुरिसा खिप्पामेव तत्थ आगया, आवासस्स अग्गओ सावहाणं ठिआ। को णीहरइ, पविसइ' त्ति सलक्खं सोवयोग जोएउं[6] लग्गा।

विहिओ सेट्ठिणा अपुव्वो दारय-जम्म-महूसवो। अणेगाणा सुहसंदेसा पत्ता। अणेगे सुवे[7] जणा तत्थ समिलिआ। कयं पइट्ठाणुरूव पीइभोअणाइकिच्चं। दिण्ण जहोचिअं दाणं। ठविअ पिउच्छाए[8] दारयस्स रयणवालो 'त्ति सुहं णामधिज्ज। परम-पेम्म-पोसिआ कोडुंबिआ गया णिअय णिअय ठाणं छावं[9] सुहासीसाहिं वद्धावेता।

खणा व्व अलक्खिआ सत्तावीसा राईदिआ वोलीणा। परमपिय[10]-पुत्तदरिसण-पच्चूह-कारगो पच्चूहो[11] उदयं पत्तो। पच्चुट्ठिआ[12] मम्मणसंतिआ पुरिसा दारग हत्थेउं[13]। हंत ! अज्ज अइउआर पि जिणदत्त-हिअयं अईव

---

१ प्रत्यावलिता २ भार्याद्वितीयः ३ आकारिता. ४ आज्ञप्तम् ५अर्भकम्-बाल ६ द्रष्टुं लग्ना. ७ स्वै-स्वकीया ८ पितृस्वसा ९ शाव-शिशु १० परम॰

प्रत्यावलिताः भृत्याः। कथितो व्यतिकरो यथावृत्तम्। अविश्वस्तं मन्मनमनः चिन्ताकुलं जातम्। मा 'णं' गृहीत्वा स्तनन्धयं भार्याद्वितीयो जिनदत्तः कुत्रापि पलायेत, तस्मात् अहं पूर्वमेव संरक्षणं करोमि, इति चिन्तयित्वा तत्क्षणं आकारिताः तेन निजकसत्काः शस्त्रपाणयः पुरुषाः। आज्ञप्तं पुनस्तेभ्यः—"सावधानैः युष्माभिर्जिनदत्तभवनस्य पुरतः स्थातव्यं, प्रेक्षितव्यं अहर्निशं यथा न किमपि अनिष्टं सावकाशं भवेत्। अतीते निश्चिते काले अर्भकं गृहीत्वा मे समीपं आगन्तव्यं इति।"

शस्त्रपाणयः पुरुषाः क्षिप्रमेव तत्र आगताः, आवासस्य अग्रतः सावधानं स्थिताः। कः निःसरति, प्रविशति इति सलक्ष्यं सोपयोगं पश्यन्ति। विहितः श्रेष्ठिना अपूर्वो दारकजन्ममहोत्सवः। अनेकेषां शुभसन्देशाः प्राप्ताः। अनेके स्वजनाः तत्र सम्मिलिताः। कृतं प्रतिष्ठानुरूपं प्रीतिभोजनादि कृत्यम्। दत्तं यथोचितं दानम्। स्थापितं पितृस्वस्रा दारकस्य 'रत्नपाल' इति शुभं नामधेयम्। परमप्रेमप्रोषिताः कौटुम्बिकाःगताः निजकं निजकं स्थानं शावं शुभाशीर्भिर्वर्धापयन्तः।

क्षणवत् अलक्षितं सप्तविंशतिः रात्रिन्दिवं व्यतिक्रान्तम्। परमप्रियपुत्रदर्शन-प्रत्यूहकारकः प्रत्यूषः उदयं प्राप्तः। प्रत्युत्थिताः मन्मनसत्काः पुरुषाः दारकं हस्तयितुम्। हन्त! अद्य अति उदारमपि जिनदत्त-

---

प्रियपुत्रदर्शनप्रत्यूहकारकः ११ प्रत्यूषः-प्रभातसमयः १२ प्रत्युत्थिताः १३ हस्तयितुम्।

किविणत्तणमणुहवइ पुत्त पच्चप्पिणेउं । किमवि अघडिअं संपाडिज्जइ मए 'त्ति अलक्खिज्जमाणवेअणं आउल-वाउलं[1] सेट्ठिणो चित्तं । विज्जू-णिवायओ वि दुरहिसहं दारय-पच्चप्पणसद्दं णवप्पसविणी भाणुमई कह सहिस्सइ 'त्ति हवीअ[2] किकायव्वमूढो सेट्ठी । मा अहिआहिअ[3] ठिइं अणुहवउ तीसे मुणालकोमल हिअयं 'ति वीमंसमाणेण पइणा सत्तिअ[4]–मिउवयणेण भज्जा संबोहिआ–'सत्तिमइ ! अविहाविओ[5] किर कालस्स निग्गमो । पल्ल सागराणमवि पत्तो होइ अंतिमो खणो, का वत्ता पुण संखा-सकेइअस्स ?[6] समागओ सो अणिट्ठो अट्ठवीसइमो दिअहो जम्मि अम्हेच्चयो[7] णंदणो पारक्को[8] संवट्टिहिइ । धम्मिट्ठे ! इणमो च्चिअ धम्मपत्तीए पच्चक्खं इधं जं[9] पडिऊलम्मि समयम्मि वि ण धिज्जं छिज्जेइ ।

"कुओ समागओ अट्ठावीसइमो वासरो अज्जतणो अज्जउत्त ! कहं सखावयाण[10] तुम्हं संखा-विब्भमो जाओ ?" पच्चुत्तरिअं वुण्णहिअयाए भाणुमईए सच्छरिअं सखेयं च ।

ण लक्खिज्जइ माईहिअयाए तुमए सत्तरो गत्तरो कालो । भद्दा ! ण सुमरेसि किं चंददरिसणजोग्गाए धवलाए बिइआए पुत्तजम्मो जाओ, अज्ज कण्हा रित्ता चउद्दसी तिही[11] वट्टइ । पाससु, उवट्ठिआ एए मम्मणसंतिआ मणुआ पुत्तं करगयं काउं ।

अव्वो ! उवट्ठिआ एए मयहिअया[12] पुत्तं हत्थेउं ।

---

१ आकुल-व्याकुलम् २ भूधानोर्यद् हवादेशस्तस्य भूतार्थस्य रूपमिदम् 'सी-ही हीअ भूतार्थस्य' 'व्यञ्जनादीअ (हि० ३-१६२, १६३) हवीअ-अभवत्, अभूत्, बभूव, इत्यर्थं ३ अधिकाहित-मरणादि ४ सात्विक-मृदुवचनेन ५ अविभावित

हृदयं 'किमपि अघटितं सम्पाद्यते मया' इति अलक्ष्यमानवेदनं आकुल-व्याकुलं श्रेष्ठिनः चित्तम् । विद्युन्निपाततोऽपि दुरधिसहं दारक-प्रत्यर्पणशब्दं नवप्रसविनी भानुमती कथं सहिष्यते' इति अभूत् किंकर्त्तव्यमूढः श्रेष्ठी ! मा अधिकाहिता 'स्थितिं अनुभवतु तस्याः मृणालकोमलं हृदयम्' इति विमृशता पत्या सात्विकमृदुवचनेन भार्या सम्बोधिता—"शक्तिमति ! अविभावितः किल कालस्य निर्गमः । पल्यसागराणां अपि प्राप्तो भवति अन्तिमः क्षणः, का वार्ता पुनः संख्यासंकेतितस्य ? समागतः स अनिष्टः अष्टाविंशतितमो दिवसः, यस्मिन् आस्माकः नन्दनः परकीयः संवत्स्यति । धर्मिष्ठे ! एतदेव धर्म-प्राप्त्याः प्रत्यक्षं चिन्हं यत् प्रतिकूले समयेऽपि न धैर्यं छिद्यते ।"

"कुतः समागतः अष्टाविंशतितमो वासरः अद्यतनः आर्यपुत्र ! कथं संख्यावतां युष्माकं संख्याविभ्रमः जातः ?" प्रत्युत्तरितं त्रस्तहृदयया भानुमत्या साश्चर्यं सखेदं च ।

न लक्ष्यते मातृहृदयया त्वया सत्वरः गत्वरः कालः । भद्रे ! न स्मरसि किं चन्द्रदर्शनयोग्यायां धवलायां द्वितीयायां पुत्रजन्म जातं अद्य कृष्णा रिक्ता चतुर्दशी तिथिः वर्तते । पश्य उपस्थिताः एते मन्मनसत्काः मनुजाः पुत्रं करगतं कर्तुम् । "अव्वो ! उपस्थिताः एते मृतहृदयाः पुत्रं हस्तयितुम् ! कथं अहं स्तनन्धयं परायत्तं करोमि ?

---

६ संख्या-सङ्केतितस्य ७ आस्माकः ८ परकीयः ६ चिन्हं १० संख्यावताम्-दक्षाणाम् ११ तिथिः १२ मृतहृदयाः

कहमहं धणधयं परायत्तं कुणेमि ? धी धी ! कहमेआ-रिसमविआरिअ वाया-संधाणं कयं भवया ? एवं विलव-माणी भाणुमई तक्खण मोहमुवगया[1]। विवण्ण-वयणकमलेण भत्तुणा नाणाउइअ-उवयारेहिं चेअणं पाविआ सा रोउं पउत्ता। हद्धी ! कहमहय न मया मुच्छा-परिगया ? पुत्तविहूण जीयं[2] किं ण मरणाइरित्त। धिय ! कयतो वि ण कहमकयंतो[3] ?

सत्था होहि भामिणी ! सव्व भव्व होहिइ। इहइं पइण्णा-पालण करणिज्ज अम्हेहिं। आणसु दारय, जहा तं समप्पिऊण सवहीकय सच्चं कुणेमो। कंपमाणकरा वहमाण-बाहजला मिलायमाणहिअया दूअमाणमणा अंते भाणुमई पुत्त पच्चप्पिणंती साहेउ पउत्ता—"भव्वा ! अत्थि एसो पुत्तो अम्हाण हिअयस्स खड, नयणाण जोई, किविणस्स धण, जीवणस्स य सव्वस्स। सति अणेगाओ आसाओ अस्सुवरि। मणयमवि मणो[4] ण इच्छेइ इमं खणमवि दूरेउं, पर किं भणीयइ, अणाचिक्खणीया[5] कहा खु भविअव्वयाए, अणुलंघणिज्जा रेहा किर देवस्स, ता एसो णिहिव्व सम्मं सुरक्खिअव्वो, कप्पतरुव्व सयथं सेविअव्वो, धम्मव्व पइपलं धारेअव्वो य। किं बहुणा साहिएण,[6] जहा ण हवइ अस्स एगो वि वंको बालो तहा अणुचिट्ठिअव्वं 'ति। एवं बहुजंप-माणीए भाणुमईए रयणवालो बालो हिअयेण धणिअमालिगि-ओ,[7] ससिणेह मुहेण परिचुंविओ,असुधाराहिं सिंचिओ, अणे-गाहिं सुहासीसाहिं परिपोसिओ य हत्थाहत्थिं[8] समप्पिओ।

---

१ मूर्च्छा २ जीवित ३ न कृतोऽन्तो येन स अकृतान्तः ४ मनागपि 'मनाको

धिग् धिग् ! कथं एतादृशं अविचारितं वाचासंधानं कृतं भवता"—एवं विलपन्ती भानुमती तत्क्षणं मोहमुपगता। विवर्णवदनकमलेन भर्त्रा नाना-उचितोपचारैः चेतनं प्रापिता सा रोदितुं प्रवृत्ता। हद्धी ! कथं अहं न मृता मूर्च्छापरिगता ? पुत्र-विहीनं जीवितं किं न मरणातिरिक्तम् ? धिक् कृतान्तोऽपि न कथं अकृतान्तः ?

स्वस्था भव भामिनि ! सर्वं भव्यं भविष्यति। इह प्रतिज्ञापालनं करणीयं अस्माभिः। आनय दारकं, यथा तं समर्प्य शपथीकृतं सत्यं कुर्मः। कम्पमानकरा वहद्बाष्पजला म्लायद्हृदया दूयमानमनाः अन्ते भानुमती पुत्रं प्रत्यर्पयन्ती कथयितुं प्रवृत्ता—"भव्या ! अस्ति एष पुत्रः अस्माकं हृदयस्य खण्डम्, नयनयोः ज्योतिः, कृपणस्य धनम्, जीवनस्य च सर्वस्वम्। सन्ति अनेकाः आशाः अस्योपरि। मनागपि मनो न इच्छति इमं क्षणमपि दूरयितुम्, परं किं भण्यते, अकथनीया कथा खलु भवितव्यतायाः, अनुल्लंघनीयारेखा किल दैवस्य। तस्मात् एष निधिवत् सम्यक् सुरक्षितव्यः, कल्पतरुवत् सततं सेवितव्यः, धर्मवत् प्रतिपलं धारयितव्यश्च। किं बहुना कथितेन, यथा न भवति अस्य एकोऽपि वक्रो बालः तथा अनुष्ठातव्यं इति।" एवं बहु जल्पन्त्या भानुमत्या रत्नपालो बालो हृदयेन गाढमालिङ्गितः सस्नेहं, मुखेन परिचुम्बितः, अश्रुधाराभिः सिक्तः, अनेकाभिः शुभाशीर्भिः परिपोषितश्च हस्ताहस्तिकं समर्पितः।

नवा ड्यं च' (हे० २-१६६) तेन मणयं, मणिअं, मणा ५ अकथनीया ६ कथितेन। ७ धणिअं-गाढम् ८ हस्ताहस्तिका।

सुरयणाभिरामं तं सोमालं बालं हसंतं संतं घेत्तूण झत्ति गया ते मम्मणसमीवं। पयडीकुणमाणेहिं जहाकहिअं मायराहिप्पायं तेहिं दक्खयाए समप्पिओ सो सामिस्स।

अणेग-सामुद्द-सुलक्खण-लक्खिअं पत्ताणुऊल-गहबल भविस्सुज्जलमब्भगं णिभालिऊण मम्मणो सेट्ठी उप्फुल्लो जाओ। वञ्झाए रिणआए भारिआए अकम्मि देवल्लविअं पुत्त-पारिओसिअं[1] ठवमाणेण तेण पाउक्कयं—"पिया! केण उत्तो[2] सित्तो य कप्पतरू कहिं फलिओ? केण विहाविअं जं अमुणा वसभक्खरेण अम्हकेरं गिहं पज्जोइअं होहिइ? केणावगमिज्जइ[3] अहवा सुहोदयं भागधेअं कया केरिसं अतक्किअं सुहं फलं देइ'त्ति। निच्छिअं मुणअव्व जमेसो बालो अम्हेच्चयो च्चिअ, ण खलु जिणदत्तस्स दारिद्दाहिद्दुअस्स[4]। कया सोलसवासाइं पुण्णाइं भविस्संति? कया पुत्तो जुवाणो भुच्चा पच्चिट्टिहिइ[5]? कया पुण सवुड्ढिअं धणं विढविऊण[6] पच्चप्पिणिहिइ[7]? सव्वमिणं कप्पणा-मणोहरं अब्भचित्त-सकासं विज्जइ। को जीविहिइ को मरिहिइ 'त्ति को णाउमरिहिइ? सुहवे! ओरसमवच्चमिणं 'ति मण्णमाणी तुमं इमं पालसु। मा णं किंसमवि ऊणत्तणं अस्स लालण-पालणे अणुहवसु।

चित्तं! खुद्द चुच्छं किविणमवि य मम्मणस्स चित्तं बालगस्स पुण्ण-गुरुआए उआरं, पेमिल्लं, अणुऊलं च जायं।

---

१ पुनःपारितोषिकम् २ उप्त ३ अवगम्यते ४ दारिद्र्याभिद्रुतस्य ५ प्रत्यास्यति ६ अर्जयित्वा 'अर्जेर्विढव.' (हे० ४-१०८) ७ प्रत्यर्प

सुरार्पितं तं सुकुमालं बालं हसन्तं सन्तं गृहीत्वा झगिति गताः ते मन्मनसमीपम्। प्रकटीकुर्वद्भिः यथाकथितं मात्रभिप्रायं तैः दक्षतया समर्पितः स स्वामिने।

अनेक-सामुद्र-सुलक्षणलक्षितं प्राप्तानुकूल-ग्रहबलं भविष्योज्ज्वलं अर्भकं निभालयित्वा मन्मनः श्रेष्ठी उत्फुल्लो जातः। वन्ध्यायाः निजायाः भार्यायाः अङ्के देवार्पितं पुत्रपारितोषिकं स्थापयता तेन प्रादुष्कृतम्-"प्रिये ! केन उप्तः सिक्तश्च कल्पतरुः कुत्र फलितः ? केन विभावितं यत् अमुना वंशभास्करेण अस्मदीयं गृहं प्रद्योतितं भविष्यति ? केनावगम्यते अथवा शुभोदर्कं भागधेयं कदा कीदृशं अतर्कितं शुभं फलं ददातीति। निश्चितं ज्ञातव्यं यदेष बालः आस्माकः एव, न खलु जिनदत्तस्य दारिद्र्याभिद्रुतस्य। कदा षोडषवर्षाणि पूर्णानि भविष्यन्ति ? कदा पुत्रो युवा भूत्वा प्रस्थास्यति ? कदा पुनः सवृद्धिकं धनं अर्जयित्वा प्रत्यर्पयिष्यति ? सर्वमिदं कल्पना-मनोहरं अभ्र-चित्र-संकाशं विद्यते। कः जीविष्यति, कः मरिष्यति इति को ज्ञातुं अर्हति। सुभगे ! 'औरसं अपत्यं इदम्' इति मन्वाना त्वं इमं पालय 'मा' 'णं' कृशमपि ऊनत्वं अस्य लालन-पालने अनुभव।"

चित्रम् ! क्षुद्रं तुच्छं कृपणमपि च मन्मनस्य चित्तं बालकस्य पुण्यगुरुतया उदारं प्रेमवत् अनुकूलं च जातम्। अङ्के कृत्वाउत्तानशयं

यिष्यति ८ अर्हति ९ तुच्छं-'तुच्छे-तश्चच्छौवा' (हे० १-२०४) तेन छुच्छं, चुच्छं, तुच्छमपि।

अकम्मि काऊण उत्ताणसय[1] सेट्ठी णाणाविह कीड्ड कुणेइ। जहा तहा जपंतो त रमावेइ। विम्हुट्ठावर-गिहकज्जो त खधमारोविऊण जत्थ तत्थ भमाडेइ। धाईण ववत्था वि जहोचिआ कया। गिरि-कदर-लीणो चपगपायवो विव मम्मण-गिहम्मि सुहं सुहेणं परिवड्ढए सो। हत! विचित्ताणि विहुणो विलसिआणि।

इओ य परहत्थगय पोअ काऊण गहिअ-रसा उच्छुलट्ठी विव, णिवडिअ-पत्त-पुप्फ-फला रुक्खावली विव, चेयणासुण्णा तणू विव भाणुमई होहिअ। अव्वो! पच्चूसम्मि वि सव्वओ गाढंधयारो पत्थरिओ। वाहिवज्जिए वि ताए सरीरम्मि काइ असहणिज्जा अउलवेअणा उप्पडिआ[2]। गहिलचित्ता इव चितेइ सा—"कि जागरूआ वि अहं पच्चक्ख सुमिणं पेच्छेमि? किं पायडजोगपावल्लावि[3] अहं मया? अम्मो! कि मए एआरिस महामोल्लं वत्थु हारिअं, जिणा[4]-विणा सव्वं विज्जमाणमवि तहाविह अविज्जमाणमिव पडिहाइ। हंदि! केण पम्हुसिअं[5] मे हिअय-सयलं, जेण विणा सयलमवि पम्हुसिअं[6] जायं। हरे! माउउच्छग-वंचिओ सो वराओ सिलिबो किं कुणमाणो हवेज्जा? हंत! हयविहिणा थणंधयो बालो कीस माऊआ[7]-विरहिओ कओ? केरिसी परिवालणा तस्स हविस्सइ परगिहठिअस्स मदभग्गस्स?" एवं णाणा-विकप्पजाल-परिअरिआ माया कयाइ मुच्छइ, गिलायइ, मिलायइ, अणवरय-पवहमाण-वाहजलेण भूअलं पल्ललीकरेइ[8] य। विक्खित्त-चित्ता पुण इओ तओ परिभमइ, खणमेत्तमवि ण कत्थइ सुहलवमणुहवइ। सेट्ठिणो वि तारिसी ठिई संवुत्ता, परं को सुणेइ विहि-दाव-दड्ढाणं पुक्कारं?

श्रेष्ठी नानाविधां क्रीडां करोति। यथा तथा जल्पन् तं रमयति। विस्मृताऽपरगृहकार्यः स्कन्धं आरोपयित्वा यत्र तत्र भ्रामयति तम्। धात्रीणां व्यवस्थाऽपि यथोचिता कृता। गिरिकन्दरलीनः चम्पकपादप इव मन्मनगृहे सुखं सुखेन परिवर्धते सः। हन्त! विचित्राणि विधे-र्विलसितानि।

इतश्च परहस्तगतं पोतं कृत्वा गृहीतरसा इक्षुयष्टिरिव, निपतित-पत्रपुष्पफला वृक्षावलीव, चेतनाशून्या तनूरिव भानुमती अभूत्। अव्वो! प्रत्यूषेऽपि सर्वतः गाढान्धकारः प्रसृतः। व्याधिवर्जितेऽपि तस्याः शरीरे कापि असहनीया अतुलवेदना उत्पतिता। ग्रथिलचित्ता इव चिन्तयति सा—"किं जागरूकाऽपि अहं प्रत्यक्षं स्वप्नं प्रेक्षे? किं प्रकटयोगप्राबल्याऽपि अहं मृता? "अम्मो"! किं मया एतादृशं महामूल्यं वस्तु हारितं, येन विना सर्वं विद्यमानमपि तथाविधं अविद्यमानमिव प्रतिभाति। हन्दि! केन प्रमुषितं मे हृदयशकलं, येन विना सकलमपि विस्मृतं जातम्। हरे! मातृसङ्ग-वञ्चितः स वराकः सिलिवः किं कुर्वाणो भवेत्? हन्त! हतविधिना स्तनन्धयो बालः कस्मात् मात्रा विरहितः कृतः? कीदृशी परिपालना तस्य भविष्यति परगृहस्थितस्य मन्दभाग्यस्य? एवं नानाविकल्पजालपरि-करिता माता कदापि मूर्च्छति, ग्लायति, म्लायति, अनवरत-प्रवहमाण-बाष्पजलेन भूतलं पल्वलीकरोति च। विक्षिप्तचित्ता पुनः इतस्ततः परिभ्रमति! क्षणमात्रमपि न कुत्रापि सुखलवमनुभवति। श्रेष्ठिनो-ऽपि तादृशी स्थितिः संवृत्ता। परं कः शृणोति विधिदावदग्धानां पुत्कारम्?

---

१ उत्तानशयं-डिम्भम् २ उत्पन्ना ३ प्रकटयोगप्राबल्यापि ४ येन ५ प्रमुषितं-चोरितम् ६ विस्मृतम् ७ माऊआ-मात्रा ८ पल्वलीकरोति।

विचित्तमवत्थं पत्तो जिणदत्तो संपइ 'किं कायव्वं' ति परामरिसइ[1] भज्जाए सद्धिं । दविण-विणिमयेण रक्खिओ पुत्तो परगिहम्मि' त्ति जणाववाय-भीरुओ कहं मुहं दरिसणिज्ज' ति लज्जिओ । अंतम्मि अविण्णाय-वइअरे[2] णायरजणे पच्छण्णयाए गिह-णयर-देस-परिचाओ कायव्वो, इअ उभय-सम्मओ निच्छओ जाओ । उत्तत्थमणाए भाणुमईए सव्वं गिहभण्ड ववट्ठिअं कयं[3] । आवस्सयवत्थूण एगा लहुवी पोट्टलिआ सज्जीकया । अणेगदिण-भक्खणारिह सूंखडिआइयं[4] किमवि पाहेयं[5] पुण विणिम्मिअं । सव्वमिणं कज्जं मा परेहिं लक्खिज्जउ' त्ति बद्धकवाड ताए अणुट्ठिअं । पुत्तविओग-विहुरो अईव पलंबो वि वासरो गिह-कज्ज-गुरुअयाए कहं कहमवि पुण्णत्तणं पत्तो । पगासपगरिस[6]-वंझा संझा समुहीणा सपण्णा । पेरंत-कालिमाए लालिमाए थोव-कालिओ अहरराओ[7] दरिसिओ । पाउक्कय[8]-लद्धावसर-सिद्धंतं धंतं[9] वित्थरिउं लग्गं । 'किं करणिज्जं अम्हेहिं'ति बिंदुआगारा तारा अणंतम्मि मंदमऊहेहिं[10] आलोएउं पउत्ता । माया इव संतिप्पया राइ'त्ति जाया झडिति मउलिअ[11]-झपणिआ डिंभा । अण्णुण्ण-सदिद्धाइं विउत्ताइं चक्कवायाण जुम्माइं । सक्ख लद्धलक्खा सभूआ तक्कराणं मलिणा भावणा । सव्वे वि सग्गिहत्था[12] सगिहत्था[13] जाया जायाहिं अणुणोयमाणमाणसा । एआरिसीए तमिस्साए अणुऊलो अवसरो पलायणस्स'त्ति मुणिऊण जिणदत्तेण एगा कयण्णू दक्खा

---

१ परामृशति २ अविज्ञातव्यतिकरे ३ व्यवस्थितम् ४ 'सूंखडी' देशीयशब्दः गुर्जरदेशप्रसिद्धः ५ पाथेयम् ६ प्रकाशप्रकर्षवन्ध्या ७ अधरराग ८ प्रादुष्कृत-लब्धावसरसिद्धान्तम् ९ ध्वान्त-तिमिरम् १० मन्दमयूखैः ११ मुकुलित-

विचित्रामवस्थां प्राप्तो जिनदत्तः संप्रति किंकर्त्तव्यमिति परामृशति भार्यया सार्धम् । 'द्रविण-विनिमयेन रक्षितःपुत्रःपरगृहे' इति जनापवादभीरुकः कथं मुखं दर्शनीयमिति लज्जितः । अन्ते अविज्ञात-व्यतिकरे नागरजने प्रच्छन्नतया गृह-नगर-देशपरित्यागः कर्त्तव्यः, इति उभय-सम्मतो निश्चयो जातः । उत्त्रस्तमनसा भानुमत्या सर्वं-गृहभाण्डं व्यवस्थितं कृतम् । आवश्यकवस्तूनामेका लघ्वी पोट्टलिका सज्जीकृता । अनेकदिनभक्षणार्हं 'सूंखड़ी' आदिकं किमपि पाथेयं पुनः विनिर्मितम् । सर्वमिदं कार्यं मा परैः लक्ष्यतामिति बद्धकपाटं तया अनुष्ठितम् । पुत्र-वियोगविधुरः अतीव प्रलम्बोऽपि वासरो गृहकार्य-गुरुकतया कथंकथमपि पूर्णत्वं प्राप्तः । प्रकाश-प्रकर्षवन्ध्या सन्ध्या सम्मुखीना सम्पन्ना । पर्य्यन्तकालिम्ना लालिम्ना स्तोककालिकः अधररागो दर्शितः । प्रादुष्कृत-लब्धावसरसिद्धातं ध्वान्तं विस्तरितुं लग्नम् । किं करणीयमस्माभिरिति बिन्दुकाकाराः ताराः अनन्ते मन्दमयूखैः आलोकितुं प्रवृत्ताः । माता इव शान्तिप्रदा रात्रिरिति जाताः झटिति मुकुलितपक्ष्माणो डिम्भाः । अन्योन्यसन्दिग्धानि वियुक्तानि चक्रवाकाणां युग्मानि । साक्षात् लब्धलक्ष्या संभूता तस्कराणां मलिना भावना । सर्वेऽपि सद्गृहस्थाः स्वगृहस्थाः जाता जायाभिः अनुनीयमानमानसाः । 'एतादृश्यां तमिस्रायां अनुकूलोऽवसरः पलायनस्य' इति ज्ञात्वा जिनदत्तेन एका कृतज्ञा दक्षा पितामही-समाना

झम्पणिका :—निमीलितपक्ष्माण इत्यर्थः यथा—'झंपणीओ पम्हाइं (पाइयलच्छी ८४६) भांपण, इतिभापा १२ सद्गृहस्थाः १३ स्व-गृहस्थाः ।

पियामहीसमाणा वीसत्था समासिआ[1] थेरी सणियं वाहित्ता[2]। साहिओ सव्वोवि जहातहं वुत्तंतो। परिचिआ कया सव्वेहिं अज्जंतकाल-कज्जेहिं। समप्पिओ सव्वओ णिअ-हम्मियस्स सुरक्खाभारो। दिण्णं पुण दारजंतुग्घाडणयं तालिआणं गुच्छग। अंते णिवडिऊण ताए चलणेसु गहिआ सोहद्दपुण्णा आसीसा। गहिऊण मत्थए पाहेय-पोट्टलियं भज्जा[3] विइज्जओ 'मा कोइ णे[4] पलोएउ'[5]त्ति सकिओ सणिअं-सणिअं सरमाणो रयणवालं बाल मणमि सरमाणो[6] गाढधयारम्मि विलीणो।

किं किं कप्पेइ वराओ अप्पण्णू मणुओ, किंतु दिट्ठं किंपि अदिट्ठं घडेइ। विहि-पवण-पणुल्लिआणि[7] अब्भाणि विव णट्ठाणि हवंति जंतूण आसा-विआणाणि। हा! दुरहिगमा भाविणी परिणई इह चम्मचक्खुधारिणा मच्चेण। पेच्छतु पच्चक्ख जिणदत्तस्स विहि-पराहूइ। काए काए णह[8]-विसालाए आसाए पुत्त-पत्थणा कया, तत्थ केरिसो अणअहिलसणिज्जो समयो आवडिओ। जस्स पुरओ अणेगे भिच्चा पंजलिउडा ठिआ 'को आएसो'त्ति वयणं पुप्फीकुणमाणा आसी, सो अहुणा अलक्खिओ मत्थयत्थ-पोट्टलिओ सगोविअणियत्थित्तो सहि-सहोअर-सहाय-वज्जिओ पुत्तवियोग-संखुद्दो गेहणीए सद्धिं वाहण[9]-वेलविओ एगागी वच्चइ। कहं कहंपि तीरिआओ[10] तेहिं णयरवीहीओ पच्छण्णयाए। णयरप्पओली जया एहिं पिट्ठओ कया, तया ण काई अणाचिक्खणिज्जा

1 प्रातिवेश्मिकी   2 व्याहृता   3 भार्याद्वितीयक.   4 अस्मान्   5 पश्यतु

विश्वस्ता समोषिता (प्रातिवेश्मिकी) स्थविरा शनैः व्याहृता। कथितः सर्वोऽपि यथातथं वृत्तान्तः। परिचिता कृता सर्वैः आयतिकाल-कार्यैः। समर्पितः सर्वतः निजहर्म्यस्य सुरक्षाभारः। दत्तं पुनः द्वारयन्त्रोद्घाटनकं तालिकानां गुच्छकम्। अन्ते निपत्य तस्याः चलनयोः गृहीता सौहार्दपूर्णा आशीः। गृहीत्वा मस्तके पाथेय-पोट्टलिकां भार्याद्वितीयकः 'मा कोऽपि नौ प्रलोकयतु' इति शङ्कितः शनैः शनैः सरन् रत्नपालं बालं मनसि स्मरन् गाढान्धकारे विलीनः।

किं किं कल्पते वराकः अल्पज्ञो मनुजः, किन्तु दिष्टं किमपि अदृष्टं घटयति। विधिपवनप्रेरितानि अभ्राणि इव नष्टानि भवन्ति जन्तूनां आशावितानानि। हा! दुरधिगमा भाविनी परिणतिः इह चर्मचक्षुर्धारिणा मर्त्येन। प्रेक्षन्तां प्रत्यक्षं जिनदत्तस्य विधि-पराभूतिम्। कया कया नभोविशालया आशया पुत्र-प्रार्थनाकृता, तत्र कीदृशः अनभिलषणीयः समयः आपतितः। यस्य पुरतः अनेके भृत्याः प्राञ्जलिपुटाः स्थिताः 'कः आदेशः' इति वचनं पुष्पीकुर्वाणाः आसन्, स अधुना अलक्षितः मस्तकस्थपोट्टलिकः संगोपित-निजास्तित्वः सखि-सहोदर-सहाय-वर्जितः पुत्र-वियोगसंक्षुब्धः गृहिण्या सार्धं वाहन-वञ्चितः एकाकी व्रजति। कथं कथमपि तीरिताः ताभ्यां नगरवीथयः प्रच्छन्नतया। नगरप्रतोली यदा आभ्यां पृष्ठतः कृता, तदा 'णं' कापि

६ स्मरन् ७ विधि-पवन-प्रेरितानि ८ नभोविशालया ९ वञ्चितः १० तीरिता।

मणे लज्जा पारंचिआ[1]। ति-चउर-गाउप्पमाण पहं पत्ताण-मेसि मत्तडउदयो जाओ। "थक्कियासि[2] कोमलंगी ! किमु पलबमद्धाए वच्चमाणी ? थक्कामो[3] कि वीसमण-णिमित्तं कत्थइ ?" मुहुं मुहुं परिपुच्छइ जिणदत्तो रयणवाल-मायरं।

"णूण अज्जउत्ताण मुहपंकजं जूरिअं[4] दीसइ, ता तुम्हे महंत पहखेअं अणुहवेज्ज'त्ति मए अणुहूअं" पच्चुत्तरिअं विणयवाहिणीए वायाए भाणुमईआ।

पिये ! णाहं किंचि वि णिगम-गमणखेअं वहामि किंतु·· ·· विरमिओ अग्गओ वोत्तुं सेट्ठी।

किं किं खेअ-कारणं, कहं 'किंतु' वज्जरिऊण विरमिओ अग्गओ वाया-विण्णासो ? किं सई गओ जीवणाहारो पिओ पुत्तो ?" पुट्ठं वाहं लुंछमाणीए पत्तीए। चुक्किआसि[5] रयणमाय ! पुच्छंती तुमं। कया सो विम्हरिओ ता संपइ सइ गओ ? वाहजलाउललोयणेण पइणा एगो दीह-णीसासो मुक्को। इत्थ दंपइणो परुप्परं पुत्त-विरहेण णिव्वरंता[6], पइसं कहं पियं पुत्तं संभरंता-पहच्छेअं कुणिरे।

मग्गम्मि समागया एगा सरसी। मणोहरं विजणं ठाणं पप्प जपइणो तत्थ वीसंता जाया। अणुचिट्ठिअं तेहिं सयलं पाहाडअं किच्चं। पारिअं सम्मं णमुक्कारसहिअं[7]। गहिओ किंचि पायरासो[8]। मज्झ-सव्वरीए पयट्टआ[9] एए संता परितंता इहइं णिव्विऊण[10] किंचि आसत्था हूआ। मा

---

१ पार नीता २ श्रान्तासि ३ तिष्ठाम ४ खिन्नम्, यथा—जूरिअ, उत्तम्मिअं, नडिअ, (पाइयलच्छी ५७५) ५ स्खलितासि ६ दुःख निवेदयन्त दुःखे

अकथनीया मन्ये लज्जा पारं नीता। त्रिचतुर्गव्यूतिप्रमाणं पन्थानं प्राप्तयोः एतयोः मार्तण्डोदयो जातः। "श्रान्तासि कोमलाङ्गि ! किम् प्रलम्बं अध्वानं व्रजन्ती ? तिष्ठामः किं विश्रमण-निमित्तं कुत्रापि ? मुहुर्मुहुःपरिपृच्छति जिनदत्तो रत्नपालमातरम्।

"नूनं आर्यपुत्राणां मुखपङ्कजं खिन्नं दृश्यते, तस्मात् यूयं महान्तं पथखेदं अनुभवथ, इति मया अनुभूतम्" प्रत्युत्तरितं विनयवाहिन्या वाचा भानुमत्या।

"प्रिये ! नाहं किञ्चिदपि निगम-गमन-खेदं वहामि, किन्तु........" विरमितः अग्रतः वक्तुं श्रेष्ठी।

"किं किं खेदकारणं, कथं 'किन्तु' व्याहृत्य विरमितः अग्रतो वाग्-विन्यासः ? किं स्मृतिगतः जीवनाधारः प्रियः पुत्रः ?" पृष्टं वाष्पं मृजन्त्या पत्न्या।

"स्खलितासि रत्नमातः ! पृच्छन्ती त्वम्। कदा स विस्मृतः तस्मात् संप्रति स्मृतिं गतः ? वाष्पजलाकुललोचनेन पत्या एको दीर्घ-निःश्वासो मुक्तः। इत्थं दम्पती परस्परं पुत्रविरहेण दुःखं प्रकटयन्तौ प्रतिसंकथं प्रियं पुत्रं स्मरन्तौ पथच्छेदं कुर्वाते।

मार्गे समागता एका सरसी। मनोहरं विजनं स्थानं प्राप्य जम्पती तत्र विश्रान्तौ जातौ। अनुष्ठितं ताभ्यां सकलं प्राभातिकं कृत्यम्। पारितं सम्यक् नमस्कार-सहितम्। गृहीतः किञ्चित् प्रातराशः। मध्यशर्वर्यां चलितौ एतौ श्रान्तौ परितान्तौ इह विश्राम्य किञ्चित् आश्वस्तौ भूतौ। 'मा पृष्ठतः केऽपि श्रेष्ठिनं

णिव्वरः (हेम० ४-३) ७ नोकारसी ८ प्रातराशः 'जलपान-सिरावण' इतिभापा ९ पयट्टआ-चलिआ १० विश्राम्य, विश्रमेर्णिव्वा०।

मग्गओ[1] केइ सेट्ठि मग्गमाणा[2] मग्गआ[3] आगच्छिअ गमण-विक्खेव कुणिज्ज'त्ति पुणरवि अग्गओ चलिओ सेट्ठी। दइयं पडिअग्गेमाणी[4] भज्जा चलणाणब्भत्थचलणा[5] खलेइ उच्चावयम्मि पहम्मि। कयाइ तिक्ख-पाहाण-खडेण अप्फलिआ[6] अग्गगामि पइ सखेअ सद्दे इ। चलिअ रुहिरधार तज्जुग्गुवाएण साहरइ[7] ससाहस सेट्ठी। मज्झ-दिणयरस्स तावेण मतत्ता एग्गस्स सण्णिवेसस्स मज्झयारम्मि[8] गया एए। कस्सइ धवलमंदिरस्स वहित्ता सच्छाय सुघडं वेइयं[9] विलोइअ मज्झण्णिअ वेल अइवाहेउ मत्थयगय पोट्टलिअं रक्खिऊण एगओ ठिआ। अग्गे कत्थ वच्चणिज्जं, किं करणिज्जं'ति वीमसणपरा संलविउ लग्गा।

तक्काल चिअ वायायणेण[10] एगाए वामलोअणाए णिअ-मंदिर-वेइआए केई अणुवलक्खिआ अद्धणीणा आलवमाणा ठिय'त्ति णिहालिआ। एक्कसरिअ[11] सा तहिं[12] समागया। णयणेहिं असिणेह दरिसमाणी वज्जकक्कसाए गिराए वज्जरिउं पउत्ता—"कहं भो! ठिआ एत्थ अपच्चभिण्णाया[13] अवि अम्हकेर-मंदिर-वेइआए? अणुवलक्खिआणं ण वयं ठाणं दाउं समत्था, तम्हा वच्चतु, सिग्घं वच्चतु भो! केसिंचि तुम्ह उवलक्खिआण गेहम्मि।"

"पहिआ[14] अम्हे मज्झण्ह-कालम्मि वीसमणट्ठं ठाणं पेक्खिअ किंचि- काल ठिआ। भइणि! मणुओ मणुअस्स आसयं पत्थइ। वच्चिस्सामो अम्हे अवरण्हकाले अग्गओ

१ पृष्टत २ गवेषयन्त ३ मार्गका 'मागने वाले' इतिभाषा ४ अनुव्रजन्ती ५ चलनाऽनभ्यस्तचलना ६ आस्फालिता ७ सवृणोति 'मवृगे साहरमाहट्टो'

मार्गयन्तः मार्गकाः आगत्य गमनविक्षेपं कुर्युः' इति पुनरपि अग्रतः चलितः श्रेष्ठी। दयितं अनुव्रजन्ती भार्या चलनानभ्यस्तचलना स्खलति उच्चावचे पथि। कदापि तीक्ष्ण-पाषाण-खण्डेन आस्फालिता अग्रगामिनं पतिं सखेदं शब्दयति। चलितां रुधिरधारां तद्योग्योपायेन संवृणोति ससाहसं श्रेष्ठी। मध्यदिनकरस्य तापेन संतप्तौ एकस्य सन्निवेशस्य मध्ये गतौ एतौ। कस्यापि धवलमन्दिरस्य बहिस्तात् सच्छायां सुघटां वेदिकां विलोक्य माध्याह्निकीं वेलां अतिवाहयितुं मस्तकगतां पोट्टलिकां रक्षयित्वा एकतः स्थितौ। 'अग्रे कुत्र व्रजनीयं, किं करणीयं' इति विमर्शनपरौ संलपितुं लग्नौ।

तत्कालमेव वातायनेन एकया वामलोचनया निजमन्दिर-वेदिकायां केऽपि अनुपलक्षिता अध्वनीना आलपन्तः स्थिताः इति निभालिताः। एक्कसरिअं (झगिति) सा तत्र समागता। नयनाभ्यां अस्नेहं दर्शयन्ती-वज्रकर्कशया गिरा कथयितु प्रवृत्ता—"कथं भोः स्थिताः अत्र अप्रत्यभिज्ञाताः अपि अस्मदीय-मन्दिर-वेदिकायाम्? अनुपलक्षितेभ्यो न वयं स्थानं दातुं समर्थाः। तस्माद् व्रजन्तु, शीघ्रं व्रजन्तु भोः! केषाञ्चिद् युष्माकं उपलक्षितानां गृहे।"

"पथिका वयं मध्याह्नकाले विश्रमणार्थं स्थानं प्रेक्ष्य किञ्चित्कालं स्थिताः। भगिनि! मनुजः मनुजस्य आश्रयं प्रार्थयति। व्रजिष्यामो

(हे० ४-८३) ८ मध्ये (देशीयः शब्दः) ९ वेदिकां 'चबूतरा' इतिभाषा १० वातायनेन ११ झगिति १२ तर्हि-तत्र १३ अप्रत्यभिज्ञाताः १४ पथिकाः 'पथो णस्येकट्' (हे०२-१५२) इतिपहिओ-पान्थः।

सयमेव। संपइ किवाए मण उराल किच्चा ण उट्ठाविअव्वा अम्हे'' णिवेइअं सब्भावणाए सेट्ठिणा।

"अलाहि मणुअत्तणोवएसेण? भमति अणेगे पस्सओहरा[1] महुरं जपेमाणा वेस-परिवट्टणेण लोअ पम्हुसता[2]। ता पस्सतु अवर ठाण? ण एत्थ खणमवि चिट्ठिअव्व तुब्भेहिं'' सगरिह फुडं पडिसिद्धं ताए।

एव गिहसामिणीए अवमाणिआ एए झत्ति पोट्टलगं गहिअ अग्गओ सरिआ[3]। हत! को पडिपुच्छेइ दरिद्द-मुद्दिअ-भाग-हेयाण सुह दुहं? आवयाए णिआ अवि पारक्केरा, ता अपरिचिआण तु का कहा? णूण ईइसो एस ससारो। एत्थ अब्भच्छाहिव्व सव्वावि चचला लीला। गाढसिणेहे वि इह अपीईए उग्गमो। दिव्वुज्जोए वि[4] अंसि अंतरहिआ तमिस्सरेहा। महुरालावम्मि वि एत्थ कडुत्तिप्पसंगो। धी धी! तहवि कह संसारीण णाणलोयणा मुद्दिआ? परा-हवति पइपय सज्जुक्का[5] तारिच्छा अणुहवा, तहवि ण कह परिप्फुरेइ अतरंग वेरग्ग? हरे! गाढमावरणमण्णाणस्स। पच्चक्खमवि ण कह घेप्पइ[6] मोहधिट्ठाए मईए।

भाणुमइ समुहीकुणमाणेण सेट्ठिणा साहिअं—"भज्जे! अणणुकूला अहा[7] अम्हेच्चया सपइ। तम्हा एआरिसा पुव्वं अणणुहूआ पसगा आवडंति। तहावि णाइं विमणदुम्मणेहिं होइअव्वं अम्हेहिं। एत्थ हु परिक्खा णे चिरपालिअस्स धम्मस्स। अओ उड्ढ अम्हे ण कस्सइ सरणं[8] वच्चिहामो"।

---

१ पश्यतोहरा २ प्रमुष्णन्त—चोरयन्त ३ चलिता ४ अन्तर्हिता—छन्ना

वयं अपराह्णकाले अग्रतः स्वमेव, संप्रति कृपया मनः उदारं कृत्वा न उत्थापनीया वयम्" निवेदितं सद्भावनया श्रेष्ठिना ।

"अलं मनुजत्वोपदेशेन । भ्रमन्ति अनेके पश्यतोहराः मधुरं जल्पन्तो वेश-परिवर्तनेन लोकं प्रमुष्णन्तः । तस्मात् पश्यन्तु अपरं स्थानम् । न अत्र क्षणमपि स्थातव्यं युष्माभिः" सगर्हं स्फुटं प्रतिपिद्धं तया ।

एवं गृहस्वामिन्या अपमानितौ एतौ झटिति पोट्टकं गृहीत्वा अग्रतः सृतौ ! हन्त । कः प्रतिपृच्छति दारिद्र्य-मुद्रित-भागधेयानां सुखं दुःखम् । आपदि निजाः अपि परकीयाः; तदानीं अपरिचितानां तु का कथा ? नूनं ईदृश एष संसारः । अत्र अभ्रच्छाया इव सर्वापि चञ्चला लीला । गाढस्नेहेऽपि इह अप्रीतेः उद्गमः । दिव्योद्योतेऽपि अस्मिन् अन्तर्हिता तमिस्रारेखा । मधुरालापेऽपि अत्र कटूक्तिप्रसंगः । धिग् धिग् ! तथापि कथं संसारिणां ज्ञानलोचनानि मुद्रितानि । पराभवन्ति प्रतिपदं सद्यस्काः तादृक्षाः अनुभवास्तथापि न कथं परिस्फुरति अन्तरङ्गं वैराग्यम् । अरे ! गाढं आवरणं अज्ञानस्य । प्रत्यक्षमपि न कथं गह्यते मोहदृष्ट्या मत्या ।

भानुमतींसम्मुखी कुर्वता श्रेष्ठिना कथितम्—"भार्ये ! अननुकूलानि अहानि आस्माकानि सम्प्रति । तस्मात् एतादृशाः पूर्वं अननुभूताः प्रसङ्गा आपतन्ति । तथापि न विमनोदुर्मनोभ्यां भवितव्यं आवाभ्याम् । अत्र 'हु' परीक्षा आवयोः चिरपालितस्य धर्मस्य । अतः ऊर्ध्वं आवां न कस्यापि शरणं व्रजिष्यावः । यत्र कुत्रापि स्वाधीनं

५ सद्यस्काः ६ गृह्यते ७ दिनानि ८ आश्रयम् ९ व्रजिष्यामः ।

जत्थ कत्थइ साहीण जीवण जवेहामो ! पलाइअ रित्थ[1] ण दुक्ख-मिग, पर मा गच्छउ अप्पणिअ[2] धण साहिमाणं । किं तेण ताडिअ-सिरेण साण-जीवणेण जत्थ णत्थि णाममेत्तमवि मणुअ—गुण-मुल्लंकणं ।" अज्जउत्ता पमाण'त्ति कहमाणीए भाणुमईए मोणमालंबिअ ।

सरपालिगय-वडरुक्खस्स हेट्ठ[3] अइवाहिओ णेहि मज्झं-दिण-तत्ति[4]-समयो । अवरण्हम्मि पुणो पट्ठिआ एए दक्खिणाए दिसीए । बोलीणाए महुत्तमेत्ताए रयणीए लद्धो दपईहिं सुरक्खिओ एगो वणणिउंजो । तत्थ गहिआ णेहिं पह-विस्संती । वण-फलेहिं कया उअरपुत्ती । पत्थरिआ कयली-दलाण सेज्जा । कय सयण तहिं । परतु णागच्छइ पुत्त-विरह-विद्दुआ णिद्दा । जाउ अच्छिणिमीलण लहता वि पच्चक्ख पुत्त पेक्खेता कहेति—"पुत्त ! मा रुअसु, जणणी-उच्छंग-मुह-वंचिओ तुमं । आमासमीविओ[5] ण सोवि-समयो दक्खिट्ठो जत्थ अम्हाण चिरं विरमालिओ[6] मेलो संभावी । दुव्विहोऽयं कालो वेलाविवागेण बुब्बुअ-विलायं विलीणो होहिइ । सयं णट्ठा भविस्संति सव्वेवि पडिवक्खा संजोगा" एवं कहेता कप्पंता जाव जागरूआ हवंति ताव पुत्तमसक्खं करेता सव्वमिणं सिविणव्व'ति मण्णंता विहिं पच्चारेति[7] । एवं पासाइं परिवट्टमाणेहिं एएहिं जहा कहंचि रयणी उवप्प-हाय णीआ । पच्चहिअं[8] पच्चूसकारिअं आवस्सयं सामाइ-आइ-किच्चं सद्धाए भत्तीए अणुचिट्ठिअं दंपईहिं । आवया-

१ धनम् २ आत्मीयम् ३ अध 'अधसो हेट्ठ (हेम० २-१४१) ४ मध्यन्दिन-तप्तिसमय ५ आशासमीपित. ६ प्रतीक्षित. । यथा—विरमालिअ विहीरिअ

जीवनं यापयिष्यावः । पलायितं रिक्थं न दुःखमिदं, परं मा गच्छतु आत्मीयं धनं स्वाभिमानम् । किं तेन तडितशिरसा श्वान-जीवनेन यत्र नास्ति नाममात्रमपि मनुज-गुण-मूल्याङ्कनम्" । 'आर्यपुत्राः प्रमाणं' इति कथयन्त्या भानुमत्या मौनमालम्बितम् ।

सरः पालिगत-वटवृक्षस्य अधः अतिवाहितः आभ्यां मध्यन्दिन-तप्तिसमयः । अपराह्णे पुनः प्रस्थितौ एतौ दक्षिणस्यां दिशि । व्यतीतायां मुहूर्तमात्रायां रजन्यां लब्धः दम्पतीभ्यां सुरक्षितः एकः वन-निकुञ्जः । तत्र गृहीता आभ्यां पथविश्रान्तिः । वनफलैः कृता उदरपूर्तिः । प्रस्तृता कदली-दलानां शय्या । कृतं शयनं तत्र । परन्तु नागच्छति पुत्र-विरह-विद्रुता निद्रा । जातु अक्षिनिमीलनं लभमानौ अपि प्रत्यक्षं पुत्रं प्रेक्षमाणौ कथयतः—"पुत्र ! मा रोदिहि जनन्युत्सङ्ग-सुख-वञ्चितः त्वम् । आशा-समीपितः न सोऽपि समयो दविष्ठः यत्र अस्माकं चिरप्रतीक्षितो मेलः सम्भावी । दुर्विधोऽयं कालः वेलावि-पाकेन बुद्बुद्-विलायं विलीनो भविष्यति । स्वयं नष्टाः भविष्यन्ति सर्वेऽपि प्रतिपक्षाः संयोगाः" एवं कथयन्तौ कल्पयन्तौ यावत् जागरूकौ भवतः तावत् पुत्रं असाक्षात् कुर्वन्तौ सर्वमिदं स्वप्नरूपमिति मन्वानौ विधिं उपालभेते । एवं पार्श्वे परिवर्तमानाभ्यां आभ्यां यथा कथञ्चिद् रजनी उपप्रभातं नीता । प्रात्यहिकं प्रत्यूष-कालिकं आवश्यकं सामयि-कादि-कृत्यं श्रद्धया भक्त्या अनुष्ठितं दम्पतीभ्याम् । आपत्-कालेऽपि

(पाइयलच्छी-५७०) ७ उपालभन्ते 'उपालम्भेर्झङ्ख-पच्चारवेलवाः (हे० ४-१४६)
८ उपप्रभातम् ९ प्रात्यहिकम् ।

कालम्मि वि ण धम्मकज्जं विम्हरिअव्व'ति सप्पुरिसाणं लक्खणं, अहवा अग्गिपरिक्खुत्तिण्णं सुवण्णं किं ण हवइ देदिप्पमाणं ?

उडअम्मि दिणयरे तओ चलिआ एए अग्गओ। एवं पडिदिअहं अविच्छिण्ण–पयाणेहिं लंबं वत्तणि[1] अइक्कममाणा नाणाविहाणि कट्ठाणि खमेमाणा विविह-भीसण-वणाडवि-पव्वयाखाय-सरिआइअ कह कहमवि उल्लंघेमाणा पुत्त-विसयम्मि बहु विकप्पेमाणा य अंतम्मि दक्खिणापह-तिलय-भूअं णाणाविह–वाणिज्ज-लद्ध-पइट्ठ रम्म दंसणिज्ज वसंत-पुरं णाम णयर पत्ता। कत्थ गंतव्व, किं अणुचिट्ठिअव्वं, कह पाणवित्ती कायव्वा य सम्मं परिचितिअ वीमंसिअं एएहिं। ण परस्सयीहूअं जीवण जीविअव्वं'ति पुव्वणिच्छयाणुसारेण ण णयरम्मि गया इमे। किंतु पुरस्स बाहिं सुरम्मथलम्मि एग उडजं[2] णिम्माय मट्टिआ-गोमयेण लिपिअ सव्वं ववत्थिअं काऊण सुह तत्थ णिवसिआ दंपइणो। आजीविआ-णिमित्तं सेट्ठिणा आणिओ मोल्लेण एगो कुढारो। अडविऊण अडविं आणेइ कट्ठभारिअं, विक्किणेइ य णयरमज्झयारम्मि। ताए जं पत्तं हवइ तेण समयण्णू भाणुमई आयाणुरूवं ववंती संतुट्ठं गाहत्थं संचालेइ। देसंतरम्मि केणइ अणुवलक्खिआ एए तारिसेण साहारणेण कम्मुणा वि अविलिआ[3] वेलं अइ-वाहयंति।

जाला[4] आयण्णिअं मम्मणेण जं जिणदत्तो भज्जा विइओ केणावि अनक्खिओ जणरवेण लज्जिओ तुण्हिक्को

१ वर्त्तनी-मार्ग, यथा—मग्गो पथो सरणी, अध्दाण वत्तिणी पहो

न धर्मकार्यं विस्मर्तव्यम्' इति सत्पुरुषाणां लक्षणम्। अथवा अग्नि-परीक्षोत्तीर्णं सुवर्णं किं न भवति देदीप्यमानम् ?

उदिते दिनकरे ततः चलितौ एतौ अग्रतः। एवं प्रतिदिवसं अविच्छिन्न-प्रयाणैः लम्वां वर्त्तनीं अतिक्रामन्तौ नानाविधानि कष्टानि क्षममाणौ विविध-भीषण-वनाटवि-पर्वताखात-सरिदादिकं कथंकथमपि उल्लङ्घयन्तौ पुत्रविषये वहुविकल्पयन्तौ च अन्ते दक्षिणापथ-तिलक-भूतं नानाविध-वाणिज्य-लब्धप्रतिष्ठं रम्यं दर्शनीयं वसन्तपुरं नाम नगरं प्राप्तौ। कुत्र गन्तव्यं, किं अनुष्ठातव्यं, कथं प्राणवृत्तिः कर्त्तव्या च सम्यक् परिचिन्तितं विमृष्टं एताभ्याम्। 'न पराश्रयीभूतं जीवनं जीवितव्यं' इति पूर्वनिश्चयानुसारेण न नगरे गतौ इमौ। किन्तु पुरस्य वहिः सुरम्यस्थले एकं उटजं निर्माय मृत्तिका-गोमयेन लिम्प-यित्वा सर्वं व्यवस्थितं कृत्वा सुखं तत्र न्युषितौ दम्पती। आजीविका-निमित्तं श्रेष्ठिना आनीतो मूल्येन एकः कुठारः। अटयित्वा अटवीं आनयति काष्ट-भारिकां, विक्रीणाति च नगरमध्ये। तया यत् प्राप्तं भवति तेन समयज्ञा भानुमती आयानुरूपं व्ययमाना सन्तुष्टं गार्हस्थ्यं सञ्चालयति। देशान्तरे केनाऽपि अनुपलक्षितौ एतौ तादृशेन साधा-रणेन कर्मणाऽपि अव्रीडितौ वेलां अतिवाहयतः।

यदा आकर्णितं मन्मनेन यद् जिनदत्तो भार्याद्वितीयः केनापि अलक्षितो जन-रवेण लज्जितः दुर्विधिना तर्जितः तूष्णीकः निशीथिन्यां

निसीहिणीए[1] सत्तर पलाणो[2]'त्ति' । ताला किविणस्स मणो पमोअ-मेउरो जाओ । अहह ! सुह मे अइ सुहं ! अणायासं मह[3] मणोभावणा फलवई हवीअ[4] । दायव्व-दविण-वुड्ढी-भार-विखुध्दो अहमण्णो ण कयाइ पच्चावलिहिइ एत्थ वराओ जिणदत्तो । आगास[5]-कुसुमाइआ इमिआ कप्पणा जमेसो पच्चावलिओ सतो सक्कुसीअयं[6] दव्व उत्तमण्णाणं पच्छाकरिस्सइ, तहेव पुत्त पुण णेहिइ सो णिअ गेहं 'ति तओ णीसदेह भूओ मे गिहप्पईवो रयणवालो बालो । दइव-किवाए कहमवि अपूरणिज्जा खई पुण्णा । दुब्भरं अखायं विहिणा समलल भूअं । नूणं उप्पण्णो मे महाकट्ठ-संचिआए विभूईए भविस्सतो सामी । एव कप्पणा-महुरं भविस्सं चिंतेतो णिग्घिणो वि मम्मणो करेइ अणेग-जयणाइं डिभट्ठ[7] । हणिहणि[8] वड्ढमाणो अंकाओ अक साहरिज्जमाणो छावो अईव पिओ पडिभासेइ । आणिआणि अणेगाणि कीलणयाणि पोअ-मण-परितुट्ठिकारयाणि । आगरिसण-कारगेहिं वत्थेहिं चिचिल्लिओ,[9] लहू-सोवण्णिअ-वलएहिं हत्थेसु[10] समलकिओ, मोत्तिअ-मालाए कंठम्मि मंडिओ, महग्घेहिं ताडकेहिं कण्णेसु[11] पसाहिओ य एसो । मा एए नयणदोसो होउ 'त्ति कज्जल-बिंदूहिं णिडालम्मि बाहु-जुअलम्मि य सामलिओ[12] । कि बहुणा, ण णाममेत्ता वि तुडी विज्जइ अस्स परिवालणम्मि ।

इअ सिरिचंदणमुणि-विरइआए पुत्तजम्म-देसचाअ-वसतपुरागमणाइभावसंजुत्ताए रयणवाल-कहाए बीओ ऊसासो समत्तो ॥२॥

सत्वरं पलायितः इति। तदा कृपणस्य मनः प्रमोद-मेदुरं जातम्। अहह! शुभं मे अति शुभम्! अनायासं मम मनोभावना फलवती अभूत्। दातव्य-द्रविण-वृद्धिभार-विक्षुब्धः अधमर्णो न कदापि प्रत्याव लिष्यते अत्र वराको जिनदत्तः। आकाश-कुसुमायिता इयं कल्पना यत् एष प्रत्यावलितः सन् सकुसीदकं द्रव्यं उत्तमर्णेभ्यः पश्चात् करिष्यति, तथैव पुत्रं पुनः नेष्यति स निजं गृहम् इति। ततः निस्सन्देहं भूतो मे गृहप्रदीपः रत्नपालो बालः। दैवकृपया कथमपि अपूरणीया क्षतिः पूर्णा। दुर्भरं अखातं विधिना समतलं भूतम्। नूनं उत्पन्नो मे महाकष्टसञ्चितायाः विभूत्याः भविष्यन् स्वामी। एवं कल्पना-मधुरं भविष्यं चिन्तयन् निर्घृणोऽपि मन्मनः करोति अनेकयत्नान् डिम्भार्थम्। अहन्यहनि वर्धमानः अङ्कात् अङ्कं संह्रियमाणः शावोऽतीव प्रियः प्रतिभासते। आनीतानि अनेकानि क्रीडनकानि पोतमनः-परितुष्टि कारकाणि। आकर्षण-कारकैः वस्त्रैः विभूषितः, लघुसौवर्णिक—वलयाभ्यां हस्तयोः समलंकृतः, मौक्तिकमालया कण्ठे मण्डितः, महार्घ्याभ्यां ताडङ्काभ्यां कर्णयोः प्रसाधितः एषः। मा 'णं' नयनदोषो भवतु इति कज्जल-विन्दुभिः ललाटे बाहुयुगले च श्यामलितः। किं बहुना, न नाममात्राऽपि त्रुटिः विद्यते अस्य परिपालने।

इति श्रीचन्दनमुनिविरचितायां पुत्र-जन्म-देशत्याग—
वसन्तपुरागमनादिभावसंयुक्तायां रत्नपाल-
कथायां द्वितीयः उच्छ्वासः समाप्तः

---

१ निशिथिन्याम-रात्रौ २ पलायितः ३ मम ४ अभूत् ५ आकाश-कुसुमायिता ६ सकुसीदकम् ७ अहन्यहनि ८ विभूषितः ९ श्यामलितः।

३

अह तइओ ऊसासो



समत्थ[1]-जीवलोअ-तत्तिणिवारगो, णाणाविह-तरु-लया-पुप्फ-फल-गुम्म-विचित्त-तणोसहि-उप्पायगो, णिज्जल-पएसेग-जीवणाहारो, हालिएहिं अणिमिस-दिट्ठीए दिट्ठिआ[2] चिरं विहीरिओ[3] उब्भूओ पाउसिओ कालो। रोलब-गवल-कालिआवि णयणाहिरामा, उट्ठाविअ-धूलि उक्केरा वि णीरया, कयंधयारा वि उज्जोइअ-माणसा, चंचल-पयासावि लक्खिअ[4]-अज्जंतुज्जलपयासा, कण्णजाह-भेअ थणंती वि अईव कण्णप्पिआ, पाईण-पवण-पेरिआ वि सज्जुक्का, उट्ठिआ अंबरम्मि कायंबिणी[5]। अज्जेव इयाणिमेव सव्वेसिं संतुट्ठिं करेमि'त्ति वरिसिउं पउत्ता धारासारेण सा। जलजलाइअं जायं सव्वओ सगयणं भूअलं। ण अम्हाणं संगहो रोअए ईईव

१ समस्तजीवलोकतप्तिनिवारक २ दृष्ट्वा-सम्मदेनेत्यर्थः ३ प्रतीक्षित

३

अथ तृतीयः उच्छ्वासः



समस्त-जीवलोक-तप्ति-निवारकः नानाविध-तरु-लता-पुष्प-फल-गुल्म-विचित्र-तृणौषध्युत्पादकः, निर्जलप्रदेशैकजीवनाधारः हालिकैर-निमिषदृष्ट्या दिष्ट्या चिरं प्रतीक्षितः उद्भूतः प्रावृषिकः कालः। रोलम्ब-गवल-कलिकाऽपि नयनाभिरामा, उत्थापितधूल्युत्कराऽपि नीरजाः, कृतान्धकारापि उद्योतित-मानसा, चञ्चलप्रकाशापि लक्षिता-ऽऽयत्युज्ज्वल-प्रकाशा, कर्णजाहभेदं स्तनन्ती अपि अतीव कर्णप्रिया, प्राचीन-पवन-प्रेरिताऽपि सद्यस्का, उत्थिता अम्बरे कादम्बिनी। 'अद्यैव इदानीमेव सर्वेषां सन्तुष्टिं करोमि' इति वर्षितुं प्रवृत्ता धारासारेण सा। जलजलायितं जातं सर्वतः सगगनं भूतलम्। न अस्मभ्यं संग्रहो रोचते इतीव मूसलधारं मन्ये पतितुं लग्नाः प्रणालाः।

---

४ लक्षित-भविष्यदुज्ज्वल-प्रकाशा ५ कादम्बिनी-मेघमाला।

मूसलधार मणे पडिउं लग्गा पाणीला। अणेग-णईरूव-मुररीकयं णयरवीहीहिं। उण्णीरा संभूआ खणेण तलिमणीरा अवडा[1]। उप्पवाहा[2] जाया जलरासिं धारेउमक्खमा तुच्छा तडागा। पडिपुण्णाओ निण्णगाओ विअड-तडाओ संजायाओ। णट्ठं तत्तीए णामहेयं। कण्णं गओ सव्वेसिं सव्वओ समयमहुरो दद्दुराण रावो। विणिद्दा जाया चिर-मुच्छिआ जीवणधण पप्प वणराई। कया किसि-कारगेहिं किसि-उवगरणेहिं सद्धिं बल्लद्द-पूआ! लक्खिअ-णक्खत्तवला गहिअ-मुह-सउणा केआराहिमुहं[3] णिग्गया एए बीअ-वत्रणट्ठं। अहो! सव्वगिअं सुंदेर पत्थरिअं समंतओ।

इओ सुविहिअ पच्चूस कालिअ-धम्म-कज्जो जिणदत्तो खंधारोविअ-कुढारो चलिओ कट्ठहारगेहिं सद्धिं कट्ठभारं णेउं वणाहिमुहं, परंतु सुदुल्लहा जाया सुक्क-कट्ठ-सपत्ती तारिसे पाउस-कालम्मि। जत्थ पस्सइ तत्थेव परिहरिअ[4]-हरिअ-कुप्पासा छज्जए[5] पुढवी। सुक्का कुडिल्ला[6] वि लद्धाऽहिणव-कुंचला-ओवासए[7] रुक्खाण ओली। कुड्डं[8]! णत्थि ओआसो किर सुक्काण रुक्खाणं। अत्थि णियमो जिणदत्तस्स हरिअ-रुक्खे छेउं गहिअ-दुआलस-सावग-वयेसु। बहुगविट्ठमवि ण पत्तं सुक्कं कट्ठं कत्थइ एएण। संपइ किं कायव्वं'ति चिंतापरो संवुत्तो सो। रक्खिए वयम्मि ण सुरक्खिआ चिट्ठइ आजीविआ। अण्णेहिं कट्ठहारेगेहिं विसयं[9] वज्जरिअं—"भद्दोसि तुमं ण जाणासि जं संपइ

---

१ अवटा—कूपा २ उत्प्रवाहा ३ केदाराभिमुखम्-क्षेत्राभिमुखम् ४ परिधृत-हरितकूर्पासा ५ शोभते—यथा—अग्घइ, छज्जइ, रेहइ, विरायए, सोहए

अनेकनदीरूपं उररीकृतं नगरवीथिभिः। उन्नीराः सम्भूताः क्षणेन तलिमनीराः अवटाः। उत्प्रवाहा जाताः जलराशिं धारयितुं अक्षमाः तुच्छास्तटाकाः। प्रतिपूर्णाः निम्नगाः विकटतटाः सञ्जाताः। नष्टं तप्तेर्नामधेयम्। कर्णं गतः सर्वेषां सर्वतः समय-मधुरो दर्दुराणां रावः। विनिद्रा जाता चिर-मूर्च्छिता जीवन-धनं प्राप्य वनराजी। कृता कृषिकारैः कृष्युपकरणैः सार्धं वलीवर्द-पूजा। लक्षित-नक्षत्र-वलाः गृहीत-शुभशकुनाः केदाराभिमुखं निर्गताः एते बीज-वपनार्थम्। अहो ! सर्वाङ्गीणं सौन्दर्यं प्रस्तृतं समन्ततः।

इतः सुविहित-प्रत्यूष-कालिक-धर्मकार्यो जिनदत्तः स्कन्धारोपित-कुठारश्चलितः काष्ठहारकैः सार्धं काष्ठभारं नेतुं वनाभिमुखम्, परन्तु सुदुर्लभा जाता शुष्क-काष्ठ-सम्प्राप्तिः तादृशे प्रावृट्काले। यत्र पश्यति तत्रैव परिधृत-हरित-कुर्पासा राजते पृथ्वी। शुष्का कुटिला अपि लब्धाभिनव-कुड्मला शोभते वृक्षाणां आली। कुड्डं (आश्चर्यम्) नास्ति अवकाशः किल शुष्काणां वृक्षाणाम्। अस्ति नियमो जिन-दत्तस्य हरित-वृक्षान् छेत्तुं गृहीत-द्वादश-श्रावक-व्रतेषु। बहु गवेषित-मपि न प्राप्तं शुष्कं काष्ठं कुत्रापि एतेन। सम्प्रति किं कर्त्तव्यमिति चिन्तापरः संवृत्तः सः। रक्षिते व्रते न सुरक्षिता तिष्ठति आजीविका। अन्यैः काष्ठहारकैर्विशदं कथितम्—"भद्रोऽसि त्वम्, न जानासि यत्

सहइ (पा० १५२) ६ कुडिल्ला-कुब्जा : (दे०) 'टेढा मेढा' इतिभाषा ७ शोभते ८ आश्चर्यम् (दे०) ९ विशदम्।

वट्टए वरिसा-समयो। णियम-परिवालणत्तो आवस्सयं उइअं च कुच्छि-परिवालण। णत्थि आवइ-काले मज्जाद'त्ति विइआ॰ लोगुत्ती। ता मुअसु, अण्णाण-पडिवण्णं सुहकाल-पालणिज्जं पइण्ण। णिवहतु ते धम्म-णियमे जे संति धणड्ढा विउल-विभूइमंता जेसिं ण काइ विढवण-चिंता॰। तएजारिसाणं॰ कए कत्थ धम्म-मंदिर-पवेसणावयासो। ता छिंदसु, भो! छिंदसु, हरिअ-कट्ठाण णिउरंबं।"

अणुइअमुईरणं॰ तेसिं धम्मिट्ठ-सेट्ठिस्स ण रुइअं। उद्दित्त-णाण-गहिरिअं पच्चुत्तरिअं सेट्ठिणा—"ण मुणिअ भो! तुब्भेहिं धम्म-तत्त। ण धम्मायरणम्मि लच्छी-पुत्ताणं धण-दरिद्दाणं वा परिविसेसो। लद्धतत्तो चुच्छोवि अचुच्छ धम्मकारगो। रहस्सवंझो ईसरो वि धम्म काउमणीसरो। णूणं आवयाए च्चिअ रेहइ॰ कसवट्ट-वट्टिअं-सुवण्णव्व धम्मो। उअर-परिवालणं तु साणो वि करेइ समत्ता भममाणो। तत्थ किं चोज्जं॰? मणुअस्स एसो चिय माहप्पो जमेसो पाणेहिं पि माहप्पमप्पेइ अणुत्तरस्स धम्मस्स। सुक्किकधणाणं पत्ती वि कह ण हविस्सइ, जयाह अवीसाम परिस्समं करिस्सं। विमग्गिअ किं ण अग्गओ आयाहिइ? तोडिअ-वयाणं किं जीवण जीवणं? अक्खय-पइण्णाण दुहंपि सुहकरं। तम्हा मए ण कयावि जहणिज्जं॰ वयं।" एवं साहेऊण एगागी णिब्भओ सेट्ठी सुक्क-कट्ठ-लद्धीए गहण-वणम्मि गओ। भिस-मण्णेसणा कया णेण, परतु ण एगावि अचित्त-कट्ठ-लट्ठी॰ हत्थमागया इम्मस्स। तहवि अणुआसीणो रित्त-हत्थो पच्चा-वलिओ गिहंमि विलबेण सेट्ठी?

सम्प्रति वर्तते वर्षासमयः। नियम-परिपालनतः आवश्यकं उचितं च कुक्षि-परिपालनम्। 'नास्ति आपत्काले मर्यादा' इति विदिता लोकोक्तिः। तस्मात् मुञ्च, अज्ञान-प्रतिपन्नां सुखकाल-पालनीयां प्रतिज्ञाम्। निर्वहन्तु ते धर्म-नियमान् ये सन्ति धनाढ्याः विपुल-विभूतिमन्तः येषां न कापि अर्जन-चिन्ता। त्वादृशानां कृते कुत्र धर्म-मन्दिर-प्रवेशनावकाशः। तस्मात् छिन्धि भोः! छिन्धि हरित-काष्ठानां निकुरम्बम्।"

अनुचितं उदीरणं तेषां धर्मिष्ठ-श्रेष्ठिने न रुचितम्। उद्दिप्त-ज्ञानगाम्भीर्यं प्रत्युत्तरितं श्रेष्ठिना—"न ज्ञातं भोः! युष्माभिर्धर्म-तत्त्वम्। न धर्माचरणे लक्ष्मी-पुत्राणां धन-दरिद्राणां वा परिविशेषः। लब्धतत्त्वः तुच्छोऽपि अतुच्छ-धर्मकारकः। रहस्यवन्ध्यः ईश्वरोऽपि धर्मं कर्तुं अनीश्वरः। नूनं आपदि एव राजते कषपट्टवर्तितं सुवर्णवद् धर्मम्। उदर-परिपालनं तु श्वानोऽपि करोति समन्तात् भ्रमन्। तत्र किं चोज्जं (आश्चर्यम्)? मनुजस्य एतदेव माहात्म्यं यत् एष प्राणैरपि माहात्म्यमर्पयति अनुत्तराय धर्माय। शुष्केन्धनानां प्राप्तिरपि कथं न भविष्यति यदाहं अविश्रामं परिश्रमं करिष्यामि। विमार्गितं किं न अग्रतः आयास्यति? त्रोटित-व्रतानां किं जीवनं जीवनम्? अक्षत-प्रतिज्ञानां दुःखमपि शुभंकरम्, तस्मात् मया न कदापि हातव्यं व्रतम्। एवं कथयित्वा एकाकी निर्भयः श्रेष्ठी शुष्क-काष्ठ-लब्धये गहन-वने गतः। भृशं अन्वेषणा कृता अनेन, परन्तु न एका पि अचित्तकाष्ठयष्टिः हस्तमागता अस्य। तथापि अनुदासीनो रिक्तहस्तः प्रत्यावलितः गृहे विलम्बेन श्रेष्ठी।

इओ पडिक्खमाणा पइदेवं भाणुमई ट्ठिआ उडज-दुवारम्मि । कह णागया अहुणावहि अज्जउत्ता ? किं णवीणमरिट्ठं उप्पण्णा ? एवं चिरपडिवालेमाणीए ताए णयणपहमोइण्णो रयणवाल-पिआ । मोअ-मेउरा जाया जाया । रणरणयमावण्णाए[1] ताए उट्टंकिअं—"कहं चिराइयं अज्ज अज्जउत्तेहिं ? कहमुव्वायं[2] दीसइ भे अंगं ? कत्थ विच्छड्डिआ[3] सिरम्मि णिज्जंती[4] इंधण-भारिआ ।" एवं पेमिल्लाए सहम्मिणीए अणेगाओ पण्हाओ[5] पत्थुआओ ।

तत्त-गहिर-मुद्दाए[6] सेट्ठिणा पयडीकयं—"पिये ! अत्थि पाउस-कालो । दुल्लहं सुक्कं कट्ठं । तं ढुंढुल्लमाणेण[7] मए एत्तिल्लो[8] समयो अइवाहिओ, परंतु ण लद्धं जहेच्छिअं वत्थु । वय-भंग-भीरुणा मए ण आणिअं सच्चित्तं कट्ठं । तो रित्तहत्थो किर पुण आगओ म्हि । रयणमायरं ! णिच्चलं रक्खिअं वयं णिच्छिय रक्खा-कारगं हवइ ।"

"सम्मं चिंतणं अज्जउत्ताणं । ण तुच्छ-भंगुर-पोग्गलिअ-सुहाण कए ण अतुच्छामरज्झत्थ-सुहाणं हाणिं करेइ सुण्ण-मणुओ[9] । सुवे परज्जु वा जं पावणिज्जं तं पाविस्सामो, का चिंता ।" णिवेइयं पियधम्माए सहम्मिणीए णिब्भयं ।

एअं खु सुधम्म-पत्तीए पच्चक्खं णिदंसणं । अहो ! एआरिसीए आवयाए वि ण एएसिं मणो चाविल्लं पत्तो । बिइओ दिअहो वि अलद्ध-लक्खो णिग्गओ । तइअम्मि दिवसम्मि णीरध-वणविभागे बंभम्ममाणेण सेट्ठिणा एगाए

---

१ रणरणक-औत्सुक्यम् २ परिश्रान्त ३ विच्छर्दिता-त्यक्ता ४ नीयमाना ५ प्रश्नशब्दः प्राकृते स्त्रीलिङ्गेऽपि, यथा—पण्हावागरण ६ तत्त्वगम्भीरमुद्रया ।

इतः प्रतीक्षमाणा पतिदेवं भानुमती स्थिता उटज-द्वारे। कथं नागताः अधुनावधि आर्यपुत्राः ? किं नवीनं अरिष्टं उत्पन्नम् ? एवं चिर-प्रतिपालयन्त्याः तस्याः नयनपथं अवतीर्णो रत्नपालपिता। मोदमेदुरा जाता जाया। रणरणकं आपन्नया तया उट्टङ्कितम्—"कथं चिरायितं अद्य आर्यपुत्रैः? कथं उद्वातं दृश्यते युष्माकं अङ्गम् ? कुत्र विच्छर्दिता शिरसि नीयमाना इन्धनभारिका।" एवं प्रेमवत्या सधर्मिण्या अनेके प्रश्नाः प्रस्तुताः।

तत्त्व-गम्भीर-मुद्रया श्रेष्ठिना प्रकटीकृतम्—"प्रिये ! अस्ति प्रावृट्कालः। दुर्लभं शुष्कं काष्ठम्। तद् गवेपयता मया इयान् समयोऽतिवाहितः, परन्तु न लब्धं यथेष्टं वस्तु। व्रत-भङ्ग-भीरुणा मया न आनीतं सचित्तं काष्ठम्। ततः रिक्तहस्तः किल पुनः आगतोऽस्मि रत्नमातः! निश्चलं रक्षितं व्रतं निश्चितं रक्षाकारकं भवति।

"सम्यक् चिन्तनं आर्यपुत्राणाम्। न तुच्छ-भङ्गुर-पौद्गलिक-सुखानां कृते अतुच्छामराव्यात्मसुखानां हानिं करोति सुज्ञमनुजः। श्वः परेद्युः वा यत् प्रापणीयं तत् प्राप्स्यामः, का चिन्ता ?" निवेदितं प्रिय-धर्मिण्या सधर्मिण्या निर्भयम्।

एतत् खलु धर्म-प्राप्तेः प्रत्यक्षं निदर्शनम्। अहो ! एतादृश्यां आपदि अपि न एतयोः मनः चापल्यं प्राप्तम्। द्वितीयः दिवसोऽपि अलब्ध-लक्ष्यो निर्गतः। तृतीये दिवसे नीरन्ध्र-वन-विभागे वम्भ्रम्य-

---

७ गवेपयता—'गवेपेर्ढंण्ढुल्ल-ढण्डोल-गमेस-धत्ताः' (हे० ४-१८६) ८ इयान् 'इदं किमश्चडेत्तिअ-डेत्तिल्ल-डेद्दहाः' (हे० २-१५७) ६ सुज्ञमनुजः।

गिरिकदरीए दिव्व-णियम-प्पहावेण अमरचदणस्स संघाओ दिट्ठो। णिभालिऊण जहेच्छिअ दव्व पसण्णमणो सेट्ठिओ जाओ, कितु विहि-दोसेण दक्खेणावि एइणा[1] ण लक्खिअ हरिचदणं'ति। धी धी धी ! विवरीए विहिम्मि चेअणावि चुक्किअ[2]-केअणा संपज्जइ। संदाणिओ दढो तस्स भारो तक्काल। मत्थयम्मि काऊणं णयर-दिसं पच्चावलिओ। णयर परिसरम्मि एज्जतस्स धुत्त-सिरोमणी धणदत्तो उप्फुल्ल-वयण-कमलो वि कलुसिअंतक्करणो अकम्हा समुह-मागओ। महमहिअ[3] कट्ठभारमवगतूण अच्चंतं विक्खापण्णो[4] सो। अहो ! अस्स अयाणगस्स सिरंसि अमरचंदणं कुओ आगय ? अहवा घुणक्खरोयणाओ[5] एत्थ सगओ। किं वा ण लद्धो बालिस[6]-बंभणेण चितामणी ? जाउ पयडी वि कोउहल्ल-तप्परा हवउ। गिण्हेमि किर अस्स मूढयाए अतुल्लं लाह। पचक्खमवि गधुग्गिरणं[7] जेण ण लक्खिज्जइ तेण मूढेण चंदण-सब्भावोवि णूणमलक्खिओ हवेज्जा। इअ विचितिऊण-उसलिअ[8]-रोमकूओ धुत्तताए सप्पेमं जिणदत्तं वाहरिउ पउत्तो—"भायरं ! किं विक्केअणिज्जमिंधणमिणमो ? जइ अत्थि ? तरिहि जहोचिअ-मुल्लमग्गणं कायव्व। सप्पुरि-साण एसा च्चिय पणाली जं ते ण मुहेण मिच्छा जंपणं कुव्वति। एगहुत्तं कहिअं ण उण परावत्तति। मुहागिईए तुमं पि 'भद्दपुरिस'त्ति लक्खिज्जसि। ता जहेच्छं मोल्लमाविक्क-रणिज्ज। अहमवि ण तं परावत्तिस्सं समुइअं।" आयण्णिअ

---

१ एतेन २ स्खलितचेतना 'चुक्कादेश.' ३ प्रस्फुटद्-गन्धम् ४ वीक्षापन्न.—

माणेन श्रेष्ठिना एकस्यां गिरिकन्दरायां दिव्य-नियम-प्रभावेण अमरचन्दनस्य सङ्घातः दृष्टः। निभालयित्वा यथेष्टं द्रव्यं प्रसन्नमनाः श्रेष्ठिकः जातः किन्तु विधि-दोषेण दक्षेणापि एतेन न लक्षितं हरिचन्दनम् इति। धिग्! धिग्! विपरीते विधौ चेतनापि स्खलित-केतवा सम्पद्यते। सन्दानितो दृढस्तस्य भारः तत्कालम्। मस्तके कृत्वा नगरदिशं प्रत्यावलितः। नगरपरिसरे आयतः तस्य धूर्त-शिरोमणिः धनदत्तः उत्फुल्लवदन-कमलोऽपि कलुषितान्तःकरणः अकस्मात् सम्मुखमागतः। महमहिअं (प्रस्फुटद्गन्धं) काष्ठभारं अवगम्य अत्यन्तं वीक्षापन्नः सः। अव्वो! अस्य अज्ञानकस्य शिरसि अमरचन्दनं कुतः आगतम्? अथवा घुणाक्षरीयन्यायोऽत्र सङ्गतः। किं वा न लब्धो बालिश-ब्राह्मणेन चिन्तामणिः? जातु प्रकृतिरपि कुतूहल-तत्परा-भवति। गृण्हामि किल अस्य मूढतायाः अतुल्यं लाभम्। प्रत्यक्षमपि गन्धोद्गीर्णं येन न लक्ष्यते तेन मूढेन चन्दन-सद्भावोऽपि नूनं अलक्षितः भवेत्। इति विचिन्त्य उल्लसित-रोमकूपः धूर्ततया सप्रेम जिनदत्तं व्याहर्तु-प्रवृत्तः—"भ्रातः। किं विक्रेतव्यं इन्धनमिदम्? यदि अस्ति तर्हि यथोचित-मूल्य-मार्गणं कर्त्तव्यम्। सत्पुरुषाणां एषा एव प्रणाली यत् ते न मुखेन मिथ्या जल्पनं कुर्वन्ति। एकवारं कथितं न पुनः परावर्तन्ते। मुखाकृत्या त्वमपि 'भद्रपुरुषः' इति लक्ष्यसे। तस्माद् यथेष्टं मूल्यं आविष्करणीयम्। अहमपि न तत् परावर्त-

---

विस्मयं गतः ५ घुणाक्षरीयन्यायः ६ मूर्खब्राह्मणेन ७ गन्धोद्गिरणम् ८ उल्लसित-रोमकूपः।

मुणिज्जमाण-सब्भ-पुरिसस्स वग्गु[1]-भणिइ उज्जुहिअयो अलद्ध-वयणा-रहस्सो णिआसयेण परासयमंकेमाणो सेट्ठी आणंदिओ जाओ, साहेउ च पउत्तो–"सुकई ! सुट्ठु वागरण भवओ, णाह काहं[2] मुहा पलावं। णूणं विक्केअणिज्जो मए कट्ठभारो। अण्णहा कहमम्हारिसाणं चलइ गिहत्थासमो ? णिच्च णव-खणिअ-कूवस्स णीरं पिएमो अम्हे। णो भवारिसाण पिव कोसपरिवड्ढणावसरो अम्हारिसाण। भारिआए ताव मोल्ल केवलमड्ढीइज्जाणयमेत्त[3]। ण इओ अइरित्त ण उण ऊणय जइ घेतव्व तरिहि .....।"

अलक्खियामरचंदणोदपज्जस्स[4] रिजुमइणो जिणदत्तस्स भारहिं णिसमिऊण पयारण-कुसलो सो हट्ठतुट्ठो जाओ। "साहुं साहुं भो भद्द ! समुइअ मोल्ल तुमए मग्गिअं, मए वि एद्दहमेत्तमेवाणुमिअ"। महाकढिणायासस्स तुम्हारिसाणं जहत्थं मुल्लंकणं कायव्वमम्हारिसेहि; इअरहा सेअ-बिंदु-सित्तो कओ परिस्समो अवमणिज्जइ। हदि ! केरिसमंधयारं ! जे सयय[5] परिस्समेता, ससरीर-मुहमवि अवगणेता, सीआतवाइ-किलेसं सहेता, दुहिआ पिवासिआ अलद्धावासा अणासाइअ-विज्जाब्भासावसरा लुक्का[6] तहा णगिणा अवेक्खि[7]-ज्जंति, दुगु च्छिज्जंति य। तओ विवरीआ पर-परिस्सम-लाहलोलुहा णाणा-कुडिल-कला-कलाव-कोविआ हिअय-विहूणा मणुअ-धम्मवंझा धणकुबेरा विसालावासा वत्थालंकार-विहूसिआ णाणावाहण-परिइण्णा पिचंडिला अलसा चिट्ठंति,

---

१ वल्गुभणितिम् २ करिष्ये ३ अढाई आना ४ अलक्षितामरचन्दनौदप्य-

यिष्यामि समुचितम्"। आकर्ण्य ज्ञायमान-सभ्यपुरुषस्य वल्गुभणितिं ऋजुहृदयोऽलब्ध-वञ्चना-रहस्यो निजाशयेन पराशयं अङ्कयन् श्रेष्ठी आनन्दितो जातः, कथयितुं च प्रवृत्तः—"सुकृतिन्! सुष्ठु व्याकरणं भवतः। नाहं करिष्ये मुधाप्रलापम्। नूनं विक्रेतव्यः मया काष्ठभारः। अन्यथा कथं अस्मादृशानां चलति गृहस्थाश्रमः? नित्यं नव-खनित-कूपस्य नीरं पिबामोवयम्। नो भवादृशानामिव कोश-परिवर्धना-वसरोऽस्मादृशानाम्। भारिकायास्तावत् मूल्यं केवलं सार्धद्वयाण-कमात्रम्। न इतोऽतिरिक्तं न पुनः ऊनकं, यदि गृहीतव्यं तर्हि.......।

अलक्षितामरचन्दनैदम्पर्यस्य ऋजुमतेः जिनदत्तस्य भारतीं निशम्य प्रतारण-कुशलः सहृष्ट-तुष्टः जातः। साधु साधु भो भद्र! समुचितं मूल्यं त्वया मार्गितम्, मयापि एतावन्मात्रमेव अनुमितम्। महाकठिना-यासस्य त्वादृशानां यथेष्टं मूल्याङ्कनं कर्त्तव्यं अस्मादृशैः, इतरथा स्वेद-बिन्दु-सिक्तः कृतः परिश्रमः अवमन्यते। हन्दि! कीदृशं अन्धकारम्? यत् सततं परिश्राम्यन्तः, स्वशरीरसुखमपि अवगणयन्तः, शीततापादिक्लेशं सहमानाः, क्षुधिताः पिपासिताः अलब्धावासाः अनासादित-विद्याभ्यासावसराः रुग्णाः तथा नग्नाः उपेक्ष्यन्ते, जुगुप्स्यन्ते च। ततः विपरीताः पर-परिश्रम-लाभ-लोलुभाः नाना-कुटिल-कला-कलाप-कोविदाः हृदय-विहीनाः मनुज-धर्म-वन्ध्याः धनकुबेराः विशालावासाः वस्त्रालङ्कार-विभूषिताः नाना-वाहन-परिकीर्णाः पिचण्डिलाः अलसाः

र्यस्य-अज्ञातहरिचन्दनरहस्यस्य इत्यर्थः ५ एतावन्मात्रम् ६ सततम् ७ रुग्णाः ८ उपेक्ष्यन्ते।

मोयंति, कीलंति, जं किमवि जंपेमाणा य पगब्भंति"' ।
पिसुणिअं धणदत्तेण ।

चित्तं ! धुत्तसेहराणं अलक्खणिज्जा वंचणाणाली ।
वयणेसु अण्ण, अण्णं पुण विआरेसु । तेसिं महुरं जंपणमवि
विस-मीसिअं । तेसिं हसिरा आगिई वि कसाय-कलुसा विगिई ।
तेसिं सम्माण-दाणं पि अलक्खिअ-मायाविआएं । खणं पि
तेसिं संगई, पच्चक्खं दुग्गई । अहवा किमेआरिस कज्ज-
मकरणिज्जं जं ण समायरेइ दुज्जणो जणो ? अलं तेसिं
कहाहिं ।

पुणरवि वयणेण महुलित्त-खग्ग-धारा-समाए सरस्सईए[२]
पवंचिअ–"ता सोम्म ! एहि मए सद्धिं मह-गिहपेरंत, देमि
तिण्णि आणयाणि तुह । अत्थि मणुअ-दिट्ठीए तुममवि
भायरो मे, किं बहु-प्पलावेण ?

केरिसो किवालु'त्ति कप्पेंतो भद्दो जिणदत्तो तमणु-
गओ । छूढो[३] कट्ठभारो । गहिआणि वारमाणेणावि तेण
पसज्झ दिज्जमाणाणि तिण्णि आणयाणि । "ण अओ
उड्ढं तुमए कत्थइ भमिअव्वं कट्ठभार विक्केउं पइदिणं ।
अहमेव निच्छिअ-मोल्लेण गहिस्सं तं । किं किं ण जुज्जइ
जेट्ठासमीरए गिहम्मि, कट्ठं तु पुण णिच्चं वावारणिज्जं
वत्थु"' सतयंतेण[४] साहिअ तेण ।

एगो च्चिय थिरो गाहगो संवुत्तो'त्ति जिणदत्तो जत्थ-
तत्थ भमण-सतत्थो मोमुइओ जाओ । किं रहस्सं'ति तहवि

तिष्ठन्ति, मोदन्ते, क्रीडन्ति, यत् किमपि-जल्पन्तश्च प्रगल्भन्ते।" पिशुनितं धनदत्तेन।

चित्रम्! धूर्त-शेखराणां अलक्षणीया वञ्चन-प्रणाली। वचनेषु अन्यत्, अन्यत् पुनः विचारेषु। तेषां मधुरजल्पनमपि विष-मिश्रितम्! तेषां हसित्री (हसनशीला) आकृतिरपि कषाय-कलुषा विकृतिः। तेषां सम्मान-दानमपि अलक्षित-मायावितानम्। क्षणमपि तेषां सङ्गतिः प्रत्यक्षं दुर्गतिः। अथवा किं एतादृशं कार्यं अकरणीयं यत् न समाचरति दुर्जनो जनः? अलं तेषां कथाभिः।

पुनरपि वञ्चकेन मधु-लिप्त-खड्गधारा-समया सरस्वत्या प्रपञ्चितम्—"तस्मात् सौम्य! एहि मया सार्धं मम गृहपर्यन्तं, ददामि त्रीणि आणकानि तुभ्यम्। अस्ति मनुजदृष्ट्या त्वमपि भ्राता मे किं बहुप्रलापेन?"

'कीदृशः कृपालुः' इति कल्पयन् भद्रो जिनदत्तः तमनुगतः। क्षिप्तः काष्ठभारः। गृहीतानि वारयतापि तेन प्रसह्य दीयमानानि त्रीणि आणकानि। "न अतः ऊर्ध्वं त्वया कुत्रापि भ्रमितव्यं काष्ठभारं विक्रेतुं प्रतिदिनम्। अहमेव निश्चित-मूल्येन ग्रहीष्यामि तम्। किं किं न युज्यते ज्येष्ठाश्रमिणां गृहे, काष्ठं तु पुर्ननित्यं व्यापारणीयं वस्तु" सान्त्वयता कथितं धनदत्तेन।

'एकः एव स्थिरः ग्राहकः संवृत्तः' इति जिनदत्तः यत्र तत्र भ्रमण-सन्तप्तः मोमुदितः जातः। किं रहस्यमिति तथापि न लक्षितं

---

१ प्रगल्भन्ते २ सरस्वत्याः ३ क्षिप्तः 'वृक्ष-क्षिप्तयोः रुक्ख-छूढौ (हे० २-१२७) ४ प्रसह्य ५ सान्त्वयता।

ण लक्खिअं णेण पजलेण[1]। इत्थं णिअयं सेट्ठी महा-मुल्लिल्ल हरिचंदणभार साहारणकट्ठमोल्लेण अल्लिवइ धुत्तस्स धणदत्तस्स। सो वि अस्स रहस्सस्स मा कोवि कोविओ[2] होउ'त्ति गुत्तरूवेण गहिऊण सगोवेइ। अणुऊलं वार पप्प अण्णत्थ पट्ठविअ अउलो लाहो गहणिज्जो 'त्ति णिच्छिअं वंचगेण। किंतु पडिफलिअ कइअव केरिसं पडिभय कज्जलिअं परिणामं दक्खवेइ 'त्ति ण णायं तेण माया-विणा।

जिणदत्तस्सेवं सुहेण उअर-णिव्वाहो हवइ। पत्त-मुद्दाए संतुट्ठा भाणुमई सागंद विवइ-कालमुल्लंघेइ। पुव्वावत्थासरणं जाहे जाहे हवेज्जा, ताहे ताहे णिअ-घडिअ-पाव-परिणइं चिंतेमाणा इमे मणं पसाअंति। धम्मो च्चिअ एगं सरणं'ति सरेंता ण मिच्छा सोअपरा जायंति। परं ण एआरिसं दिणं, जामो, मुहुत्तं वा वच्चइ जम्मि पिअ-पुत्तस्स सई ण सज्जुक्का होइ। तत्थगयं उअंतं पाविउं पडिपलं हिअयमुत्तम्मिअं[3] चिट्ठइ, परं दविट्ठ-देसंतरम्मि ण मणावि[4] चिरंजीविणो पुत्तस्स पउत्ती पत्ता सिआ।

---

१ प्राञ्जलेन २ कोविद ३ उत्तान्तम्-खिन्नमित्यर्थः ४ मनागपि।

अनेन प्राञ्जलेन। इत्थं नियतं श्रेष्ठी महामूल्यवन्तं हरिचन्दनभारं साधारण-काष्ठ-मूल्येन अर्पयति धूर्ताय धनदत्ताय। सोऽपि 'अस्य रहस्यस्य मा कोऽपि कोविदः भवतु' इति गुप्तरूपेण गृहीत्वा संगोपयति, अनुकूलं वारं प्राप्य अन्यत्र प्रस्थाप्य अतुलो लाभो ग्रहणीयः' इति निश्चितं वञ्चकेन। किन्तु प्रतिफलितं कैतवं कीदृशं प्रतिभयं कज्जलितं परिणामं दर्शयति इति न ज्ञातं तेन मायाविना।

जिनदत्तस्य एवं सुखेन उदर-निर्वाहो भवति। प्राप्त-मुद्रया सन्तुष्टा भानुमती सानन्दं विपत्कालं उल्लङ्घयति। पूर्वावस्थास्मरणं यदा कदा भवेत् तदा तदा निज-घटित-पाप-परिणतिं चिन्तयन्तौ इमौ मनः प्रसादयतः। 'धर्मः एव एकं शरणम्' इति स्मरन्तौ न मिथ्याशोककरौ जायेते। परं न एतादृशं दिनं, यामः, मुहूर्तं वा व्रजति यस्मिन् प्रियपुत्रस्य स्मृतिर्न सद्यस्का भवति। तत्रगतं उदन्तं प्राप्तुं हृदयं उत्तान्तं तिष्ठति, परम् दविष्ठदेशान्तरे न मनागपि चिरञ्जीविनः पुत्रस्य प्रवृत्तिः प्राप्ता स्यात्।

इओ य अइसुहेण लालिओ पालिओ रयणवालो बालो चंकमणक्खमो जाओ। सवएहि सद्धि अणेगाहि डिंभकीडाहि कीलेंतो. खणेण रूसेंतो, हसेंतो, रुएंतो, भूअलम्मि आलोट्टेंतो सयज्झ[1]-छावेहिं विथक्केंतो[2], कविणस्स हिअय कोआसावेइ, पसाहेइ, आणंदाणंदिअ च कुणइ। अणेगाहि आहिवाहीहि सुरक्खिओ संगोविओ पुत्तो अट्ठवासिओ जाओ। पट्ठविओ मम्मणेणं पढणणिमित्त पाढसालाए अणुहविणो गुरुणो समीवं। विणय-विवेग-सपण्णो एसो चवलमेहाए विज्जाज्झयण कुणेंतो णाणाविज्जा-पारं गओ जाओ। इंगिआगारमाराहेमाणो अज्झावयस्स परमं पसायं पत्तो। विज्जा-भार-गरुओ वि लाघव-गुणेहिं सव्वत्थ सिलाहणिज्जो भुणिओ। मम्मणेणावि गिह-कज्जम्मि, आयाणप्पयाणम्मि[3], आवण-वावारम्मि य परिचिओ, ससत्तो च कओ। दुआलस्सवासिओ वि परिणय-वयो इव कज्ज-कुसलो संवुत्तो। आवणम्मि चिट्ठमाणो, वावारं कुणमाणो, महुरं ववहरमाणो य सव्वेसि अईव चक्खुस्सो[4] लग्गइ। अणेगे गाहगा तु इमिणा वत्तालावेण सतुट्ठा तत्थ चिट्ठन्ति। बालोवि केरिसो दक्खो'त्ति भिस पससेमाणा उरेण उवळ्ळता पुलइआ हवंति।

१ प्रातिवेश्मिकबालैं, यथा— सयज्झो, समोमिओ' (पाइयलच्छी ७६९)

इतश्च अति सुखेन लालितः पालितः रत्नपालः बालः चङ्क्रमण-क्षमो जातः। सवयोभिः सार्धं अनेकाभिः डिम्भ-क्रीडाभिः क्रीडन् क्षणेन हृष्यन्, हसन्, रुदन् भूतले आलुण्ठन् सयज्भ-शावैः (प्राति-वेश्मिक-बालैः) वितिष्ठन् कृपणस्य हृदयं विकासयति, प्रसादयति, आनन्दानन्दितं च करोति। अनेकैः आधि-व्याधिभिः सुरक्षितः सङ्गोपितः पुत्रः अष्टवार्षिकः जातः। प्रस्थापितः मन्मनेन पठन-निमित्तं पाठशालायां अनुभविनो गुरोः समीपम्। विनय-विवेक-सम्पन्नः एष चपलमेधया विद्याध्ययनं कुर्वन् नानाविद्यापारङ्गतो जातः। इङ्गिताकारं आराधयन् अध्यापकस्य परमं प्रसादं प्राप्तः। विद्याभारगुरुकोऽपि लाघवगुणैः सर्वत्र श्लाघनीयः ज्ञातः। मन्म-नेनापि गृहकार्ये आदान-प्रदाने आपण-व्यापरे च परिचितः संसक्तश्च कृतः। द्वादशवार्षिकोऽपि परिणतवयाः इव कार्यकुशलः संवृत्तः। आपणे तिष्ठन्, व्यापार कुर्वन्, मधुरं व्यवहरन् च सर्वेषां अतीव चक्षुष्यः लगति। अनेके ग्राहकाः तु अनेन वार्तालापेन सन्तुष्टाः तत्र तिष्ठन्ति। 'बालोऽपि कीदृशो दक्षः' इति भृशं प्रशंसन्तः उरसा

---

२ वितिष्ठन् ३ आदानप्रदाने ४ चक्षुष्यः-सुभगः।

परं इत्तोप्पं[1] विविह-गिह-कज्ज-कुसलेणावि ण णायं 'कोहं' इअ रहस्सं णेण। मम्मणेणावि वीसुं एआरिसमणुऊलं वायावरणं जणिअं जेण मणयमवि ण अस्स कयावि अयम्मि विसयम्मि माणस संदिद्ध हवइ। मम्मणो चिअ मे पिया, मम्मण-भज्जा च्चिअ मह जम्मदायिगा जणणि'त्ति जाणाइ सो, ण दिट्ठो कोइ कयाइ विवज्जासो[2]। पर, परं णिगूहिअमवि तुस-रासिम्मि छण्णं फुलिंगव्व रहस्सं जया कया बाहिरमागच्छइ। जमत्थि मत्थि च्चिय, तस्स णत्थित्त कह हवइ'त्ति णिच्छिअ तत्तं।

गओ एगया रयणवालो अहमण्णस्स[3] गिहम्मि वुड्ढिं गय धण पुण आणेउं। ण पच्चप्पिउं खमो सो ठिइ-वसंवओ। बालत्तणओ[4] अविण्णाय-परत्थ[5]-पारतंतो कय[6]-कयगहो तत्थेव ठिओ। णाहमज्ज अगहिअ-सवुड्ढिरित्थो रित्तहत्थो पच्चावलिस्सं। अणेगहुत्तं समागओहमिह धणमाणेउं, परंतु तुम णिरंतरं किमवि किमवि मिसमायाय म परावत्तेसि। हद्धी! केरिसी जणाण णीई जाया? जया गहणिज्जं धणं तयाणि तु महुरमहुर-वयणेहिं वयंति। 'तुम्हे किर अम्ह संरक्खया पालया जीवण-दाण-दायग'त्ति लालप्पमाणा अवीअ सोअण्ण पयडयंति। सपण्णे कज्जे, करायत्ते अत्थे य ण कोइ सबंधो'त्ति दूरओ णीसरंति। दायगेण वाहित्ता[7] रत्तयणणा जं किमवि पच्चुत्तरंता उत्तेजिआ हवंति। हंत! आगओ केरिसो विचित्तो दूसमो! जणेहिं गहिअं दायव्वं'ति विम्हुट्ठं, परंतु णाहं विच्छड्ढिस्सं समप्पिअं ईसि वि।

---

१ एतत्प्रभृति, यथा इत्तोप्प एअप्पभिइ। (पाइयलच्छी-४४८) २ विपर्यास.

उपगूहन्तः पुलकिताः भवन्ति। परं इत्तोप्पं (इतः प्रभृति) विविध-गृहकार्यकुशलेनापि न ज्ञातं 'कोऽहम्' इति रहस्यं अनेन। मन्मनेनापि विष्वक् एतादृशं अनुकूलं वातावरणं जनितं येन मनागपि न अस्य कदापि अस्मिन् विषये मानसं संदिग्धं भवति। 'मन्मनः एव मे पिता, मन्मन-भार्या एव मम जन्मदायिका जननी' इति जानाति सः। न दृष्टः कोऽपि कदापि विपर्यासः। परं परम-निगूहितमपि तुषराशौ छन्नं स्फुलिङ्गवत् रहस्यं यदा कदा बहिः आगच्छति। यदस्ति तदस्ति एव, तस्य नास्तित्वं कथं भवति इति निश्चितं तत्त्वम्।

गतः एकदा रत्नपालः अधमर्णस्य गृहे वृद्धि गतं धनं पुनः आनेतुम्। न प्रत्यर्पयितुं क्षमः स स्थिति-वशंवदः। वालत्वात् अविज्ञातपरार्थ-पारतन्त्र्यः कृत-कदाग्रहः तत्रैव स्थितः। नाहं अद्य अगृहीत-सवृद्धि-रिक्थो रिक्तहस्तः प्रत्यावलिष्ये। अनेकवारं समागतोऽहं इह धनमा-नेतुम्, परन्तु त्वं निरन्तरं किमपि किमपि मिषमादाय मां परावर्तयसे। हा! धिक्! कीदृशी जनानां नीतिर्जाता। यदा ग्रहणीयं धनं तदानीं तु मधुरमधुर-वचनैर्वदन्ति। 'यूयं किल अस्माकं संरक्षकाः, पालकाः, जीवनदानदायका' इति लालप्यमाना अद्वितीयं सौजन्यं प्रकटयन्ति। सम्पन्ने कार्ये, करायत्ते अर्थे च न कोऽपि सम्बन्धः इति दूरतः निस्सरन्ति। दायकेन व्याहूता रक्तनयना यत् किमपि प्रत्युत्तरन्तः उत्तेजिताः भवन्ति। हन्त! आगतः कीदृशः विचित्रो दुःषमः, जनैः गृहीतं दातव्यम्' इति विस्मृतम्। परन्तु नाहं त्यक्ष्यामि समर्पितं

---

३ अधमर्णस्य-ग्राहकस्येत्यर्थः ४ वालत्वात् ५ अविज्ञातपरार्थ-पारतन्त्र्यः ६ कृतकदाग्रहः ७ व्याहूताः।

अज्ज तु पडिण्णाय मए अगहिअ-धणेण ण जहिअव्वं ठाणमिण। इअ साहेऊण तत्थेव निच्चल ठिओ रयणवालो रइअ[1]-पल्लत्थिओ।

सगरिहं सुणिऊण तस्स थुडंकिअयं[2] वयणं परोवि कोव-कंपिआहरो जाओ। हरे! दुद्धगंधिअमुहो[3] वि जं किमवि अवलवइ जल्लो[4]। जाणामि अहमवि अस्स अवंजणिज्ज[5] वईअ। पगब्भो ण जाणेइ चत्त-सगिहस्स ठिइं। जभणभणो[6] कहं ण लज्जए णीइं उवदिसेतो। ता विसयं करेमि अस्स पुरओ मायरपिअराणं दुहद वुत्तंतं। इअ चितेऊण कोह-कासाइअ-नेत्तो सो सगरिहं बोतुमाढत्तो—"अरे धट्ठ! तुण्हिक्को होहि तुण्हिक्को। मा मोरउल्ला पगब्भं[7] दससु। ण मुणेसि महामुक्ख! मायर-पिअराणं पवास-कारणं तुह जम्मो'त्ति। कीअ-दास! कीस तुमं एआरिस धिट्टिम दक्खवेसि, किमप्पिअं ते बप्पेण[8] मे दव्वं? ओसर[9] ओसर बप्पुडा[10]! इओ-आयण्णेउं णिअं कज्जलिअं अईअ। जम्मंध! कहं गव्विल्लो हविअ[11] भमसि? णाहं तुज्झ किमवि दाहं। णत्थि णाम कोइ तुज्झ अहिआरो मग्गणट्ठं इह।" एव समुह-विकूणिअं अहमणस्स कक्कस-वयणतोरेहिं ताडिओ मम्माहओ 'अमुणिअ-तप्पच्चारण'[12]-हिअयो सकिओ कलुस-समावण्णो असमंजसं दस च पत्तो। वहमेसो पच्चारेइ गरिहेइ य मं अवियारिअ-वक्कपाहाण-पक्खेवेण? कीस एएण 'कीअदासो'त्ति दूमिओ

---

१ रचितपर्यंस्तिकः 'पालथी मारके' इतिभाषा २ रोषतप्तवचनम्, यथा— रोसेण उण्हिक्कं वयण ज थुडक्किअय (पाइयलच्छी ६५१) ३ दुग्धगन्धितमुख —बालक ४ चकवादी (दे०) ५ अव्यञ्जनीयम् ६ स्वच्छन्द-

इषदपि । अद्य तु प्रतिज्ञातं मया अगृहीतधनेन न हातव्यं स्थानमिदम् । इति कथयित्वा तत्रै व निश्चलं स्थितः रत्नपालः रचित-पर्यस्तिकः ।

सगर्हं श्रुत्वा तस्य थुडङ्किअयं (रोषयुक्तं) वचनं परोऽपि कोपकम्पिताधरः जातः । अरे ! दुग्धगन्धिकमुखोऽपि यत् किमपि अपलपति 'जम्बुल्लः' (वाचालः) । जानामि अहमपि अस्य अव्यञ्जनीयं व्यतीतम् । प्रगल्भो न जानाति व्यक्त-स्वगृहस्य स्थितिम् । 'जम्भणम्भणो' (स्वच्छन्दभाषी) कथं न लज्जते नीतिं उपदिशन् । तस्मात् विशदं करोमि अस्य पुरतो मातृ-पित्रोः दुःखदं वृत्तान्तम् । इति चिन्तयित्वा कोपकाषायितनेत्रः स सगर्हं वक्तुं आरब्धः—"अरे ! धृष्ट ! तूष्णीको भव तूष्णीकः । मा मुधा प्रागल्भ्यं दर्शय । न जानासि महामूर्ख ! मातृ-पित्रोः प्रवासकारणं तव जन्म इति । क्रीतदास ! कस्मात् त्वं एतादृशं धृष्टत्वं दर्शयसि, किं अर्पितं ते बप्पेन (पित्रा) मह्यं द्रव्यम् । अपसर ! अपसर ! वराक ! ('बापड़ा' इति भाषायाम्) इतः आकर्णयितुं निजं कज्जलितं अतीतम् । जन्मान्ध ! कथं गर्वितो भूत्वा भ्रमसि ? नाहं तुभ्यं किमपि दास्यामि । नास्ति नाम कोऽपि तव अधिकारो मार्गणार्थं इह ।" इत्थं समुखविकूणितं अधमर्णस्य कर्कशवचनतीरैस्ताडितो मर्माहतः अज्ञात-तदुपालम्भ-हृदयः शङ्कितः कलुषसमापन्नश्च असमञ्जसां दशां प्राप्तः । कथं एष उपालभते गर्हते च मां अविचारित-वाक्य पाषाण-प्रक्षेपेण । कस्मात् एतेन 'क्रीतदासः'

भाषी ७ प्रागल्भ्यं ८ पित्रा 'बाप' इतिभाषा (दे०) ९ अपसर १० 'बापडा' इतिभाषा (दे०) ११ हविअ-भूत्वा १२ अज्ञात-तदुपालम्भहृदयः ।

कलंकिओऽहयं। किमण्णे मे जम्मदायगा मायर-पिअरा ? किं ण मम्मणो मे तत्तिओ[1] पिआ। अव्वो ! ण गुज्झं जाव विसयीकुणेमि ताव ण मए किं पि पच्चुत्तरिअव्वं। इअ णिच्छिआण सयराहमेव तओ उट्ठिओ णाणा-विगप्प-पेखोलिअ-माणसो तुण्हिमासेवमाणो तत्त-गवेसण-तप्परो चलिओ। मग्गम्मि आवणिओ[2] एगो थेरो आवणम्मि ठिओ दिट्ठि-पह गओ। विमण-दुम्मणो सो अईअं रहस्स पयडीकारेउकामो तस्स ससीममागओ।

हिम[3]-पुलुट्ठमरविंदं विव मिलायमाणमुहमिम रयणवालं लक्खिअ किं कारण'त्ति गवेसणापरो सो पुच्छेउं लग्गो—"वच्छ ! कीस तुमं दीससि अज्ज गहिर-चिंता-विहुरो ? णिच्च पफुल्ल तुह वयण-सयपत्तं कहमज्ज हिरत्थं[4] विलिअं मे पडिहाइ ? भण, सिग्घ भण, जहा ते दुह-पडिआरं करेमि किंचि।"

दीह उसिण नीससतेण रयणेण सूइओ सव्वो वि जहावत्त वुत्तंतो। कहमहं तेण णिब्भच्छिओ[5] 'कीअदास'त्ति सद्देण। किं रहस्स विज्जए एत्थ ? को एआरिसो गुज्झो वइअरो ? जिण्णासेमि ताय ! सव्वमिण जहातह।

आयण्णिअ रयणवालस्स पुच्छण सेराणणो जाअ। सो परिणयवयो। अणुहूअमईअं पच्चक्खं परिप्फुरिअं तस्स। अवत्तव्व गुज्झमिणं दरफुडिआहरो वि मूअल्लिओ[6] ठिओ।

---

१ तात्त्विक २ आपणिक—'दूकानदार' इतिभाषा ३ हिमप्लुष्टम्-

इति दूषितः कलङ्कितः अहम् ? किमन्यौ मे जन्मदायकौ मातरपितरौ ? किं न मन्मनो मे तात्विकः पिता ? अव्वो ! न गुह्यं यावद् विशदीकरोमि तावत् न मया किमपि प्रत्युत्तरितव्यम् । इति निश्चित्य शीघ्रमेव ततः उत्थितः नाना-विकल्प-प्रेङ्खोलितमानसः तूष्णीमासेवमानस्तत्व-गवेषण-तत्परश्चलितः । मार्गे आपणिकः एकः स्थविरः आपणे स्थितो दृष्टि-पथं गतः । विमनोदुर्मनाः स अतीतं रहस्यं प्रकटीकारयितुकामः तस्य ससीमं आगतः ।

हिम-प्लुष्टमरविन्दमिव म्लायन्मुखं इमं रत्नपालं लक्षयित्वा 'किं कारणम्' इति गवेषणापरः स प्रष्टुं लग्नः—"वत्स ! कस्मात् त्वं दृश्यसे अद्य गभीर-चिन्ता-विह्वलः ? नित्य प्रफुल्लं तव वदन-शत पत्रं कथं अद्य त्रस्तं व्रीडितं मम प्रतिभाति ? भण, शीघ्रं भण, यथा तव दुःख-प्रतीकारं करोमि किञ्चित् ।"

दीर्घं उष्णं निःश्वसता रत्नेन सूचितः सर्वोऽपि यथावृत्तं वृत्तान्तः । कथं अहं तेन निर्भर्त्सितः 'क्रीतदास' इति शब्देन ? किं रहस्यं विद्यते अत्र ? कः एतादृशः गुह्यः व्यतिकरः । जिज्ञासामि तात ! सर्वमिदं यथातथम् ।

आकर्ण्य रत्नपालस्य पृच्छनं स्मेराननः जातः स परिणतवयाः । अनुभूतं अतीत प्रत्यक्षं परिस्फुरितं तस्य । अवक्तव्यं गुह्यमिदं ईषत्स्फुटिताधरोऽपि मूकायितः स्थितः ।

हिमदग्धमित्यर्थः । ४ त्रस्तम् 'त्रस्तस्य हित्थतट्ठौ (हे० २-१३६) ५ निभर्त्सितः
६ ईषत्स्फुटिताधरः 'दराऽर्धाऽल्पे' (हे० २-११५) ७ मूकः

पडिवय-सुणणेगतप्पर विलंबासहं विलोइअ बालमुहं अंते थेरेण सदक्खिण्ण मणयं रहस्सुग्घाडणं कयं—"पुत्त! विचित्तोऽय महारण्णरूवो संसारो। किमघडिअं ण घडइ एत्थ जंतूणं। ताव च्चिअ मणुओ उत्तप्पो[1] हवइ जाव तिणा ण अईअं पच्चक्खं कीरइ। अज्ज! सव्वावि दिट्ठिपहमागच्छन्ती जगस्स लीला ण मायण्हि आइरित्ता[2]। केवलमाभा णह-संकासा[3]। भद्द! अलाहि रहस्स-प्फोडणेण। खलइ मे रसणा ते इइवुत्तं पयडीकाउं। तहा वि अत्थि ते तिव्वा जिण्णासा, तो कहेमि किंचि तवाऽविण्णायं पुव्वचरिअं। सुणसु, आसि णयर-जणमाणणिज्जो अड्ढो ते पिया जिणदत्तो। पियवया दाणसीला भाणुमई सक्ख लच्छी ते जणणी। आसी जया तुम गब्भम्मि तयाणि जाओ अकम्हा आवइतडी[4]-णिवाओ तुह सामिद्धीए उवरिं। सुमिणविलाय विलीणा सव्वावि वंस-परंपरा-संचिआ लच्छी। जाव दविणविणिमयेण मम्मण-गिहम्मि तुमं रक्खिऊण रयणीए अलक्खिआ अण्णत्थ पलाणा ते जणणी-जणया। एवं कहमाणो सो थेरो बाह-जलाउल-लोयणो संवुत्तो। आसी तुह पिआ मे परमो मित्तो। ण एआरिसो सुअणो मए दिट्ठो अण्णजणो पुत्त! संपई ण जाणेमि कत्थ ते जवेंति विवआ-कालं। तुज्झ विरह-दुव्वरा। कुल भाणुआ! अत्थि तुम्हकेरं परमं किच्चमिणं ज लिहिआणुसार णिय-हत्थेण पहूअं धण विढविअ, रिणमुत्तो हविअ, पिअराण च गवेसण काऊण, तेहिं सद्धिं णिअ घरं गच्छेज्जा। सोम्म! सो च्चिअ आणंदणो

१ उद्धता २ मृगतृष्णातिरिक्ता-यथा—मायण्हिआ, झला (पाइयलच्छी ७४२) ३ नभोतुल्या ४ आपत्तडिन्निपात.।

प्रतिवचः श्रवणैकतत्परं विलम्बासहं विलोक्य बालमुखं अन्ते स्थविरेण सदाक्षिण्यं मनाग् रहस्योद्घाटनं कृतम्—"पुत्र ! विचित्रोऽयं महार्णवरूपः संसारः। किं अघटितं न घटते अत्र जन्तूनाम् ? तावदेव मनुजः उद्धतो भवति यावत् तेन न अतीतं प्रत्यक्षं क्रियते। आर्य ! सर्वापि दृष्टिपथं आगच्छन्ती जगतो लीला न मृगतृष्णातिरिक्ता। केवलं आशा नभः-सङ्काशा। भद्र ! अलाहि रहस्य-प्रस्फोटनेन। स्खलति मे रसना तव इतिवृत्तं प्रकटीकर्तुम्। तथापि अस्ति ते तीव्रा जिज्ञासा तदा कथयामि किञ्चित् तव अविज्ञातं पूर्व-चरितम्। शृणु "आसीत् नगरजनमाननीयः आढ्यस्ते पिता जिनदत्तः। प्रियंवदा दानशीला भानुमती साक्षात् लक्ष्मीस्ते जननी। आसीत् यदा त्वं गर्भे तदानीं जातोऽकस्मात् आपत्तडिन्निपातस्तव समृद्धेः उपरि। स्वप्न-विलायं विलीना सर्वापि वंश-परम्परा-सञ्चिता लक्ष्मीः। यावद् द्रविण-विनिमयेन मन्मन-गृहे त्वां रक्षित्वा रजन्यां अलक्षितौ अन्यत्र पलायितौ ते जननी-जनकौ। एवं कथयन् स स्थविरः बाष्पजलाकुल-नयनः संवृत्तः। आसीत् तव पिता मे परमं मित्रम्। न एतादृशः सुजनः मया दृष्टः अन्यजनः। पुत्र ! सम्प्रति न जानामि कुत्र तौ यापयतः विपत्कालं तव विरह-दुर्बलौ। कुलभानो ! अस्ति त्वदीयं परमं कृत्यं इदं यत् लिखितानुसारं निजहस्तेन प्रभूतं धनं अर्जयित्वा ऋणमुक्तो भूत्वा पित्रोः गवेषणां कृत्वा तैः सार्धं निजं गृहं गच्छेः।

णदणो जो वसुद्धार-कारगो अम्मापिऊणं सुहजणओ पुव्व-जाणं च विच्छोलिअ[1] णामधेयो धिप्पइ[2]। उअ[3], ण खेएण किमवि भविस्सइ, भविस्सइ किर महतेण पुरिसत्थेण सव्वं। अत्थि मे कप्पणा, तुम अवस्स सुण्णं गिहं हरिअ-भरिअं काहिसि, इअ साहेऊण सहिअयो वुड्ढो वीसत्थ-दिट्ठीए पुत्तं रयणं पलोएउं लग्गो।

असुअ-पुव्वं कण्णकंटगाइअं णिअमईअमुअंतं मुणिऊण रयणवालो चित्तलिहिअव्व मंतकीलिअव्व थद्धो, उव्विग्गो, विम्हिओ, रोमंचिओ य जाओ। हरे! इत्तोप्पं ण विइआ मए अप्पणआ पउत्ती। हदि! (सत्य!) पिसुणिअं तेण अहमण्णेण। वेव्वे! (विपादे!) अहं कीअदासोम्हि! अव्वो! (पश्चात्तापे!) दलइ मे हिअयं अम्मा-पिऊणं तारिसी ठिई। थू! णिलज्जेण मे जीवणेण, जस्स जम्मो वि सव्व-विद्धंसकारगो! खु! किं मए एआरिसं कलुसमायरिअं! ऊ! केण ण विण्णायं मे कुलंगारचरिअं! अम्मो! कहमेआरिसं जायं! अइ[4]! दुहिआ विज्जंति मे परम-सिलाहणिज्जा पुज्जा पिअरा। अहह! जइ हं गब्भाओ पडतो, ता पिअराण ण तारिसी ठिई हुंती। णवरिअ किं कायव्व मए? अलाहि मोरउल्ला बहु-चिंतणेण इण्हि। अप्पणो[5] सव्वं सुहं भावि पुरिसत्थेण, इच्चाइ-बहुविगप्प-विलोडिअ-हिअय-सागरो थेरं पणमिऊण एक्कसरिअं तओ पचलिओ। कत्थइ रइमलभमाणो गिहमागओ। एगम्मि

---

१ धौतनामधेय.—यथा विच्छोलिय धोअं (पाइयलच्छी ६२१) २ दीव्यते

सौम्य ! स एव आनन्दनो नन्दनः यः वंशोद्धारकारकः मातापितृणां सुखजनकः पूर्वजानां च विक्षालित-नामधेयः दीप्यते । पश्य, न खेदेन किमपि भविष्यति, भविष्यति किल महापुरुषार्थेन सर्वम् । अस्ति मे कल्पना त्वं अवश्यं शून्यं गृहं हरित-भरितं करिष्यसि इति कथयित्वा सहृदयो वृद्धो विश्वस्त-दृष्ट्या पुत्रं रत्नं प्रलोकितुं लग्नः ।

अश्रुतपूर्वं कर्णकण्टकायितं निजं अतीतं उदन्तं श्रुत्वा रत्नपालश्चित्रलिखितवत् मन्त्रकीलितवत् स्तब्धः, उद्विग्नः, विस्मितः, रोमाञ्चितश्च जातः । हरे ! इतः प्रभृति न विदिता मया आत्मीया प्रवृत्तिः । हन्दि ! (सत्यम्) पिशुनितं तेन अधमर्णेन । वेव्वे (विषादे) क्रीतदासोऽस्मि । अव्वो ! (पश्चात्तापे) दलयति मे हृदयं मातापित्रोः, तादृशी स्थितिः । थू ! निर्लज्जेन मे जीवनेन यस्य जन्मापि सर्वविध्वंसकारकम् । खु ! किं मया एतादृशं कलुषं आचरितम् ? ऊ ! केन न विज्ञातं मे कुलाङ्गारचरितम् । अम्मो ! कथं एतादृशं जातम् ? अइ ! (सम्भावने) दुःखितौ विद्येते मे परमश्लाघनीयौ पूज्यौ पितरौ । अहह ! यदि अहं गर्भात् अपतिष्यम् तर्हि पित्रोः न तादृशी स्थितिः अभविष्यत् । णवरि (आनन्तर्ये) किं कर्तव्यं मया ? अलाहि मुधा बहुचिन्तनेन इदानीम् । स्वयं सर्वं शुभं भावि पुरुषार्थेन, इत्यादि बहुविकल्पविलोडित-हृदय-सागरः स्थविरं प्रणम्य झगिति ततः प्रचलितः ।

---

३ उअ, पश्य इत्यर्थे (हे० २-२११) ४ अइ संभावने (हे० २-२०५) ५ आनन्तर्ये ६ स्वयं ।

अणात्थुअम्मि[1] भूअलम्मि बाहुल्ल[2]-कवोल-णिमिअ-वामहत्थो भूमिं खणतो एीरव ठिओ ।

इओ य मम्मणो वि मज्झण्ह-जम्मण-वेलं जाणिऊण मा बुभुक्खिओ चिरं चिट्ठउ रयणवालो पुत्तो'त्ति सत्तरं हम्मि-[3] अमागओ । परं ण णिअच्छिओ णयण-चंदो नदो । किमे-अप्पभिइ ण पच्चावलिओ रिणमाणेउ गओ सो ? "भज्जे ! कि णागओ अहुणावहि तुह कोड-कोड्डाकारगो ? कहं तुम पुत्त-चिंता-निरवेक्खा कज्जलग्गा चिट्ठसि ?" उट्टकिअ उच्च सरं मम्मणेण ।

"इआणिमेव आगच्छमाणो ईसिं मे लोअण-पह पत्तो, पच्छा कहिं ठिओ'त्ति ण लक्खिओ मए चवल-चरिओ सो" णिवेइअं सच्छरिअ भज्जाए ।

कत्थ लुक्किओ एसो'त्ति अह उवरिं अणुसंधाउं लग्गो मम्मणो झत्ति विम्हअ-खेअ-मिस्साए दिट्ठीए ।

सुसिअ[4]-मुहसरोजो वहमाण-बाहधारो अणुड्ढोकय-कधरो धरणि-वट्टम्मि ठिओ कित्रणेण पेक्खिओ पुत्तो ।

अव्वो ! किमिण, किमिण ? केण वाम-विहिणा तुमं दूमिओ पुत्त ! रुअमाणो चिट्ठसि ? केण मयंधलेण ते अवराहो कओ ? कस्स अप्पिअ जीविअं जो तं[5] अवमण्णइ ? णिच्चं हसतमुहो तुम किणो विमणदुम्मणो ? किं ण लद्धं तए जहेच्छिअं वत्थुं ? किमज्ज खप्पुर[6]-सहावाए तुह माउआ अहरिओ[7] ? किमहवा रिणमदाउकामेण धड्ढेण

---

१ अनास्तृते २ वाष्पार्द्रकपोल-न्यस्तवामहस्त ३ (दे०) । ४ शुष्कमुख-सरोज ५ त्वाम् ६ रूक्षस्वाभावया ७ अधरित-तिरस्कृतः ।

कुत्रापि रतिं अलभमानः गृहं आगतः। एकस्मिन् अनास्तृते भूतले वाष्पार्द्र-कपोल-न्यस्त-वामहस्तः भूमिं खनन् नीरवं स्थितः।

इतश्च मन्मनोऽपि मध्याह्नजेमनवेलां ज्ञात्वा मा बुभुक्षितः चिरं तिष्ठतु रत्नपालः पुत्रः इति सत्वरं हर्म्यं आगतः। परं न निरीक्षितो नयनचन्द्रो नन्दः। किं एतत्प्रभृति न प्रत्यावलितः ऋणं आनेतुं गतः सः? "भार्ये! किं नागतः अद्युनावधि तव क्रोड-क्रीडा-कारकः? कथं त्वं पुत्र-चिन्ता-निरपेक्षा कार्यलग्ना तिष्ठसि?" उट्टङ्कितं उच्चस्वरं मन्मनेन।

"इदानीमेव आगच्छन् ईषद् मे लोचनपथं प्राप्तः, पश्चात् कुत्र स्थितः इति न लक्षितो मया चपलचरितः सः" निवेदितं साश्चर्यं भार्यया।

'कुत्र निलीनः एष' इति अधः उपरि अनुसन्धातुं लग्नः मन्मनः झटिति विस्मय-खेद-मिश्रया दृष्ट्या।

शुष्क-मुख-सरोजः वहद्वाष्पधारः अनुर्ध्वीकृत-कन्धरः धरणि-पृष्ठे स्थितः कृपणेन प्रेक्षितः पुत्रः।

अव्वो! किमिदं, किमिदम्? केन वाम-विधिना त्वं दूनः पुत्र! रुदन् तिष्ठसि? केन मदान्धेन तव अपराधः कृतः? कस्य अप्रियं जीवितं यस्त्वां अवमन्यते? नित्यं हसन्मुखः त्वं किणो (प्रश्ने) विमनोदुर्मनाः?

किं न लब्धं त्वया यथेष्टं वस्तु? किं अद्य खप्पुर-स्वभावया (रुक्षस्वभावया) तव मात्रा अधरितः? किमथवा ऋणं अदातुकामेन

तुम पराहूओ ? भणसु, वच्छ ! भणसु जहाविर्त्तं[1] वुत्ततं, पुच्छेइ ते वाउलो जणओ मयराहमेव तप्पडिआर काउ-कामो । एवमस्सासमाणेण मम्मणेण बाहाहि साहरिअ उट्ठाविओ पुत्तो कोडीकओ । मत्थयं जिग्घेतो णयणजलुल्ल लवणं लुंछिउ[2] लग्गो ।

एव मम्मणेण परिपुच्छिओ सग्गह जहाभूअं वइअरं पयडीकाउ पेरिओ सगग्गरक्खर रयणवालो फुडमकासी जहाणाय रहस्सं—"अत्थि[3] खु तत्थभवता भवंता पिअर-समाणा मे सेट्ठिप्पवरा, पर ण मे जणगा जणगा वत्थुत्तो । बुज्झिअ मए अज्ज सव्वंपि गुज्झ । अत्थि सिणेहकुर-घणाघणो महामणो पयडसत्तो जिणदत्तो मे पुज्जो पिआ । पच्चक्ख पेम-णई भाणुमई मे जम्मदायिणी जणणी । हंत, हत ! दरिद्द-दवदड्ढा मोत्तूण म अत्थ-परावत्तेण मे गिहम्मि, अण्णाया कत्थइ पवसिआ[4] । सपइ जइ मे जणणी-जणया आगम्म कहेंति "आगच्छ पुत्त !" तक्खणा अविलंब तेहिं सद्धि वच्चामि णीसंदेहं णिअ गिह । हद्धी ! किं पर-गिह-ठिइसुह सुह ? तुडिअमुडजमवि णिअ णिअं, धवलगिहं पि पारक्कं पारक्केर ।" एव भणतो सो तारस्सरं परिदेविउं पउत्तो ।

अविहाविअं, अवितक्किअं, अपच्चासिअं च सुणिआण रयणवयण मम्मणेण अणुहूआ काइ असहणिज्जा अउला विअणा । तिव्वगइ पत्ता हिअयगई । विप्फारिअं जाय

---

१ यथावृत्त २ मार्ष्टुम् ३ अत्थिस्त्यादिना (१४८) इति सूत्रेण बहुवचनेपि 'अत्थि' आदेश. ४ प्रोषिता ।

स्तब्धेन त्वं पराभूतः ? भण वत्स ! भण यथावृत्तं वृत्तान्तम्, पृच्छति तव व्याकुलो जनकः शीघ्रमेव तत्प्रतीकारं कर्तुं कामः। एवं आश्वसता मन्मनेन बाहुभ्यां संहृत्य उत्थापितः पुत्रः क्रोडीकृतः। मस्तकं जिघ्रन् नयनजलार्द्रं लपनं मार्ष्टुं लग्नः।

एवं मन्मनेन परिपृष्टः साग्रहं यथाभूतं व्यतिकरं प्रकटीकर्तुं प्रेरितः सगद्गदाक्षरं रत्नपालः स्फुटं अकार्षीत् यथाज्ञातम् रहस्यम्— "सन्ति खलु तत्रभवन्तो भवन्तः पितृ-समानाः मे श्रेष्ठिप्रवराः, परं न मे जनकाः वस्तुतः। बुद्धं मया अद्य सर्वमपि गुह्यम्। अस्ति स्नेहाङ्कुर-घनाघनः महामनाः प्रकटसत्त्वः जिनदत्तः मे पूज्यः पिता। प्रत्यक्षं प्रेमनदी भानुमती मे जन्म-दायिनी जननी। हन्त ! हन्त ! दारिद्र्य-दवदग्धाः मुक्त्वा मां अर्थ-परावर्तनेन युष्माकं गृहे, अज्ञाताः कुत्रापि प्रोषिताः। सम्प्रति मे जननीजनकौ आगम्य कथयतः— 'आगच्छपुत्र' तत्क्षणं अविलम्बं तैः सार्धं व्रजामि निःसन्देहं निजं गृहम्। हद्धी ! किं परगृह-स्थिति-सुखं सुखम् ? त्रुटितं उटजमपि निजं निजम्, धवलगृहमपि परकीयं परकीयम्।" एवं भणन् स तारस्वरं परिदेवितुं प्रवृत्तः।

अविभावितं, अवितर्कितं, अप्रत्याशितं च श्रुत्वा रत्नवचनम् मन्मनेन अनुभूता कापि असहनीया अतुला वेदना। तीव्रगतिं प्राप्ता हृदयगतिः। विस्फारितं जातं नेत्र-युगलम्। चिरसंस्त्याना आशा

नेत्त-जुअल । चिर-सखाया[1] आसा हिम-पिंडलिया इव तरलिआ जाया ! ऊ ! को पोरच्छ[2]-पुरच्छिमो अस्स मित्तिओ मे जम्म-जम्मतर-पडिवक्खो ? हा ! खु खलेण सुघडिओ मुमडिओ वम-पासाओ अणट्ठ भूमिसाकओ । पिसुण ! कि ते हत्थम्मि आगय मे कप्पणा[3]-कप्पतरु-कप्पणेण ? वत ! विचित्तो मुहमुहाणं[4] सहावो जमकारणं ते पर-दुहेण सुहिआ, परणासेण य तुट्ठा दुट्ठा । अरे ! निरट्ठया जाया सव्वावि अस्स लालणा पालणा । उअ, हवइ किं पर-पुत्तेण वासिअं गिहं ? एव बहु विकप्पतो सो मम्मणो कमवि उवाय गवेसतो वोत्त पउत्तो—"पुत्त ! केण तुमं पर-सुह-दुव्वलेण खलेण मुहा भुल्लविओ", निरट्ठयमासंक च पाविओ सि ? को जिणदत्तो ? का भाणुमई ? केण दुहिलेण घडिआणि कवोल-कप्पिआणि अमूइ णामधिज्जाणि ? ता मा भुल्लिरो भवसु, सिग्घ चलसु, कुणसु य सहभोअणं । उअ, हवइ सीअला णाणावंजण-सजुआ सरसा रसवई । पडिक्खइ तुह माया जायमपासंती गहिल्लीभूआ ।"

अलाहि सेट्ठिप्पवर ! जहत्थवत्थूवरि कवड-पडाखेवेण बहुजायमिणमो जमज्जप्पभिइ रक्खिओह सतमसम्मि । सपइ पज्जलिओ मे णाणप्पईवो । अहवा विभाया[5] मे भंति-सामिणी[6] अण्णाण-जामिणी । पुव्वं कायव्वा मह पवास-गमण-ववत्था, पच्छा गहिस्समहं किंपि भोअणं । हत ! जइ मए एसो वुत्तो पुव्वं जाणिओ हुंतो तो किअत सुंदरं हुंत ?" णीसक वजिअं बालेणावि रयणवालेण ।

---

१ चिरमभ्यासा 'मम स्य खे (हे० ४—१५) २ पोरच्छ खल.-तत्र पौरस्त्य प्रथम, धूर्तशेखर इत्यर्थं ३ कल्पना-कल्पतरु-कल्पनेन, कल्पन-

हिम-पिण्डलिका इव तरलिता जाता। ऊ! कः पोरच्छ-पौरस्त्यः (धूर्तशेखरः)अस्य मिलितो मे जन्मजन्मान्तरप्रतिपक्षः ? हा ! खलु खलेन सुघटितः सुमण्डितो वंश-प्रासादः अनर्थं भूमिसात् कृतः। पिशुन ! किं ते हस्ते आगतं मे कल्पना-कल्पतरु-कल्पनेन ? बत ! बत ! विचित्रो मधुमुखानां (पिशुनानां) स्वभावो यत् अकारणं ते परदुःखेन सुखिताः परनाशेन च तुष्टाः दुष्टाः। अरे ! निरर्थका जाता सर्वापि अस्य लालना पालना। उत ! भवति किं पर-पुत्रेण वासितं गृहम् ? एवं बहु विकल्पयन् स मन्मनः कमपि उपायं गवेषयन् वक्तुं प्रवृत्तः—"पुत्र ! केन त्वं परसुख-दुर्बलेन खलेन मुधा भ्रंशितो निरर्थकं आशङ्कां च प्रापितः असि ? को जिनदत्तः ? का भानुमती ? केन द्रुहिलेन घटितानि कपोल-कल्पितानि अमूनि नामधेयानि ? ततः मा भ्रान्तिभाग् भव, शीघ्रं चल, कुरु च सहभोजनम्। पश्य, भवति शीतला नाना-व्यञ्जन-संयुक्ता सरसा रसवती। प्रतीक्षते तव माता जातं अपश्यन्ती ग्रथिलीभूता।

अलाहि श्रेष्ठिप्रवर ! यथार्थ-वस्तूपरि कपट-पटाक्षेपेण। बहु जातं इदं यत् अद्यप्रभृति रक्षितोऽहं सन्तमसे। सम्प्रति प्रज्वलितः मे ज्ञानप्रदीपः। अथवा विभाता मे भ्रान्ति-स्वामिनी अज्ञान-यामिनी। पूर्वं कर्तव्या मम प्रवासगमन-व्यवस्था। श्चात् ग्रहीष्यामि अहं किमपि भोजनम्। हन्त ! यदि मया एष वृत्तान्तः पूर्वं ज्ञातः अभविष्यत् तदा कियत् सुन्दरं अभविष्यत्।" निःशङ्कं व्यञ्जितं बालेनापि रत्नपालेन।

छेदनमित्यर्थः ४ मुहुमुहः-पिशुनः तेषाम् ५ भुल्लविओ भ्रंशितः, 'भ्रंशेः फिड-फिट्ट-फुड-फुट्ट-चुक्क-भुल्लाः' (हे० ४-१७७) ६ विभाता-विभातं-प्रभातं प्राप्तेत्यर्थः ७ भ्रान्ति-स्वामिनी-भ्रान्तिमयीत्यर्थः।

"हा ! केण सद्देण विवरीअ पाढिओ एसो दढयाए। चित्त ! अस्स सहावम्मि केरिसी रुक्खमा समागया। अच्चंत लज्जिरो अप्पभासी वि अज्ज केरिसो वायालो थूल-वयो य जाओ। धी धी धी ! उप्फालेण[1] सव्वमवि णिप्फलं कय। असज्झोय रोओ। पच्चक्ख णिरासा इमस्स आसा" अवसिअ मम्मणेण।

"काहं सव्वमवि पवंधं सयराहमेव पुत्त ! अहुणा तु भोअण घेत्तव्व।" कहमाणेणमेव सेट्ठिणा उट्ठाविओ पुत्तो भोअणट्ठं। अणासाइअ-रसा सरसा वि रसवई कहं कहमवि आसाइआ एएहि। एत्थतरम्मि आहूआ मम्मणेण णिअसंतिआ वाणिज्जकुसला पुरिसा। साहिअं सव्वपि कर-णिज्ज। सज्जीकय जाणवत्त[3]। एत्थ सुलभेण भंडेण भरिअं त। पसत्थ-तिह-करण-जोग-सजुआ सुहमुहुत्ता पत्थाण-वेला णिच्छिआ। आगए तम्मि समये सव्वेसि सम्मुह सविणयं जणय-थाणीअं मम्मण पणमतेण रयणेण सूइअ—'मज्झ कएण कय पिउपायस्स रिण मोयाविउ गच्छामि अहमज्ज देसतरं। एवइअकाल अहमेत्थ परमाणदेण ठिओ, ओरस-पोअव्व परम सिणेहेण लालिओ पालिओ सव्वंगिअ सुहं च पत्तो। एएसि महाणुहावाणं अज्जवि तारिसी पीई। तहवि मए कत्तव्वं पालणिज्ज'ति पवामेमि सराइ। जाणवत्तम्मि जं भंड विक्केअ तं सव्व सेट्ठिणो विज्जइ, ण किंचिवि मह। देसतरं गंतूण भंडं विक्किअ ज लाह लहिस्स तेण पिउपायेण गहिअं सकुसीअ धण तहा जाणवत्तगयं पि दव्व पच्चप्पिणिस्सं।

1 उप्फालेण-मच्छरिणा यथा—पोग्गलो, पिसुणो, मच्छरी, खलो, मुहमुहे

"हा ! केन शठेन विपरीतं पाठितः एष दृढतया। चित्रं ! अस्य स्वभावे कीदृशी रुक्षता समागता। अत्यन्तलज्जालुः अल्पभाषी अपि अद्य कीदृशो वाचालः स्थूलवचाश्च जातः। धिग्! धिग! उप्पालेन (मत्सरिणा) सर्वमपि निष्फलं कृतम्। असाध्योऽयं रोगः। प्रत्यक्षं निराशा अस्य आशा" अवसितं मन्मनेन।

"करिष्यामि सर्वमेव प्रवन्धं शीघ्रमेव पुत्र! अधुना तु भोजनं गृहीतव्यम्।" कथयता एवं श्रेष्ठिना उत्थापितः पुत्रो भोजनार्थम्। अनासादितरसा सरसा अपि रसवती कथं कथमपि आसादिता एताभ्याम्। अत्रान्तरे आहूताः मन्मनेन निजसत्काः वाणिज्य-कुशलाः पुरुषाः। कथितं सर्वमपि करणीयं कार्यम्। सज्जीकृतं यानपात्रम्। अत्र सुलभेन भण्डेन भरितं तत्। प्रशस्त-तिथि-करण-योग-संयुता शुभमुहूर्ता प्रस्थानवेला निश्चिता। आगते तस्मिन् समये सर्वेषां सम्मुखं सविनयं जनक-स्थानीयं मन्मनं प्रणमता रत्नेन सूचितम्— "मम कृते कृतं पितृपादस्य ऋणं मोचयितुं गच्छामि अहं अद्य देशान्तरम्। एतावत्कालं अहमत्र परमानन्देन स्थितः, औरसपोतवत् परमस्नेहेन लालितः पालितः सर्वाङ्गीणं सुखं प्राप्तः। एतेषां महानुभावानां अद्यापि तादृशी प्रीतिः। तथापि 'मया कर्तव्यं पालनीयम्' इति प्रवसामि सम्प्रति। यानपात्रे यत् भण्डं विक्रेयं तत् सर्वं श्रेष्ठिनः विद्यते, न किञ्चिदपि मम। देशान्तरं गत्वा भण्डं विक्रीय यल्लाभं लप्स्ये तेन पितृ-पादस्य गृहीतं सकुसीदं धनं तथा यानपात्र-गतमपि द्रव्यं प्रत्यर्पयिष्यामि। प्रस्थानकालिकं पारितोषिकं यद्-

---

य उप्पालो (पा० १२३) २ गृहीतव्यम् ३ यानपात्रम्-पोत इत्यर्थः। ४ सकुसीदम्—'ब्याज सहित' इति भाषा।

पट्ठाण-कालिअ पारिओसिअ[१] जं किंचिवि सेट्ठि-सगासाओ पाविस्स, तस्स लाहं गहिस्स स्वयमेवाहं. ण पच्छा करिस्सं त सेट्ठिणो पुण । इअ आयण्णिअ कयज्ज[२]-सेहरो मम्मणो किमप्पेमि'त्ति समयं पत्तो । अतम्मि अईव तुच्छत्तण दक्ख-वेतेण दढमुट्ठिणा अप्पिया 'मेमुंदी' णामिआ एगा तक्का-लिआ खुद्दा मुद्दा पारिओसिअ-रूवेण । सव्वेसि पासगाणं मणेसु अईव हीणत्त पत्तो सो किविणो इमिणा अइतुच्छ-दाणेण । धिअ ! दढमुट्ठिणो णिग्घिण हिअयं णिल्लज्ज दाणं, चिरपोसिअण पुत्तेणावि केरिसो ववहारो ? तहवि समय-ण्णूणा रयणेण माणद गहिआ सा, मत्थयत्थं काऊण सुरक्खिअं रक्खिआ । भवताण किवाओ बहुलाह-कारण भविस्सइ मे णूण दाणमिणं लघिट्ठं लक्खिज्जमाणमवि । अहवा सण्हमवि णग्गोह-बीअ ण कि महावित्थार-कारण होइ ?

इअ सिरिचदणमुणि-विरइआए पाउसागमामरचदणपत्ती-धणदत्त-विप्पतारण-पुत्तपरिवड्ढण-णिअपरिण्णा-णाइभावेहिं भाविआए रयणवालकहाए तइओ ऊसासो समत्तो

---

१ पारितोषिकम्-इनाम 'भीख' इतिभाषा २ कदर्यशेखर—कृपणप्रमुख ।

किञ्चिदपि श्रेष्ठि-सकाशात् प्राप्स्यामि तस्य लाभं ग्रहीष्यामि स्वयमेव अहम्, न पश्चात् करिष्यामि तत् श्रेष्ठिनः पुनः। इति आकर्ण्य कदर्य-शेखरः मन्मनः 'किं अर्पयामि' इति संशयं प्राप्तः। अन्ते अतीव तुच्छत्वं दर्शयता दृढमुष्टिना अर्पिता 'मेमुँदी' नामिकी एका तात्कालिकी क्षुद्रा मुद्रा पारितोषिक-रूपेण। सर्वेषां दर्शकानां मनसि अतीव हीनत्वं प्राप्तः स कृपणः अनेन अतितुच्छ-दानेन। धिग्! दृढमुष्टेः निर्घृणं हृदयम्, निर्लज्जं दानम्, चिरपोषितेन पुत्रेणापि कीदृशो व्यवहारः? तथापि समयज्ञेन रत्नेन सानन्दं गृहीता सा। मस्तकस्थं कृत्वा सुरक्षितं रक्षिता। भवतां कृपातः बहुलाभ-कारणं भविष्यति मे नूनं दानमिदं लघिष्ठं लक्ष्यमाणमपि। अथवा सूक्ष्ममपि न्यग्रोध-बीजं न किं महाविस्तार-कारकं भवति?

इति श्री चन्दनमुनिविरचितायां प्रावृडागमामर-
चन्दनप्राप्ति-धनदत्तविप्रतारण-पुत्रपरिवर्धन-
निजपरिज्ञानादिभावैर्भावितायां
रत्नपालकथायां तृतीयः
उच्छ्वासः समाप्तः



चोत्थो ऊसासो



अत्थि एसो तेलुक्क-विइओ पयडीए णिअमो जं जारिसी सुहाऽसुहा जस्स भावणा तारिसो च्चिअ परिणामो पुरस्सरो होइ । णिच्चं आम[1] सरेमाणा हवंति आमयाविणो तहा आरुग्ग कप्पता अरोआ । ण तेहि कयाइ उच्चय पयं पाविज्जइ जेसिं मणम्मि णिच्च अणासा, दुब्बल, अप्पणोव्वि अ अवोमासो परिप्फुरइ । "गयगया अम्हारिसाणं दिअहा । सपइ तु जहाकहचि कालो जवणिज्जो अम्हेहि । आगमिस्सइ अम्हाणमवि कोइ अणुलोमोऽवसरो तयाणि चिंतिस्सामो किमवि काउ" इत्थ जे पडिसमयं णिअय वेअल्ल[2] मणुहवंति ण ते पचजणा कत्थइ कयत्था, फलिअ-मणोरहा, सागारमुमिणा य होउमरिहंति । वट्टंति जेसिमुआरा विआरा, सुह-

---

१ रोगम् २ असामर्थ्यम् ।

४

चतुर्थ उच्छ्वासः



अस्ति एष त्रैलोक्य-विदितः प्रकृत्याः नियमः यत् यादृशी शुभा-शुभा यस्य भावना तादृशः एव परिणामः पुरस्सरो भवति। नित्यं आमं स्मरन्तः भवन्ति आमयाविनः तथा आरोग्यं कल्पन्तः अरोगाः। न तैः कदापि उच्चैः पदं प्राप्यते येषां मनसि नित्यं अनाशा, दौर्बल्यं, आत्मनोऽपि च अविश्वासः परिस्फुरति। "गतगता अस्मादृशानां दिवसाः। सम्प्रति तु यथाकथञ्चित् कालः यापनीयः अस्माभिः। आगमिष्यति अस्माकमपि कोऽपि अनुलोमोऽवसरस्तदानीं चिन्त-यिष्यामः किमपि कर्तुम्" इत्थं ये प्रतिसमयं निजकं वैकल्यं अनुभवन्ति, न ते पञ्चजनाः कुत्रापि कृतार्थाः, फलित-मनोरथाः, साकार-स्वप्नाश्च भवितुं अर्हन्ति। वर्तन्ते येषां उदारा विचाराः, शुभङ्करा कल्पना,

करा कप्पणा, सव्वगिअ हिअं, अकलुस च चित्त, तेसिं सव्वत्थ सुह सुह समुहीगा । आवइ-समयम्मि वि ण सुक्कइ[1] तेसि आसा-ओज्झरो[2] । भयाणय-णिसीहम्मि वि य दिट्ठि पह गच्छइ दिणमुह । मिलइ सयमेव विहिअ-मुहासय-वित्थारो अचितिओ परेसिमत्थारो[3] । तम्हा अत्थि उच्छाहो किर सव्व-सभलयाए मूल, कप्पणाण कप्परुक्खो, कामाण कामकु भो, चिंतिआण चिंतामणी पुण ।

वड्ढमाणंतरग-उच्छाहो अणेगवयंसेहि परिवारिओ, गुरुजणासीसाहि आसासिओ, मगल-पाढगेहि मागहेहिं थुणिओ, सम्मुह सयमुवट्ठिएहि सुह-सउणेहि वड्ढाविओ, अणुऊल-वायावरणेहिं चोइओ य रयणवालो मम्मण-गिहाओ णिग्गओ । मज्झेपहं मत्थय-ठविअ-पुप्फकरंडिआ अहिमुहमाच्छंती मिलिआ एगा पुप्फच्चिणिआ[4] । बहु-मुहं पट्ठिआण'ति रयणेण तक्कालं गहिआ पुप्फ करंडिआ[5] दाऊण तीसे मम्मणपिअ लहुमुद्दादाण । ताए[6] दाडिमस्स धायईए य सज्जुक्काणि मुरहिआणि पुप्फाणि आसी । सुहाणि'त्ति मुरक्खिआणि ताणि विवेगिणा रयणेण । परमेट्ठि-पचगं सरंतो अणेग[7]-वाणोत्तरेहिं सद्धि गुरु-जणे पणमंतो जाव आरुहइ पवहण ताव एगेण अणुहविणा थेरेण आगम्म सूइअं "पुत्त ! जहेच्छं वच्चसु, लहसु पुण्णं लाहं, परंतु मा वच्चसु कालकूड-णामग दीव । जओ तत्थ गंतारा विप्पलंभिज्जंति तत्थगय-धुत्तसेहरेहिं ।" 'हंता' इअ कहतेण रयणेण पडिवण्ण

---

१ मुक्कइ (अकर्मक०) २ आशानिर्झर, यथा—ओज्झर निर्झर जाण (पा० ६५७) ३ माहिज्ज अत्यारो (पाइय०) माहात्म्यमित्यर्थं ४ 'मालण' इति

सर्वाङ्गीणं हितं, अकलुषं च चित्तं, तेषां सर्वत्र सुखं सुखं सम्मुखीनम्। आपत्-समयेऽपि न शुष्यति तेषां आशा-निर्झरः। भयानकनिशीथेऽपि च दृष्टिपथं गच्छति दिनमुखम्। मिलति स्वयमेव विहित-शुभाशय-विस्तारः अचिन्तितः परेषां अत्थारः (साहाय्यम्)। तस्मात् अस्ति उत्साहः किल सर्वसफलताया मूलम्, कल्पनानां कल्पवृक्षः, कामानां कामकुम्भः चिन्तितानां चिन्तामणिः पुनः।

वर्धमानान्तरङ्गोत्साहः अनेकवयस्यैः परिवारितः, गुरुजनाशीर्भिः आश्वासितः, मङ्गलपाठकैर्मागधैः स्तुतः, सम्मुखं स्वयमुपस्थितैः शुभ-शकुनैः वर्धापितः, अनुकूलवातावरणैः चोदितः (प्रेरितः) च रत्नपालः मन्मनगृहात् निर्गतः। मध्येपथं मस्तकस्थापितपुष्पकरण्डिका अभिमुखं आगच्छन्ती मिलिता एका पुष्पचायिनी। 'बहु शुभं प्रस्थितानाम्' इति रत्नेन तत्कालं गृहीता पुष्प-करण्डिका दत्वा तस्यै मन्मनार्पितं लघुमुद्रादानम्। तस्यां दाडिमस्य धातक्याश्च सद्यस्कानि सुरभितानि पुष्पाणि आसन्। 'शुभानि' इति सुरक्षितानि तानि विवेकिना रत्नेन। परमेष्ठिपञ्चकं स्मरन् अनेक बाणोत्तरैः ("मुनीम" इति भाषायाम्) सार्धं गुरुजनेभ्यः प्रणमन् यावद् आरोहति प्रवहणं तावदेकेन अनुभविना स्थविरेण आगम्य सूचितम्—'पुत्र! यथेच्छं व्रज, लभस्व पूर्णं लाभम्, परन्तु मा व्रज कालकूटक-नामकं द्वीपम्। यतः तत्र गन्तारो विप्रलभ्यन्ते तत्रगतधूर्तशेखरैः'। 'हन्ता' (अभ्युपगमे) इति कथयता रत्नेन प्रतिपन्नं तस्य वचनम्। विमुक्ताः लङ्गरकाः ('लंगर'

भाषा। यथा—पुप्फच्चिणिआओ पुप्फलाईओ (पाइय० २१३) ५ फूलों की टोकरी ६ तीसे। ७ बाणोत्तरः 'गुमास्ता मुनीम' इतिभाषा (दे०)।

तस्स वयण। विमुत्ता णगरआ। वायाणुऊलं पूरिओ सिअ-पडो। चालिअ बोहित्थ णिज्जामगेहि। जहा-जहा तमग्गओ परिवड्ढिअं तहा-तहा अथग्घ-जलरासि-मज्झगयं उवरिं आगासं परिओ णीर णीरमेव नयण-पहमोअरिअं। किं सव्वावि धरा जलमइया जलजलागारा संवुत्ता। अव्वो! दसणिज्जा ठिई तत्त-दसगेहि पारावारस्स। मा सीमुल्लंघणं होउ'त्ति मणे सकिआओ मिव अग्गओ सरमाणीओ वि वीईओ पुणो पच्छा ओसप्पंति[१]। ण महंतएहि सत्तिप्पदसणं कायव्व'त्ति मणे महासामत्थसाली खणेण जीवलोगं पव्वा-लेउं[२] खमोवि समुद्दो समेरो चिट्ठइ। तम्हा 'सायरवर-गभीर'त्ति आगमिएहिं तित्थगराण कए तारिसो उवमा उवढाइआ। विअरणेण ण दाण-सुङाण धणहाणी भवेज्ज'त्ति सुणाइ महापयोहरोअराणि सयय भरमाणो वि णरित्तिम पत्तो म्हि'त्ति दक्खवेतो मणे सो उल्लोल-कल्लोलेहि रेहइ। तेहिं खु पत्तव्वाणि महग्घ-रयणाणि मुत्ताहलाणि अ जे अभीआ णिण्ण-जलमज्झप्पवेसणपरा हत्थगयप्पाणा सिआ य धीवरा, ण उण दरिअ-हिअयेहिं णवर पुलिण-चंकमणप्प-वणेहिं'ति दसेंतो इव विइण्ण[३]-सण्ह-सख-सुत्ति-उक्केर-वित्थिण्णेण तडेण अग्घइ। एवं कव्व-कप्पणा-परो भणुमई-सुओ मज्झेसमुद्दं सकुसल वच्चइ।

जं जं चिंतेइ अप्पणू मणुओ तं तं सव्वं तारिसं होइ'त्ति ण णिच्छिओ णिअमो। अव्वो! मणुअ-चिंतिअं जइ

---

१ अवसर्पन्ति २ पव्वालेउं—प्लावयितुम् 'प्लावेरोम्वालपव्वालौ (हि० ४-४१) ३ विकीर्णश्लक्ष्णशङ्खसूक्त्युत्करविस्तीर्णेन।

इति भाषायाम्) वातानुकूलं पूरितः सितपटः । चालितं बोहित्थं (नौका इति भाषायाम्) निर्यामकैः । यथा यथा तद् अग्रतः परिवर्धितं तथा तथा अस्ताघ-जलराशि-मध्यगतं उपरि आकाशं परितो नीरमेव नयनपथं अवतरितम् । किं सर्वापि धरा जलमयी जलजलाकारा संवृत्ता ? अव्वो ! दर्शनीया स्थितिः तत्त्वदर्शकैः पारावारस्य । 'मा सीमोल्लङ्घनं भवतु' इति मन्ये शङ्किताः इव अग्रतः सरन्त्योऽपि वीचयः पुनः पश्चात् अवसर्पन्ति । 'न महद्भिः शक्तिप्रदर्शनं कर्त्तव्यम्, इति मन्ये महासामर्थ्यशाली क्षणेन जीवलोकं प्लावयितुं क्षमोऽपि समुद्रः समर्यादः तिष्ठति । तस्मात् 'सागरवरगम्भीराः' इति आगमिकैः तीर्थंकराणां कृते तादृशी उपमा उपढौकिता । 'वितरेण न दान-शौण्डानां धनहानिर्भवेत्' इति शून्यानि महापयोधरोदराणि सततं बिभ्रद् अपि न रिक्ततां प्राप्तोऽस्मि' इतिदर्शयन् मन्ये उल्लोलकल्लोलैः राजते । तैः खलु प्राप्तव्यानि महार्घ्य-रत्नानि मुक्ताफलानि च ये अभीताः निम्न-जलमध्य-प्रवेशनपराः हस्तगत-प्राणास्युश्च धीवराः, न पुनः दरितहृदयैः केवलं पुलिन-चङ्क्रमण-प्रवणैः इति दर्शयन् इव विकीर्णश्लक्ष्ण-शङ्ख-शुक्त्युत्कर-विस्तीर्णेन तटेन राजते । एवं काव्य-कल्पनापरः भानुमतीसुतः मध्ये-समुद्रं सकुशलं व्रजति ।

यद् यत् चिन्तयति अल्पज्ञः मनुजः तत् तत् सर्वं तादृशं भवतीति न निश्चितः नियमः । अव्वो ! मनुजचिन्तितं यदि सर्वं साकारं सम्पद्यते, तदा एकेन खलु क्षणेन विसंस्थुलं जायते जगतीकार्यम्,

सव्वं सागारं संपज्जइ तया एगेण खलु खणेण विसंठुलं[1] जायइ जगई-कज्जं। अत्थवत्था होइ च अदिट्ठा ववत्था। विचित्तं रहस्स विज्जए एत्थ। लक्खंति केइ अलक्ख-लक्खणसहा महामेहाविणो जणा।

अयंड सव्वरीए पज्जोइआ विज्जू। उट्ठिआ मुइरा[2]। कण्ण गओ थणिअ-सद्दो। पज्झरिउं[3] पउत्ता बहला जल-धारा। पत्थरिअं गाढ धयारं। वाओ सवेगं झंझा-पहंजणो। संगोविअमवि जाणवत्तं सततमिव अकलिअ-ककुहं[4] विहिपेरिअ मणे धावेउं लग्गं इओ तओ। तत्था सव्वेवि जणा तत्था एजमाणतक्करणा किंकायव्व-विमुहा सुमरिअ-णिअ-णिअ-इट्ठ-देवा सजाया। कण्णधारेहिं अईव पयट्टिअ पोअं रोद्धुं, तहवि पडिऊल-पवणेण पणुल्लिअं[5] भावि-वसंवयं त एग अलक्खिअ दीवं पत्तं। पहाया रयणी। सता वुट्ठी। उवतडं सदाणिअं[6] जाणवत्तं। उग्गओ दिणयरो। कोऽयं दीवो'त्ति जागरिआ पवला जिण्णासा। पवहणाओ उत्तरिओ रयण-वालो जाव पय-ण्णास कुणइ पुलिणम्मि ताव सम्मुह-मागच्छंतो एगो मणुओ लोअण-मग्ग गओ। वाहित्तो सो समीवमागओ। पुट्ठं रयणवालेण को एसो पएसो'त्ति। जाणाविअं तेण तक्कालं। "कुमार ! अत्थि एसो कालकूडा-ऽहिआणो दीवो। एत्थ नाणा-णियडी-भेअ-कुसलो[7] पइदिण मायरिअ-दभचरिओ सव्व-धुत्तसेहरो 'कसिणायणो' णामं णिवई। एगेगओ अहिअयरा धुत्तप्पहाणा महुरालावा

---

१ अव्यवस्थितम् २ मुदिरा :—मेघा ३ क्षरितुम् 'क्षर' खिर-कार-पज्झर-पच्चड-णिच्चल-णिट्टुआ (हे० ४-१७३) ४ अकलितदिक् ५ प्रेरितम् (प्र०-

अस्तव्यस्ता भवति च अदृष्टा व्यवस्था। विचित्रं रहस्यं विद्यते अत्र । लक्षयन्ति केऽपि अलक्ष्यलक्षणसहाः महामेधाविनो जनाः ।

अकाण्डं शर्वर्यां प्रद्योतिता विद्युत् । उत्थिताः मुदिराः । कर्णं गतः स्तनित-शब्दः । क्षरितुं प्रवृत्ता बहुला जलधारा । प्रस्तृतं गाढान्धकारम् । वातः सवेगं झंझा-प्रभञ्जनः । सङ्गोपितमपि यानपात्रं स्वतन्त्रमिव अकलित-ककुब् विधि-प्रेरितं मन्ये धावितुं लग्नमितस्ततः । तत्स्थाः सर्वेऽपि जनाः त्रस्ताः एजमानान्तः करणाः किंकर्त्तव्य-विमुखाः स्मृत-निज-निजेष्टदेवाः संजाताः । कर्णधारैः अतीव प्रयतितं पोतं रोद्धुम्, तथापि प्रतिकूल-पवनेन प्रेरितं भावि-वशंवदं तत् एकं अलक्षितं द्वीपं प्राप्तम् । प्रभाता रजनी । शान्ता वृष्टिः । उपतटं सन्दानितं यानपात्रम् । उद्गतः दिनकरः । 'कोऽयं द्वीपः' इति जागरिता प्रबला जिज्ञासा । प्रवहणात् उत्तरितो रत्नपालः यावत् पदन्यासं कुरुते पुलिने तावत् सम्मुखं आगच्छन् एको मनुजः लोचनमार्गं गतः । व्याहृतः स समीपं आगतः । पृष्टः रत्नपालेन-'कः एष प्रदेशः' इति । ज्ञापितं तेन तत्कालम्–"कुमार ! अस्ति एष कालकूटाभिधानः द्वीपः । अत्र नाना-निकृति-भेद-कुशलः प्रतिदिनं आचरितदम्भचरितः सर्व-धूर्त-शेखरः 'कृष्णायनः' नाम नृपतिः । एकैकतः अधिकतराः धूर्त-प्रधानाः मधुरालापाः सत्यापिताक्षुण-यथार्थ-व्यवहाराः

णुद् इत्यस्य रूपम् ६ सन्दानितम्-बद्धमित्यर्थः ७ नानानिकृतिभेदकुशलः (निकृतिर्दम्भचर्या) ।

सच्चविआऽखूण[1]-जहत्थ-ववहारा अत्तत्था सव्वेवि पउरा। विहि-वसओ कोइ भद्दो सजत्तिओ[2] समागच्छइ एत्थ, सो गिद्धेहि मय-कलेवरमिव खडखडिओ, विप्पलभिओ, महा-दारिद्द पाविओ य होइ। मए सद्धिं वि एआरिसी भिसं णिअडीमइआ घडणा घडिआ।

जहा-भरिअ-भंडो जाणवत्तेण पारावारं पार कुणमाणो पडिऊलपहजण-पणुल्लिओ दुव्विहि-वसंवओ एत्थ कालकूड-दीवम्मि समात्रडिओ। अमुणिअ-वंचण-प्पवचेण मए विहा-विअ जमत्थि मह पासे एग महामुल्लिल्ल रयण-करंडग णिच्च कुसका-कुलाए पलंबाए तरगमालिणो जलाए तस्स समीवे रक्खण ण खेमकर, तम्हा वच्चेमि मज्झेणयरं प-लोएमि अ कमवि पुण्णं णीइमतं विक्खाय-सच्च-हरिअंदं तं ठावेउ थावण-रूवेण (णासरूवेण) तस्स समीवं, जहा पच्चावलेंतो णेण मग्गेण पुणो सुरक्खिअ पाएज्जा णिअं णिहिं। इअ विचिंतिअ गहिअ-रयण-करंडिओ पट्टणं पत्तो, को तारिसो सच्चवाइ-सेहरो'त्ति अणुसधाउं लग्गो। णव्वं पवासुअं म पलोइअ घय-धण्णाइ विक्कयकारगो कोइ आव-णिओ पुव्वसंगओ मिव 'सागय-सागय' साहेंतो सेराणणो सम्मुहमागओ, सबाहुक्खेव मिलेतो सो कुसल च पुच्छेउं पउत्तो। कमवि भद्दं पुरिस णच्चाहं तयावणम्मि गओ, उच्चासणम्मि णिवेसिओ य तेण सद्धिं सप्पेमं सलविउ-माढत्तो। सव्व धवल धवल दुद्धं'ति विसासिरेण मए णिअ-वत्थुरक्खणट्ठ सग्गह पत्थिओ सो. दंसिअ महग्घ वत्थुमवि।

मणमा तं रक्खिउ अईव तप्परोवि सो अलवलवसहो[3] सं

---

१ मन्यापिताक्षूण—यथार्थव्यवहारा २ सायान्त्रिक —पोतवणिक्।

अत्रस्थाः सर्वेऽपि पौराः। विधिवशतः कोऽपि भद्रः सांयान्त्रिकः समागच्छति अत्र, स गृद्धैः मृतकलेवरमिव खण्डखण्डितः विप्रलब्धः, महादारिद्र्यं प्रापितश्च भवति। मया सार्धं अपि एतादृशी भृशं निकृतिमयी घटना घटिता।

यथा-भरितभण्डो यानपात्रेण पारावारं पारं कुर्वन् प्रतिकूल-प्रभञ्जन-प्रेरितः दुर्विधिवशंवदोऽत्र कालकूटद्वीपे समापतितः। अज्ञात-वञ्चना-प्रपञ्चेन मया विभावितं यद् अस्ति मम पार्श्वे एकं महामूल्यवत् रत्न-करण्डकम्। नित्यं कुशङ्काकुलायां प्रलम्बायां तरङ्गमालिनः यात्रायां तस्य समीपे रक्षणं न क्षेमंकरम्, तस्माद् व्रजामि मध्येनगरं विलोके च कमपि पूर्णं नीतिमन्तं विख्यातं सत्यहरिश्चन्द्रं तत् स्थापयितुं स्थापनरूपेण (न्यासरूपेण) तस्य समीपम्, यथा प्रत्यावलमानः अनेन मार्गेण पुनः सुरक्षितं प्राप्नुयां निजं निधिम्। इति विचिन्त्य गृहीत-रत्नकरण्डिकः पत्तनं प्राप्तः, कस्तादृशः सत्यवादिशेखरः इति अनुसन्धातुं लग्नः। नव्यं प्रवासिनं मां प्रलोक्य घृतधान्यादिविक्रयकारकः कोऽपि आपणिकः पूर्वसङ्गतः इव 'स्वागतं-स्वागतम्' कथयन् स्मेराननः सम्मुखमागतः सबाहुक्षेपं मिलन् स कुशलं च प्रष्टुं प्रवृत्तः। कमपि भद्रं पुरुषं ज्ञात्वा अहं तदापणे गतः, उच्चासने निवेशितश्च तेन सार्धं स प्रेम संलपितुं आरब्धः। 'सर्वं धवलं धवलं दुग्धम्' इति विश्वसता मया निजवस्तु-रक्षणार्थं साग्रहं प्रार्थितः सः, दर्शितं च महार्घ्यं वस्त्वपि।

मनसा तद् रक्षितुं अतीव तत्परोऽपि स अलवलवसहः (धूर्त-

२ अलवलवसहो—धूर्तवृषभः।

अणण्णं सच्चवाइ दक्खवेतो सच्च-धवलिआए ललिआए गिराए वोत्तुमारद्धो–"बंधुप्पवर! किं कहिअ भवंतेण थावण-रक्खणट्ठं ? ए उण उईरणिज्जमिण। मए पुव्वमेव सवहीकयमुवहि-रक्खण। नूण भद्द-सहावेण सव्वं जग भद्दं 'ति मुणमाणेण मए रक्खिओ कस्सइ महाणुहावस्स णासो, परन्तु अइ कडुओ तप्परिणामो जहा कहंचि पारं पाविओ। तओ पच्छा ण कयाइ तारिच्छं कच्चं कायव्वं'ति परिण्णाय मए। तओ किवाए अण्णत्थ गतव्वं णास-विण्णास-वडियाए, णाहं कहमवि सीकाहमिणं।"

उविकट्ठं तस्स सच्च-णिट्ठं दिट्ठिं अणुहविअ एत्थेव रित्थं रक्खेमि'त्ति अह अणुरोहं काउं पउत्तो। तम्मि समयम्मि एगा वालिआ घयं किणेउमागया। वचण-वसहेण तेण पुणरवि मं पभावेउं एगा णियडी फुडीकया। जहा गहिअ एगगुणं दव्वं, तव्विणिमए दिण्णं बिउणं घयं। सप्पि गहिअ गया कण्णा। विम्हिएण मए तक्कालमुड्डंकिअं– "अहो! वाणिओ सि तुमं ज जाणासि वाणिय-वित्तिमवि। हरे! दव्वगहणाहितो अल्लविअ विगुणं अज्जं, कहमण वज्जमिणं कज्जं जं वणिअ-णाम-दूसगं मूढया-विअभिअं च। णाए पणालीए कहं तुह विवणी णीवि सुरक्खिअं रक्खिउं खमा।"

"सम्मं वितक्किअं तुमए। हीरणमणुहवइ मे मणो पडुत्तरं दाउं। परं किं कहेमि, अत्थि मे एआरिसो दाण-सीलो सहावो, वावारेवि ण सो पम्हुट्ठो हवइ। कहं कज्ज चतइ'त्ति ण मे रसणा वंजिउं पहुप्पइ। अज्ज! णत्थि किं

शिरोमणिः) स्वं अनन्य-सत्यवादिनं दर्शयन् सत्य-धवलितयाललितया गिरा वक्तुं आरब्धः—"बन्धुप्रवर ! किं कथितं भवता स्थापन-रक्षणार्थम् ? न पुनः उदीरणीयमिदम्। मया पूर्वमेव शपथीकृतं उपधि-रक्षणम्। नूनं भद्रस्वभावेन सर्वं जगत् भद्रं इति जानानेन मया रक्षितः कस्यापि महानुभावस्य न्यासः, परन्तु अति कटुकः तत्परिणामः यथाकथञ्चित् पारं प्रापितः। ततः पश्चात् न कदापि तादृशं कृत्यं कर्त्तव्यमिति प्रतिज्ञातं मया। ततः कृपया अन्यत्र गन्तव्यं न्यास-विन्यास-प्रतिज्ञया, नाहं कथमपि स्वीकरिष्ये इदम्।

उत्कृष्टां तस्य सत्यनिष्ठां दृष्टिं अनुभूय 'अत्रैव रिक्थं रक्षामि' इति अहं अनुरोधं कर्तुं प्रवृत्तः ! तस्मिन् समये एका बालिका घृतं क्रेतुं आगता। वञ्चकवृषभेण तेन मां प्रभावयितुं एका निकृतिः स्फुटीकृता। यथा गृहीतं एकगुणं द्रव्यं तद्विनिमये दत्तं द्विगुणं घृतम्। सर्पिः गृहीत्वा गता कन्या। विस्मितेन मया तत्कालं उट्टङ्कितम्— अहो ! वाणिजोऽसित्वं यद् न जानासि वाणिजवृत्तिमपि। अरे ! द्रव्यग्रहणात् अर्पितं द्विगुणं आज्यं, कथं अनवद्यमिदं कार्यं यद् वणिकनामदूषकं मूढताविजृम्भितं च। अनया प्रणाल्या कथं तव विपणिः नीवीं सुरक्षितां रक्षितुं क्षमा ?

"सत्यं वितर्कितं त्वया। ह्रीरणां (लज्जां) अनुभवति मे मनः प्रत्युत्तरं दातुम्। परं किं कथयामि अस्ति मे एतादृशः दानशीलः स्वभावः, व्यापारेऽपि यो न विस्मृतो भवति। 'कथं कार्यं चलति' इति न मे रसना व्यञ्जयितुं प्रभवति। आर्य ! नास्ति किं सर्वक्षति-

सव्वक्खइ-पूरगो सव्व-सत्तिमतो सव्वेसि जोग-क्खेम-कुसलो पहू ?" पुण्ण-सद्धा-पुव्वअ णिवेइअं तेण ।

इओ घयं गहिऊण सा कण्णा णिअ ठाण पत्ता ? ताए पिअरेण घय बिलोएऊण सच्छेर पुट्ठ—"पुत्तिआ ! कहं मुल्लाणुसारेण दुउणं घय दीसइ । ण तारिसो कोइ अण्णो धुत्त--सिरोमणी विज्जए णयरम्मि । तेण कह एआरिसं कय ? एत्थ किमवि रहस्स विज्जइ । किं कोइ पवासुओ तत्थ उवविट्ठो आसि ?"

पुत्तिआए भणिअ —"आम, एगो अणुवलक्खिओ कोइ णरो तत्थ किमवि वत्थुं रक्खिउकामो असइ अणुरोहं कुण-माणो आसि ।" सच्च तव्वंचणट्ठ किर तेण एसा णिअडी पयडीकया । कण्णे ! सत्तर वच्चमु घय पच्चप्पिणेउं, पुणरवि जहा ह कहेमि तहा पयडीकुणसु उत्त्वसर । सप्पिं गहिऊण बालिआ झत्ति हट्टं पत्ता, मिलाणाणणीहूअ साहेउ च पउत्ता—"आवणिअ ! कहमेअ अणुइअ कय ? कह विगुणं सप्पि समप्पिअं ? त पेक्खिअ मह पिआ अईव कुविओ जाओ । अहमवि मुक्ख'त्ति सद्देण अक्कोसिआ, णिरणुक्कोस ताडिआ य ।" तत्त सिक्खतेण उईरिअ—"भद्दे ! अप्पधणा वय'ति ण चितणिज्ज किमवि । णेआउत्रेण सम-जल-सित्तेण भोअणेण सतुट्ठा मुह जीवण जवेमो । णाय-विढविआ एगा कवड्डिआवि कोडी-तुल्ला । अण्णाय-सचिआ कुडिला कोडी वि ण णे कज्ज-साहणी, तम्हा पच्छा कुणमु तुह अहिअ अहिअ घयं" एव कहंतीए तीए घय-भायण पुरओ रक्खियं, अइरित्तं पच्चप्पिऊण तक्खणं च पडिवलिअ तीए । मए विमंसिअं—हंत ! बालिआए पिय-

पूरकः सर्वशक्तिमान् सर्वेषां योगक्षेमकुशलः प्रभुः ?" पूर्णश्रद्धापूर्वकं निवेदितं तेन ।

इतो घृतं गृहीत्वा सा कन्या निजं स्थानं प्राप्ता । तस्याः पित्रा घृतं विलोक्य साश्चर्यं पृष्ठम्—"पुत्रिके ! कथं मूल्यानुसारेण द्विगुणं घृतं दृश्यते ? न तादृशः कोऽपि अन्यः धूर्तशिरोमणिः विद्यते नगरे, तेन कथं एतादृशं कृतम् ? अत्र किमपि रहस्यं विद्यते । किं कोऽपि प्रवासी तत्र उपस्थितः आसीत् ?

पुत्रिकया भणितं—"आम्, एकः अनुपलक्षितः कोऽपि नरः तत्र किमपि वस्तु रक्षितुकामः असकृत् अनुरोधं कुर्वन् आसीत् ।" सत्यं तद्वञ्चनार्थं किल तेन एषा निकृतिः प्रकटीकृता । कन्ये ! सत्वरं व्रज घृतं प्रत्यर्पयितुम्, पुनरपि यथाहं कथयामि तथा प्रकटीकुरु उच्चस्वरम् । सर्पिः गृहीत्वा बालिका झगिति हट्टं प्राप्ता, म्लानाननीभूय कथयितुं प्रवृत्ता—"आपणिक ! कथं एतद् अनुचितं कृतम् ? कथं द्विगुणं सर्पिः समर्पितम् ? तत् प्रेक्ष्य मम पिता अतीव कुपितो जातः । अहमपि 'मूर्खा' इति शब्देन आक्रुष्टा, निरनुक्रोशं ताडिता च । तत्त्वं शिक्षयता उदीरितम् "भद्रे ! 'अल्पधना वयम्' इति न चिन्तनीयं किमपि । नैयायिकेन समजल-सिक्तेन भोजनेन संतुष्टाः सुखं जीवनं यापयामः । न्यायार्जिता एका कपर्दिका अपि कोटितुल्या, अन्याय-सञ्चिता कुटिला कोटिरपि न अस्माकं कार्यसाधनी, तस्मात् पश्चात् कुरु त्वं अहितं अधिकं घृतम् ।" एवं कथयन्त्या तया घृतभाजनं पुरतः रक्षितम्, अतिरिक्तं प्रत्यर्प्य तत्क्षणं प्रतिवलितं तया । मया विमृष्टम्—हन्त ! बालिकायाः पित्रा नूनं महासत्यवादिना भवितव्यम् । अतिरिक्तं आगतमपि घृतं येन न रक्षितम् । अहा ! कीदृशी विशुद्धा नीतिः, विमलं चिन्तनम्, धार्मिकी निष्ठा च ? यदि अस्याः पितुः समीपं

रेण णूणं महासच्चवाइणा हा अव्वं । अइरित्तं आगयं पि धय जेण ण रक्खिअ, अहा ! केरिसी विमुद्धा णोई, विमलं चितण, धम्मिआ णिट्ठा य ? जइ इमोमे पिउणो समीवं अहं रक्खेमि णिग्रं धण, तया ण किंचिवि आयईए भय संभावणिज्ज 'त्ति णिच्छिअ तओ तक्खण धण गहिअ कण्णाए अणुपयं चलिओ । आवणिअस्स णावा मणे मज्झेसमुद्द बुड्डा । पिट्ठओ तेण बहु सबोहिश्र, परतु मए किमवि ण पडिवण्ण । अयं धुत्त-सेहर'त्ति फुडं अणुहवमाणो तग्गिहं पत्तो । तेणावि ससमाण कुसलपण्हाओ पुट्ठाओ । अत्थि काइ मह जुग्गा सेव्व'त्ति साणुणय जिण्णासिअ । मए वि दव्व-दसणेण सद्धि णिआहिप्पाओ मूइओ । गुरुमुल्लिलत्त रित्थ पेक्खिअ सो तग्गहणट्ठ अतक्करणम्मि अईव आउरो जाओ, परं उवरिल्ल-भावेण पुव्व-वाणिअव्व पडिसेह-पडिओ हूओ । जहा-जहा तेण पडिसिद्धं तहा-तहा मए तत्थेव रक्खणट्ठं पमज्ज चिट्ठा विहिआ । तयतराले एगो विप्पो भिक्खमडंतो 'सत्थि कल्लाण'त्ति उच्चारेंतो तस्स णिहलण[1] पविट्ठो । भूदेवस्स पत्थ-मिय तदुलं देहि'त्ति गह-वइणा भज्जा आणत्ता । ससमाण भारिआए विप्पस्स दाण दिण्णं । दाणं गहिअ चलिओ वाडवो चिंतेउं लग्गो—'चोज्ज ! किमिणं नवीण जाय, एत्थ एआरिसी दाणसीलया ! मुट्ठिमिअं चुण्णमवि दुल्लह जत्थ । किविणिमा-कक्कसा भज्जा ण उच्छिट्ठेण हत्थेण साण हक्कारेइ । पेसग्गा कुणंती वि धण्णाणकणे चव्वए, तत्थ सालीगं दाण ! अत्थि कोइ वंचणा-

---

१ गृहम् ।

अहं रक्षामि निजं धनं तदा न किञ्चिदपि आयतौ भयं सम्भावनीय-मिति निश्चित्य ततः तत्क्षणं धनं गृहीत्वा कन्यायाः अनुपदं चलितः। आपणिकस्य नौर्मन्ये मध्येसमुद्रं ब्रुडिता। पृष्ठतः तेन बहु सम्बोधितम्, परन्तु मया किमपि न प्रतिपन्नम्। 'अयं धूर्तशेखरः' इति स्फुटं अनुभवन् तद्गृहं प्राप्तः। तेनापि ससम्मानं कुशल-प्रश्नाः पृष्टाः। 'अस्ति कापि मम योग्या सेवा' इति सानुनयं जिज्ञासितम्। मयाऽपि द्रव्य-दर्शनेन सार्धं निजाभिप्रायः सूचितः। गुरुमूल्यवत् रिक्तथं प्रेक्ष्य स तद्ग्रहणार्थं अन्तःकरणे अतीव आतुरो जातः। परं उपरितन-भावेन तु पूर्ववाणिजवत् प्रतिषेध-पण्डितो भूतः। यथा-यथा तेन प्रतिषिद्धं तथा तथा मया तत्रैव रक्षणार्थं प्रसह्य चेष्टा विहिता। तदन्तरालेऽपि एको विप्रो भिक्षां अटन् 'स्वस्ति, कल्याणम्' इति उच्चरन् तस्य निहेलनं (सदनं) प्रविष्टः। 'भूदेवाय प्रस्थमितं तन्दुलं देहि' इति गृहपतिना भार्या आज्ञप्ता। ससम्मानं भार्यया विप्राय दानं दत्तम्। दानं गृहीत्वा चलितो वाडवः चिन्तयितुं लग्नः—"चोज्जं! (आश्चर्यम्) किमिदं नवीनं जातम्, अत्र एतादृशी दानशीलता! मुष्टि-मितं चूर्णमपि दुर्लभं यत्र। कृपणताकर्कशा भार्या न उच्छिष्टेन हस्तेन श्वानं निषेधति। पेषणं कुर्वती अपि धान्यकणान् चर्वति, तत्र शालीनां दानम्! अस्ति कोऽपि वञ्चना-प्रपञ्चः। अनुसन्धान-तत्परस्य

पवचो। अणुसधाण-तप्परस्स तस्स पच्छा अवलोअमाणस्स अह दिट्ठिमग्गमोइण्णो। हंत! अस्स पवासुअस्स पतारणट्ठं एसा व्ययण्णया। कहं ण घेतव्वो मएवि अस्स अवसरस्स लाहो? इअ णिच्छिअ तक्खण सो णिअमुद्धवेढणम्मि एगं लहुं तणं णिवेसिअ पच्छा वलिओ, दीणाणणो भुञ्चा साहेउ पउत्तो—"हद्धी! महंतो अवराहो, अभूअपुव्वो मत्, अखमणिज्जा य मे तुडी जाया। भाय! अच्चंतं दुहिओम्हि! हा! जाहे हं दाणं गहेउ णिण्णकधरो भूओ तयाणि अणाभोगेण एगं छद्दिआए तणं मह उण्हीसम्मि सलग्गं। किंचि अग्गओ वच्चमाणस्स मह करो तण-संजुत्तो जाओ। तक्खणमहं कंपिअ-कलेवरो संवुत्तो। हा हा! अण्णाणयाए किमिणं अघडिअ घडिअ! अज्जप्पभिइ ण मए कस्सइ अदिण्णादाणं गहिअ, अज्जपइण्णा-भंगो हवीअ। ण मुल्लिल्लं तणं'ति किमदिण्णादाणमिअ एवं जइ लहुमवराहं ण किमवि त्ति उवक्खेज्जा, तयाणिं अणग्गल-वित्तीओ हुंतो सुवण्णावहरण-मवि ण दोस-दुट्ठं मण्णेज्जा। अव्वो? बभणस्स सव्वो वि किरिआ-कलाओ विलुत्तो हवेज्जा। अम्हाणं भिक्खागाणं कए णवर भिक्खाए च्चिअ अहिआरो। भिक्खाए तुट्ठा अम्हे परमाणंदिणो पडपल। अम्हाकं संगहेण धणस्स किं पओअणं", इअ वाकुणंतो तणं हत्थोहत्थि पच्चप्पिणिअ पच्चावलिओ। तस्स अवीअ सच्च-णिट्ठं वागरणं सुणिअ अहं अईव पभाविओ जाओ। अहो! केरिसो विप्पोऽयं अलोलुहो, णीइ-कुसलो, दढधम्मो य महप्पा विज्जए, जइ हं इमस्स धणं समप्पेमि, तया ण काइ अवहरण-संका समुट्ठिआ सिआ, एवं विमंसिअ एक्कवए तओ धणं गहिअ पचलिओ,

तस्य पश्चात् अवलोकमानस्य अहं दृष्टिमार्गमवतीर्णः। हन्त ! अस्य प्रवाग्निः प्रतारणार्थं एषा वन्दान्यता। कथं गृहीतव्यः मयाऽपि अवसरस्य लाभः ? इति निश्चित्य तत्क्षणं स निजमूर्धवेष्टने एकं लघु तृणं संनिवेश्य पश्चाद् वलितः, दीनाननो भूत्वा कथयितुं प्रवृत्तः—"हद्धी ! महान् अपराधः, अभूतपूर्वः मन्तुः, अक्षमणीया च मे त्रुटिर्जाता। भ्रातः ! अत्यन्त-दुःखितोऽस्मि। हा। यदा अहं दानं गृहीतुं निम्नकन्धरो भूतः, तदानी अनाभोगेन एकं छदिकायाः तृणं मम उष्णीषे संलग्नम्। किञ्चिद् अग्रतो व्रजतो मम करः तृणसंयुक्तो जातः। तत्क्षणं अहं कम्पित-कलेवरः संवृत्तः। हा हा। अज्ञानतया किमिदं अघटितं घटितम् ? अद्यप्रभृति न मया कस्यापि अदत्तादानं गृहीतम्। अद्य प्रतिज्ञाभङ्गः अभूत्। 'न मूल्यवत् तृणम्' इति किमदत्तादानमिदम् ? एवं यदि लघुं अपराधं न किमपि इति उपेक्षे तदानीं अनर्गलवृत्तिको भवन् सुवर्णविहरणमपि न दोष-दुष्टं मन्येय। अव्वो ! ब्राह्मणस्य सर्वोऽपि क्रियाकलापः विलुप्तो भवेत्। अस्माकं भिक्षुकाणां कृते केवलं भिक्षाया एव अधिकारः। भिक्षासन्तुष्टा वयं परमानन्दिनः प्रतिपलम्। अस्माकं संग्रहेण धनस्य किं प्रयोजनम् ? इति व्याकुर्वन् तृणं हस्ताहस्ति प्रत्यर्प्य प्रत्यावलितः। तस्य अद्वितीयं सत्य-निष्ठं व्याकरणं श्रुत्वा अहं अतीव प्रभावितो जातः। अहो ! कीदृशः विप्रः अयं अलोलुभः, नीतिकुशलः, दृढधर्मश्च महात्मा विद्यते। यदि अहं अस्मै धनं समर्पयामि तदा न कापि अपहरणशङ्का समुत्थिता स्यात्, एवं विमृश्य एकपदे ततो धनं

पवचो। अणुसंधाण-तप्परस्स तस्स पच्छा अवलोअमाणस्स अह दिट्ठिमग्गमोइण्णो। हंत! अस्स पवासुअस्स पतारणट्ठं एसा त्रयण्णया। कहं ण घेतव्वो मएवि अस्स अवसरस्स लाहो? इअ णिच्छिअ तक्खण सो णिअमुद्धवेढणम्मि एगं लहु तण मणिवेसिअ पच्छा वलिओ, दीणाणणो भुञ्चा साहेउ पउत्तो—"हद्धी! महतो अवराहो, अभूअपुव्वो मतू, अखमणिज्जा य मे तुडी जाया। भाय! अच्चत दुहिओम्हि! हा! जाहे हं दाण गहेउं णिण्णकंधरो भूओ तयाणिं अणाभोगेण एगं छड्डिआए तण महं उण्हीसम्मि संलग्गं। किंचि अग्गओ वच्चमाणस्स मह करो तण-संजुत्तो जाओ। तक्खणमहं कंपिअ-कलेवरो मवुत्तो। हा हा! अण्णाणयाए किमिणं अघडिअं घडिअं! अज्जप्पभिइ ण मए कस्सइ अदिण्णादाणं गहिअ, अज्जपइण्णा-भंगो हवीअ। ण मुल्लिल्ल तण'ति किमदिण्णादाणमिअ एवं जइ लहुमवराहं ण किमवि त्ति उवक्खेज्जा, तयाणिं अणग्गल-वित्तीओ हुंतो सुवण्णावहरण-मवि ण दोस-दुट्ठं मण्णेज्जा। अव्वो? त्रभणस्स सव्वो वि किरिआ-कलाओ विलुत्तो हवेज्जा। अम्हाण भिक्खागाराण कए णवर भिक्खाए च्चिअ अहिआरो। भिक्खाए तुट्ठा अम्हे परमाणंदिणो पइण्ल। अम्हाकं संगहेण धणस्स किं पओ-अग्गं", इअ वाकुणंतो तण हत्थोहत्थि पच्चप्पिणिअ पच्चा-वल्लिओ। तस्स अवीअं सच्च-णिट्ठं वागरणं सुणिअ अह अईव पभाविओ जाओ। अहो! केरिसो विप्पोऽयं अलो-लुहो, णीइ-कुसलो, दढधम्मो य महप्पा विज्जइ, जइ हं इमस्स धणं समप्पेमि, तया ण काइ अवहरण-संका समुट्ठिआ सिआ; एवं विमंसिअ एक्कवए तओ धणं गहिअ पचलिओ,

गृहीत्वा प्रचलितः। पूर्वधूर्तेन वारितोऽपि अहं न तत्र स्थितः। तं अनुव्रजन् तस्य निलयं प्रविष्टः।

तेन अहं अतिमधुर-व्यवहारेण व्यवहृतः। मयापि निजं द्रव्यं दर्शयित्वा रक्षणार्थं आग्रहः कृतः, परन्तु तेन धूर्तेन स्फुटं अनिच्छा दर्शिता। तदानीमेव एको योगी भिक्षार्थं आगतः शङ्खं पूरयितुं लग्नः। तं प्रेक्ष्य स अतीव उत्फुल्लो जातः। सभक्तिवन्दना कृता। धन्यं भागधेयं इति वदन् पायस-भिक्षया तस्य झोलिका पूरिता। अन्यानि अपि बहूनि सुमधुर-भोज्यानि समर्पितानि। गुरुझोलिको मोमुदितो योगी गुरु-ससीमं प्राप्तः। कामपि नवीनां रसाढ्यां भिक्षां निभाल्य जरण्डः (वृद्धः) गुरुः विस्मयं प्राप्तः। अद्य कः एतादृशः सद्यस्कः दाता नगरे उत्पन्नः, येन ईदृक्षा प्रकामरसा रसवती भिक्षायां दत्ता? प्रतिदिवसं तु त्वं शुष्कं रुक्षं अन्तं प्रान्तं च भोजनजालं आनयसि। न कदापि एतादृशं मनोज्ञं भोजनं लभसे। किं तत्र कोऽपि नवीनो भद्रो धनाढ्यो जनः स्थितः आसीत्? अवश्यं रहस्यं विद्यते अत्र किमपि।

शिष्येण 'हन्ता' कथयता प्रतिपन्नम्। गुरुणां कथितम्—"शिष्य! झोलिकां गृहीत्वा तत्रैव गन्तुं त्वरस्व। मम प्रपञ्चितं प्रकटीकुर्वन् अतुच्छसाफल्यं लभस्व। 'गुरवः प्रमाणम्' इति वदन् त्वरमाणः शिष्यः सझोलिकः तत्रैव पुनरागम्य सखेदं वक्तुं आरब्धः—"भक्त! अद्य मया अनर्थः उपालम्भो गुरोः प्राप्तः। यदाहं भिक्षां नीत्वा गुरूपकण्ठं गतः। तव दत्तां सरसां भिक्षां प्रेक्ष्य विरक्तो गुरुः रक्तो जातः। क्रुद्धया वाचा उपालब्धुं प्रवृत्तः—"मूढ! कल्पते किं साधूनां

पुव्व-धुत्तेणं वारिओ वि अहं ण तत्थ ट्ठिओ। तमणुवच्चंतो तस्स णिलय पविट्ठो। तेणाहं अइ महुर-ववहारेण ववहरिओ। मएत्ति णिअ दव्व दसिअ रक्खणट्ठ अग्गहो कओ, परन्तु तेण धुत्तेण फुड अणिच्छा दक्खविआ। तयाणिमेव इक्को जोई भिक्खट्ठमागओ सम पुरेउं लग्गो। तं पेक्खिअ सो अईव उप्फुल्लो जाओ। सभत्ति वंदणा कया। धण्णं भागहेय'ति वएतेण पायसभिक्खाए तस्स झोलिआ पूरिआ। अण्णाइ पि बहूइं सुमहुर-भोज्जाइ समप्पिआइं। गुरु-झोलिओ मोमुइओ जोई गुरु-समीम पत्तो। कमवि णवीणं रसड्ढ भिक्खं णिहालिअ जरडो[1] गुरू विम्हय पत्तो। अज्ज को एरिसो सज्जुक्को दायारो णयरम्मि उप्पण्णो, जेण एरिच्छा पगाम-रसा रसवई भिक्खाए दिण्णा। पडिदिअहं तु तुम सुक्क, रुक्ख, अंत, पंत च भोअणजायं आणिंणेसि, ण कयाइ एआरिस मणुण्णं भोअणं लब्भसि, कि तत्थ कोई णवीणो भद्दो धणड्ढो जणो ट्ठिओ आसी? अवस्स रहस्सं विज्जए एत्थ किमवि। सीसेण 'हंता' कहंतेण पडिवण्णं। गुरुणा उप्पालिअ—"सीस! झोलिअं गहिअ तत्थेव गंतु तुरसु। मह पवचिअ पयडीकुणमाणो अचुच्छ-साहल्लं लहसु।" गुरुणो पमाण'ति वयतो तुरंतो सीसो सझोलिओ तत्थेव पुणरागम्म सग्गेअं वोत्तुमाढत्तो—"भत्त! अज्ज मए अणट्ठो उवालंभो गुरुस्स पत्तो, जयाहं भिक्ख णेऊण गुरुवकंठं गओ। तुह दिण्ण सरसं भिक्खं पेक्खिअ विरत्तो गुरू रुट्ठो जाओ। आविन्निज्जाए वायाए पच्चारेउं पउत्तो—"मूढ! कप्पए किं

1 जरण्डो-वृद्धः।

गृहीत्वा प्रचलितः। पूर्वधूर्तेन वारितोऽपि अहं न तत्र स्थितः। तं अनुव्रजन् तस्य निलयं प्रविष्टः।

तेन अहं अतिमधुर-व्यवहारेण व्यवहृतः। मयापि निजं द्रव्यं दर्शयित्वा रक्षणार्थं आग्रहः कृतः, परन्तु तेन धूर्तेन स्फुटं अनिच्छा दर्शिता। तदानीमेव एको योगी भिक्षार्थं आगतः शङ्खं पूरयितुं लग्नः। तं प्रेक्ष्य स अतीव उत्फुल्लो जातः। सभक्तिवन्दना कृता। धन्यं भागधेयं इति वदन् पायस-भिक्षया तस्य झोलिका पूरिता। अन्यानि अपि वहूनि सुमधुर-भोज्यानि समर्पितानि। गुरुझोलिको मोमुदितो योगी गुरु-ससीमं प्राप्तः। कामपि नवीनां रसाढ्यां भिक्षां निभाल्य जरण्डः (वृद्धः) गुरुः विस्मयं प्राप्तः। अद्य कः एतादृशः सद्यस्कः दाता नगरे उत्पन्नः, येन ईदृक्षा प्रकामरसा रसवती भिक्षायां दत्ता? प्रतिदिवसं तु त्वं शुष्कं रुक्षं अन्तं प्रान्तं च भोजनजातं आनयसि। न कदापि एतादृशं मनोज्ञं भोजनं लभसे। किं तत्र कोऽपि नवीनो भद्रो धनाढ्यो जनः स्थितः आसीत्? अवश्यं रहस्यं विद्यते अत्र किमपि।

शिष्येण 'हन्ता' कथयता प्रतिपन्नम्। गुरुणां कथितम्—"शिष्य! झोलिकां गृहीत्वा तत्रैव गन्तुं त्वरस्व। मम प्रपञ्चितं प्रकटीकुर्वन् अतुच्छसाफल्यं लभस्व। 'गुरवः प्रमाणम्' इति वदन् त्वरमाणः शिष्यः सझोलिकः तत्रैव पुनरागम्य सखेदं वक्तुं आरब्धः—"भक्त! अद्य मया अनर्थः उपालम्भो गुरोः प्राप्तः। यदाहं भिक्षां नीत्वा गुरूपकण्ठं गतः। तव दत्तां सरसां भिक्षां प्रेक्ष्य विरक्तो गुरुः रक्तो जातः। क्रुद्धया वाचा उपालब्धुं प्रवृत्तः—"मूढ! कल्पते किं साधूनां

साहूण एआरिसी भिक्खा ? णवरं तएणं भुंजेतो वि बक्करो कामेण पगाम पराहूओ हवए तया सरसं भुंजेतो जोई कहं बंभचेरवसवओ। मिच्छा कहणमिणं ज रस-लोलुहो वि जोइ'त्ति ? किं पओअण अम्हाकं णाणा-रस-वंजण-जुएण भोअणेण ? अम्हेहिं तु सुक्ख रुक्ख भोअव्व, विजणे वणे चिट्ठिअव्व, तुह-जत्ता च कायव्वा। णूएणं ण हवइ कयाइ तवस्सा-विहूणा सभला साहुणा" एव कहिअ तत्थेव पायसाइअं छड्डिअ पच्छावलिओ सो। त सुणिअ अह तु उत्तभिओ, विम्हिओ, तग्गुण-रंजिओ य जाओ। अव्वो ? केरिस वेरग्गं, अब्भुआ णिप्पिवासिआ, विचित्ता य विरत्तो ! णीसकं मए तत्थेव दव्व अप्पिअव्व। अलाहि विकप्पेण। तक्कालं त अणुसरतो पुरस्स बहिआ मढम्मि महंतस्स दंसणं कयं। विरत्ति-विगसिओ वत्तालाओ जाओ। मए वि णास-सुरक्खट्ठं विणत्तो सो। अम्हाक किं पओयणं'ति बहु-णिसिद्धं तेण। अते अइ अग्गहेण तेण सीकयं मह पत्थणं। एत्थ ण किमवि भयं'ति णीचितो समुद्दम्मि अग्गओ चलिओ।

पिट्ठओ महादव्व-लोलुहेण महंतेण सव्वे वि सीसा पुहत्त पाविआ। मढ-पओलीए मुहमवि परावत्तिअ। सव्वेवि रुक्खा छेइआ। णिआ एगा अच्छी वि फोडिआ। सव्वावि लीला अण्णारिसी चिअ कया।

किंचि कालाणतरं जयाहं पच्छा सुरक्खियं णासं गहेउकामो तत्थ समागओ, तया ण किमवि उवलक्खिअं पत्त, ण महंतेण वत्तावि विहिआ। "विम्हुट्ठोसि तुमं, ण एत्थ मुमिणंमि एआरिसी घडणा घडिआ।"

एतादृशी भिक्षा ? केवलं तृणं भुञ्जानः अपि वर्करः कामेन प्रकामं पराभूतो भवति, तदा सरसं भुञ्जानो योगी कथं ब्रह्मचर्य-वशंवदः ? मिथ्या कथनमिदम् यत् रसलोलुपोऽपि योगी। किं प्रयोजनं अस्माकं नाना-रस-व्यञ्जन-युतेन भोजनेन ? अस्माभिस्तु शुष्कं रुक्षं भोक्तव्यं, विजने वने स्थातव्यं, तीर्थ-यात्रा च कर्तव्या। नूनं न भवति कदापि तपस्याविहीना कापि सफला साधना" एवं कथयित्वा तत्रैव पायसादिकं भुक्त्वा पश्चात् वलितः। तत् श्रुत्वा अहं तु उत्थम्भितः विस्मितस्तद्गुणरञ्जितश्च जातः। अव्वो ! कीदृशं वैराग्यम् ? अद्भुता निष्पिपासिता, विचित्रा च विरक्तिः। निस्सङ्कं मया तत्रैव द्रव्यं अर्पितव्यम्। अलं विकल्पेन। तत्कालं तं अनुसरन् पुरस्य वहिः मठे महन्तस्य दर्शनं कृतम्। विरक्ति-विकसितो वार्तालापो जातः। मयापि न्याससुरक्षणार्थं विज्ञप्तः सः। 'अस्माकं किं प्रयोजनम्' इति बहुनिषिद्धं तेन। अन्ते अति आग्रहेण तेन स्वीकृतं मम प्रार्थनम्। अत्र न किमपि भयमिति निश्चिन्तः समुद्रे अग्रतश्चलितः।

पृष्ठतः महाद्रव्य-लोलुभेन महन्तेन सर्वेऽपि शिष्याः पृथक्त्वं प्रापिताः। मठ-प्रतोल्याः मुखमपि परावर्तितम्। सर्वेऽपि वृक्षाः छिन्नाः। निजं एकं अक्षिः अपि स्फोटितम्। सर्वाऽपि लीला अन्यादृशी एव कृता।

किञ्चित् कालानन्तरं यदा अहं पश्चात् सुरक्षितं न्यासं गृहीतुकामः तत्र समागतः, तदा न किमपि उपलक्षितं प्राप्तम्। न महन्तेन वार्ताऽपि विहिता। 'विस्मृतोऽसि त्वं न अत्र स्वप्नेऽपि एतादृशी घटना घटिता' स्फुटं निषिद्धं तेन।

फुड णिसिद्धं तेण। कुमार! तओ प्पभिइ अहं जत्थ तत्थ भमेमि, परतु ण कोइ मह पउत्तिं सुणेइ। अत्थु, इण मेव कहणस्स तप्पज्जं[1], ज तए अईव कुसलत्तेण वट्टिअव्वं, अण्णहा ण कुसल'ति मतव्वं। सखेवेण एवं णिवेइऊण मा कोइ म पासउ'त्ति तक्खणं पलाणो सो।

संभरिआ रयणेण अणुहविणो थेरस्स सद्दा। हंत! अमुणिअ विहि-विलसिअ अणहिलसिअ ठाणमागअ। सपइ कि कायव्व'ति चिताउरो जाओ कुमारो।

इअ सिरिचदणमुणि-विरइआए णायराओ पट्ठाण-
कालकूडदीवागमण-णियडीघडणासवणाइ-
भावेहि रेहिआए रयणवाल-
कहाए चउत्थो ऊसासो
समत्तो

1 तात्पर्यम्।

कुमार ! ततः प्रभृति अहं यत्र तत्र भ्रमामि, परन्तु न कोऽपि मम प्रवृत्तिं शृणोति। अस्तु, इदमेव कथनस्य तात्पर्यं यत् त्वया अतीव कुशलत्वेन वर्तितव्यम् अन्यथा न कुशलमिति मन्तव्यम्। संक्षेपेण एवं निवेद्य 'मा कोऽपि मां पश्यतु' इति तत्क्षणं पलायितः सः।

संस्मृता रत्नेन अनुभविनः स्थविरस्य शब्दाः ? हन्त। अज्ञातं विधि-विलसितं अनभिलषितं स्थानं आगतम्। सम्प्रति किं कर्त्तव्यमिति चिन्तातुरः जातः कुमारः।

इति श्री चन्दनमुनि-विरचितायां नगरात् प्रस्थान-कालकूटद्वीपागमन-निकृतिघटनाश्रवणादिभावैः शोभितायां रत्नपाल-कथायां चतुर्थः उच्छ्वासः समाप्तः

५

अह पंचमो ऊसासो



अहो ! पोग्गलिआ सव्वावि भव्वा परिणई पुण्णकम्म-पणुल्लिआ । पुण्णबंधोवि ण हवेज्ज विणा सुहजोगं । 'जत्थ सुहजोगो तत्थ णिअमेण णिज्जरे 'त्ति पवेइअं आगमिएहिं । णिज्जरा वि ण तवमंतरेण । तवो वि पयडं धम्मंगो । तम्हा धम्मो च्चिअ सव्व-सुहमूल'ति विणिच्छिअं तत्त ।

इओ अ दुवे अस्सारूढा रायकेरा पुरिसा णिअ-ककुहं धावेता रयणेण लक्खिआ । 'के एए' इअ सकिअं जायं माणस । केण पओअणेण इमे समीवयंति मं'ति कोउहल्ला-उलो जाओ अप्पा । झडित्ति सविहं पत्ता एए पुच्छेउं लग्गा सहिलासमित्थं—"कुमार-मिट्ठ ! संति किं तुह समीवं दाडिमस्स धायईए य पसूणाणि । जुज्जति ताणि महालुक्कस्स¹

---

१ महारुग्णस्य

५

अथ पञ्चमः उच्छ्वासः

●

अहो ! पौद्गलिकी सर्वापि भव्या परिणतिः पुण्यकर्मप्रेरिता। पुण्य-बन्धोऽपि न भवेत् विना शुभयोगम्। 'यत्र शुभयोगः तत्र नियमेन निर्जरा' इति प्रवेदितं आगमिकैः । निर्जराऽपि न तपोऽन्तरेण। तपोऽपि प्रकटं धर्माङ्गम् । तस्माद् धर्म एव सर्व-सुख-मूलम्' इति विनिश्चितं तत्वम्।

इतश्च द्वौ अश्वारूढौ राजकीयौ पुरुषौ निजककुभं धावन्तौ रत्नेन लक्षितौ। 'कौ एतौ' इति शङ्कितं जातं मानसम्। केन प्रयोजनेन इमौ समीपयतः माम् इति कुतूहलाकुलः जातः आत्मा । झटिति सविधं प्राप्तौ एतौ प्रष्टुं लग्नौ साभिलाषमित्थम्—"कुमार-श्रेष्ठ ! सन्ति किं तव समीपं दाडिमस्य धातक्याश्च प्रसूनानि ? युज्यन्ते

णरणाहस्स तिगिच्छा-णिमित्तं । जइ सति ता अवस्सं दायव्वाणि तुमए । एसो महामुल्लोऽवसरो ण चुक्कणिज्जो समयण्णुणा" एवं कहेता पच्चुत्तर पडिक्खंता तुण्हिक्का ठिआ ।

अहो ! धुत्ताण अकलणिज्जा कला । अलक्खणिज्जा विज्जा । अणवगतव्व तत्त । कह णायं एहिं दाडिम-धायई-पुप्फाण गुज्झ ? विचित्तो किर परप्पयारण-विज्जाए पढमिल्लो पयासो 'ति ससको जाओ कुमारो । अहवा हवेज्ज अंधवट्टकीयमिणं[1] । दक्खयाए देमि अस्स पच्चुत्तरं जहा ण विणट्ठ होइ सामइअ किच्च । किंचि चिंतेऊण सूइअ रयणेण—"सभवेज्ज रोयाणं भीसणमक्कमो । पडिकिरिआ वि तेसिं णाणोसहोवयार-सज्झा । पुप्फाणं हेउणो तुम्हाणमुट्टंकणावि णाणुइआ, तहावि अपरिचिआ अम्हे इहच्च[2]-मणुएहिं । तो कह पच्चेमो ज तुम्हकेरं मग्गण जहत्थ 'ति । जइ अप्पणो रायमती एत्थ आगंतूणं समीचीण-आए पयडेइ वइअरं, कुणेइ य वीसत्थं णे मणं, णूणं जहच्छिअ-वत्थूवलध्दी भाविणि 'त्ति संभावणिज्जं ।

णिसमिऊण रयणवालस्स जुत्तिजुत्त वयणं उप्फुल्ला संजाया ते दडवासिआ[3] । एक्कसरिअ महामच्चं पट्ठवेमो तं घेत्तुं 'ति कहमाणा सहसा धाविआ ते णयर-दिसं । णाणाविह-कप्पणापरो विहिप्पवरो कुमरो[4] तत्थेव ठिओ अदिस्सं भविस्स गवेसंतो ।

---

१ अन्धवर्त्तकीयम्-अतर्कित किमपि यदा अदृष्टघटित भवति तदाऽय

कइवाह[1]सब्भ-णयर-महंतएहिं समं अचिरमागओ सविहं मेअस्स सइवो[2] णयणेहिं अमयं वासेतो। जाया जय-जिणिंदाइविही[3]। पुट्ठं कुसलं। कुओ समागमणं 'ति पुच्छा पुण। दिहि-प्पहाणेण पहाणेण परिचिओ कओ इमो णिवइणो दूसहच्छि-विअणाए। कया णाणोवयारा, परं ण भूओ आमोवसमो, पच्चुल्ल परिवड्ढिआ पीला। आगओ कोइ एगो अणुहवि-तल्लजो अगयकारो। कयं णियाणं। लद्धा जहत्था ठिई। पत्थुअं भेसजं, परंतु तं दाडिम-धायई-सुमेहिं सद्धिं पजुंजइ 'त्ति तेसिं मग्गणा कया। विहि-वसओ कत्थइ ण मिलिओ भिसं ढढुल्लमाणाणमवि णे तेसिं संजोगो। आउरस्स खणमेत्तमवि दूसहं विसढं च, तहावि असक्के णिरुवाए किं काउं सक्कं। अतक्किअं सवण-कुहरमागअं जं कोइ सजत्तिओ समुद्द-तडम्मि उत्थभिओ[4]। पीडिआण मणेसु सव्वओ परिप्फुरइ काइ आसालहरी। संभवेज्ज आगंतुगस्स समीवं तं वत्थुं। तम्हा आगया अम्हेच्चया मणुआ। अहमवि तयट्ठमेव उवट्ठिओम्हि। गहउ जहेच्छिअं मुल्लं, दायव्वं जीवण-दायगं अमुल्लं तं। णत्थि मुल्लिल्लं वत्थुं किंतु मुल्लिलो समयो। ता जइ अत्थि तं साणुग्ग-हमविलंबेण विअरउ भवंतो। णीसंदेहं णीरोओ णिवो सुहायइ-हेऊ भविस्सइ भवंतस्स। विणयकइअवं[5] आयण्णिअ अमच्च-भारइं पच्चइअ[6] जायं रयणस्सतक्करणं। महंतं कुड्डमिणं जमंड तुच्छमवि वत्थुं अतुच्छ-लाह-कारणं हवेज्ज

---

१ कतिपयसभ्य-नगरमहत्कैः २ सचिव ३ प्राकृते विधिशब्दस्य स्त्रीलिङ्गे पि

कतिपय-सभ्य-नगर-महत्कैः समं अचिरं आगतः सविधं एतस्य सचिवः नयनाभ्यां अमृतं वर्षयन्। जातो जयजिनेन्द्रादिविधिः। पृष्ठं कुशलम्। कुतः समागमनम् इति पृच्छा पुनः? वृति-प्रधानेन प्रधानेन परिचितः कृतोऽयं नृपतेः दुःसहाक्षिवेदनया। कृताः नानोपचाराः, परं न भूतः आमोपशमः, प्रत्युत परिवर्धिता पीडा। आगतः कोऽपि एकः अनुभवि-तल्लजोऽगदङ्कारः। कृतं निदानम्। लब्धा यथार्था स्थितिः। प्रस्तुतं भैषजं, परन्तु तद् दाडिम-धातकी-सुमैः सार्धं प्रयुज्यते इति तेषां मार्गणा कृता। विधिवशतः, कुत्रापि न मिलितः भृशं गवेषयतां अपि अस्माकं तेषां संयोगः। आतुरस्य क्षणमात्रमपि दुःसहं, विषमं च, तथापि अशक्ये निरुपाये किं कर्तुं शक्यम्? अतर्कितं श्रवणकुहरमागतं यत् कोऽपि सांयात्रिकः समुद्रतटे उत्थम्भितः। पीडितानां मनःसु सर्वतः परिस्फुरति कापि आशा-लहरी। सम्भवेत् आगन्तुकस्य समीपं तद् वस्तु। तस्माद् आगताः आस्माकाः मनुजाः। अहमपि तदर्थमेव उपस्थितोऽस्मि। गृण्हातु यथेप्सितं मूल्यं, दातव्यं जीवनदायकं अमूल्यं तत्। नास्ति मूल्यवत् वस्तु, किन्तु मूल्यवान् समयः। तस्माद् यदि अस्ति तत् सानुग्रहं अविलम्बेन वितरतु भवान्। निःसन्देहं नीरोगो नृपः शुभायति-हेतुर्भविष्यति भवतः। विगत-कैतवं आकर्ण्य अमात्यभारतीं प्रत्ययितं जातं रत्नस्य अन्तःकरणम्। महद् आश्चर्यमिदं यत् अतितुच्छमपि वस्तु अतुच्छ-लाभकारणं

विहिणिओइअं । अहवा विमल भागहेय कहं, कया, कत्थ पडिफलेइ 'त्ति अगम्म गुज्झ । देमि अणायासमाणोआणि ताणि णिरट्ठु परिट्ठुविअव्वाणि मे सुमाणि । इअ वीमंसिअ कुमारेण सहोदज्जं[1] महुरमालविअ—"अत्थि मतिप्पवर ! तुम्हे हिं अइ अण्णेसिअ त वत्थु अणायासमागय मे सद्धि । इओ किमहिअ भव्व जं मामग वत्थुं णयरणाहस्स कज्जमेइ । कहं जहेच्छिअ मोल्ल गेज्झ त्ति साहिअ । मोल्ल तु भवारिसाण किवच्छि-विकूणिअमेव[2] अम्हारिसाणं । पडिवालेतु खणं भवता जहा अहमवि तुम्हेहि समं पुप्फोवढोअण-णिहेण[3] णिवइ-दसण-लाह गिण्हिउं सक्केमि ।"

वहुवर, दुत्ति[4] होह सज्जा तुम्हे । विरमालेइ रणरण-येण णरवई तत्थ । अयमागच्छेमि 'त्ति भणतो रयणवालो तक्काल परिहिअ-णिव-सहोइअ-णेवत्थो, धारिअ-णाणा-विहालंकारो, गहिअ-उवईकरणारिह-विसिट्ठ-वत्थुणिचओ[5], सुमज्जिअ-पुप्फकरंडिओ, अणेगेहिं णिअ-मणुएहिं परिवा-लिओ य अमच्चेण साग णिवइ-दंसणट्ठं णिग्गओ । णिवेणावि लद्धा इमिआ पउत्ती जमेगो बालो पोअ-वाणिओ गहिअ ताणि पुप्फाणि म सक्ख काउमागच्छेइ 'त्ति । अदिट्ठि पत्तो णिवो पेक्खइ तस्स मग्ग ताव मतिणा सद्धि उससिअ-रोमकूओ[6] उवणओ जिणदत्त-सुओ । कयं सविणयं णिवइणोऽहिणंदण । जाया ओवयारिआ[7] वत्ता । पाहुडीकयं अण्णं महग्घ वत्थुं पुप्फाणि पुण । हट्ठो जाओ णिवो ।

---

१ सहोदार्यम् २ कृपाक्षिविकूणितमेव । ३ पुष्पोपढौकननिषेण ४ झगिति

भवेत् विधि-नियोजितम्। अथवा विमलं भागधेयं कथं, कदा, कुत्र, प्रतिफलति इति अगम्यं गुह्यम्। ददामि अनायासं आनीतानि तानि निरर्थं परिष्ठापितव्यानि मे सुमानि। इति विमृश्य कुमारेण सहौदार्यं मधुरं आलपितम्—"अस्ति मन्त्रिप्रवर! युष्माभिः अति अन्वेपितं तद् वस्तु अनायासं आगतं मया सार्धम्। इतः किं अधिकं भव्यं यद् मामकं वस्तु नगरनाथस्य कार्यमेति। कथं यथेप्सितं मूल्यं ग्राह्यमिति कथितम्? मूल्यं तु भवादृशानां कृपाक्षिविकूणितमेव अस्मादृशानां। प्रतिपालयन्तु क्षणं भवन्तः, यथा अहमपि युष्माभिः समं पुष्पोपढौकन-मिषेण-नृपतिदर्शन-लाभं ग्रहीतुं शक्नोमि।"

वहुवरम्, झगिति भवत सज्जाः यूयम्। प्रतीक्षते रणरणकेन नरपतिः तत्र। 'अय आगच्छामि' इति भणन् रत्नपालः तत्कालं परिधृत-नृप-सभोचित-नेपथ्यः, धारित-नानाविधालङ्कारः, गृहीत-उपदीकरणार्हं-विशिष्ट-वस्तु-निचयः, सुसज्जित-पुष्पकरण्डकः, अनेकैः निजमनुजैः परिवारितश्च अमात्येन-साकं नृपतिदर्शनार्थं निर्गतः। नृपेणापि लब्धा इयं प्रवृत्तिः यत् एको वालः पोतवणिग् गृहीत्वा तानि पुष्पाणि मां साक्षात्कर्तुं मागच्छति इति। अधृतिं प्राप्तः नृपः प्रेक्षते तस्य मार्गं, तावद् मन्त्रिणा सार्धं उसलिअ-रोमकूपः (रोमाञ्चितः) उपनतः जिनदत्तसुतः। कृतं सविनयं नृपतेः अभिनन्दनम्। जाता औपचारिकी वार्ता। प्राभृतीकृतं अन्यद् महार्घ्यं वस्तु, पुष्पाणि पुनः। हृष्टो जातो नृपः। विहितः कुशलवैद्यवरेण औषध-प्रयोगः। अस्ख-

विहिओ कुसल-वेज्जवरेण ओसह-प्पयोगो । अक्खलिया जाया तम्म मुहावहा पडिकिरिआ । अणणुहूअ-पुव्व साय वेइअ रण्णा । अणेण मज्झ जीविअदाणं दिण्णं 'ति अईव तुट्ठो भूओ णिवो रयणवालस्सुवरि । कया उइआ ववत्था । दाविअ वसणारिह विसाल ठाण । सुट्ठिअ कय भइ । दिण्ण रण्णा राय-सहाए आमण । पेक्खइ त भूवइ किवा-दिट्ठीए । सणिअ-सणिअ परिचिओ जाओ तत्थ-गय-ट्ठिईए कुमारो । सचालिओ वावारो । विकीणेउमाढत्त अइलाहगर-भावेण भड । लद्धो अचिंतिओ लाहो । वइक्कतो छम्मासिओ कालो । गहिअं जुग्गेण भावेण पुणरवि णवीणं तत्थमुलह भड । सयराहमेव णिअ देसं गतव्व 'ति चेट्ठिअ कुमारेण । पर विही किमहिणव घडेइ 'त्ति णिसमिअव्व भव्वेहि ।

अत्थि एगा समय-कुसला विआर-दक्खा मुगहिअ-नाणाविह-सिप्पकलासत्तस्सर - साहणाए - सुविइअ - गंधव्व - विज्जा विचित्त–भासापरिण्णाण–विलसिअ–कव्वकलावा भुत्ता सरस्सई विव अदुट्ठ-वण्णरूवा अणुवमेयागिई अब्भुआगरिमणा सव्वग-सु दरी महुरमहुरालावा गुणवई रयणवई णाम णिवस्स धूआ । सा जोव्वणं पत्ता पिअराण चिंता-कारणं जाया । अणेगे कुमारा इमाए कएणं सण्हं विलोइआ रण्णा, परं ण तत्थ कुल-रूव-सील-विज्जाईणं जहच्छिअ-गुणाण उववत्ती जाया । अजोगस्स जस्स कस्सइ णिवो ण दाउमहिलसइ । जप्पभिइ सव्व-गुण-सजुओ सुरूवो विणयसीलो विवेगी रयणवालो णयणायणमागओ तप्पभिइ

लिता जाता तस्य सुखावहा प्रतिक्रिया। अननुभूतपूर्वं सातं वेदितं राज्ञा। अनेनं मह्यं जीवितदानं दत्तमिति अतीव तुष्टो भूतो नृपो रत्नपालस्योपरि। कृता उचिता व्यवस्था। दापितं वसनार्हं विशालं स्थानम्। सुस्थितं कृतं भाण्डम्। दत्तं राज्ञा राजसभायां आसनम्' प्रेक्षते तं भूपतिः कृपा-दृष्ट्या। शनैः शनैः परिचितः जातः तत्रगत-स्थित्या कुमारः। सञ्चालितः व्यापारः। विक्रेतुं आरब्धं अतिलाभ-करभावेन भाण्डम्। लब्धः अचिन्तितः लाभः। व्यतिक्रान्तः षाण्मासिकः कालः। गृहीतं योग्येन भावेन पुनरपि नवीनं तत्र-सुलभं भाण्डम्। शीघ्रमेव निजं देशं गन्तव्यमिति चेष्टितं कुमारेण। परं विधिः किं अभिनवं घटयति इति निशामयितव्यं भव्यैः।

अस्ति एका समय-कुशला विचार-दक्षा सुगृहीत-नानाविध-शिल्पकला सप्तस्वरसाधनया सुविदित-गान्धर्व-विद्या विचित्र भाषा-परिज्ञानविभूषित-काव्य-कलापा मूर्ता सरस्वती इव अदुष्टवर्णरूपा अनुपमेयाकृतिः अद्भुताकर्षणा सर्वाङ्गसुन्दरी मधुर-मधुरालापा गुणवती रत्नवती नाम नृपस्य दुहिता। सा यौवनं प्राप्ता पित्रोः चिन्ताकारणं जाता। अनेके कुमाराः तस्याः कृते सूक्ष्मं विलोकिताः राज्ञा, परं न तत्र कुल-रूप-शील-विद्यादीनां यथेप्सित-गुणानां उपपत्तिः जाता। अयोग्याय यस्मै कस्मै नृपो न दातुमभिलषति। यत्प्रभृति सर्व-गुण-संयुतः सुरूपो विनयशीलो विवेकवान् रत्नपालो

णिवस्स हिअयम्मि णुमण्णो[1] सो धूआ-पच्चप्पिणट्ठं । णूणमत्थि मे पेमसुहा-ण्हाविआए[2] सुआए जुग्गो रयणवालो कुमारो । ण मए एआरिसो रूव-गुण-सुंदरो परो वरो नरो दिट्ठो, परंतु पावासुओ[3] एसो किं पडिवज्जिहिइ ताए सग्गहं पाणिग्गहणं 'ति चिंताउलिओ णिवो तूल-मयणिज्जम्मि संविसंतोवि[4] ण लहइ णिसीहम्मि णिद्दं । रायेण रक्खिआ णिआ भावणा सइवस्स समक्खं । तेणावि अणुमोइअ उइअ पहुस्स चिंतणं 'ति । कायव्वो पयत्तो, कयाइ लभेज्जा साहल्लं एत्थ । एगम्मि पसण्ण-वायावरणम्मि हक्कारिओ विजणम्मि कुमारो । कुसल-पुच्छणेण सद्धिं दक्खयाए पुरओ रक्खिआ मणोभावणा । नहि णणु अम्हाण भावणा णिप्फला होहि 'त्ति पयडिआ आसा । भीसणायंक-णिवारग कुमारं पइ किं पडिकुणेमि इओ अण्णं ?

सुमिणेवि अतक्किअ, अदिट्ठं, अवीमंसिअ च सुणिऊण णिवस्स मग्गणं अईव विम्हिओ चिंतिओ य जाओ कुमारो । किं करणिज्जं किमुत्तरं देयं 'ति विकप्पणा-वीई-आहओ हूओ हिअय-वीईमालो । एगओ अपत्त-जणणीजणगेण मए ण दारपरिग्गहो कायव्वो 'त्ति णिच्छओ । अण्णओ परम-सिलाहणिज्जो णयरणाहस्स अहक्किअव्वो[5] अणुरोहो । उवणओ एत्थ सप्प-छच्छुंदरिआए णाओ ।

किमवि अचवमाणं[6] तुण्हीभावमागअं एयं विलोइअ पुणो णरिंदेण साग्गहं पुट्ठं—"कहं तुण्हिक्को त्थि कुमारो ?"

---

१ निषण्ण —उपविष्ट इत्यर्थ. 'द्विन्योरुत्' 'उमो निषण्णे' (हे० ११७४) २ प्रेमसुधास्नपितायाः ३ प्रवासी 'प्रवासीक्षौ' (हे० १-२५) ४ शयानोऽपि

नयनायनमागतः तत्प्रभृति नृपस्य हृदये निषण्णः स दुहितृ-प्रत्यर्पणार्थम्। नूनं अस्ति मे प्रेमसुधा-स्नपितायाः सुतायाः योग्यो रत्नपालः कुमारः। न मया एतादृशः रूप-गुण-सुन्दरः परो वरो नरो दृष्टः। परन्तु प्रवासी एष किं प्रतिपत्स्यते तया साग्रहं पाणिग्रहणमिति चिन्ताकुलितः नृपः तूलशयनीये संविशन्नपि न लभते निशीथे निद्राम्। राज्ञा रक्षिता निजा भावना सचिवस्य समक्षम्। तेनापि अनुमोदितं 'उचितं प्रभोःचिन्तनमिति, कर्त्तव्यः प्रयत्नः, कदापि लभेत साफल्यं अत्र। एकस्मिन् प्रसन्नवातावरणे आकारितः विजने कुमारः। कुशल-पृच्छनेन सार्धं दक्षतया पुरतः रक्षिता मनोभावना। नहि ननु अस्माकं भावना निष्फला भविष्यति इति प्रकटिता आशा। भीषणान्तक-निवारकं कुमारं प्रति किं प्रतिकरोमि इतः अन्यत् ?

स्वप्नेऽपि अतर्कितं अदृष्टं अविमृष्टं च श्रुत्वा नृपस्य मार्गणं अतीव विस्मितः चिन्तितश्च जातः कुमारः। किं करणीयं, किं उत्तरं देयमिति विकल्पना-वीच्याहतो भूतो हृदय-वीचिमाली। एकतः अप्राप्त-जननीजनकेन मया न दारपरिग्रहः कर्त्तव्यः इति निश्चयः, अन्यतः परमश्लाघनीय-नरनाथस्य अनिषेधनीयः अनुरोधः। उपनतः अत्र सर्प-छुच्छुन्दरिकायाः न्यायः।

किमपि अजल्पन्तं तूष्णीभावमागतं एतं विलोक्य पुनः नरेन्द्रेण साग्रहं पृष्टम्—"कथं तूष्णीकोऽस्ति कुमारः ?

"मह मे भग्गं ज पुरप्पहुणा सप्पसायमामंतिओहं दुहिआ-दाणट्ठं, किंतु कत्थ अम्हाण धणेगलोलुहाणं वणिआणं कुलं ? कत्थ छिइ-पइट्ठिओ वीररस-विसिट्ठो रायण्ण-वंसो ? कुह अम्हेच्चया सत्थपरायणा णिच्चभीआ मणोदसा ? कहिं खत्तिआण थिरसकप्पा परत्थ-प्पवणा साहसिआ मणट्ठिई ? सोहए सुवण्ण-खसिआ[1] महग्घा मणी, ण उणाइ कय-चागच्चिग्गेवि काय-सयले। जओ जुग्गेण जुग्गस्स जोअणा जोअगस्स मेहामाहप्पं पयडीकरेइ। तो अण्णे अण्णयाणुरूवा महारूव-सत्ति-सालिणो रायकुमारा पेक्खिअव्वा" फुडं कोमलसरं सविणयं कयजलिणा णिवेइ अरयणेण।

"ण एत्थ वचग-सेहराणं णाहस्स पुरओ चलिस्सइ तुह वचगा वित्ती। ज मण्णणिज्ज त मण्णणिज्जमेव एत्ताहे, साय, सुवे, परज्जु अवरज्जु वा। ण एत्थ कोइ अण्णो निग्गमण-मग्गो 'त्ति धुवं मुणिअव्वं। एत्थेव किर कुसलं, किं बहुवाया-वित्थरेण" पणुल्लिअं सव्वंगगिराए सगव्वं जणाहिवेण।

आयण्णिऊण णिवस्स परिणाम-विसद अतिमं सूइयं अणुहूअं हिअय-कपण कुमारेण। ण आणाप्पहाणाणं णिवाण सुट्ठिआ पीइ 'त्ति सइमागय णीई-वयण। तक्खण रयणेण परिवट्टिओ भासाए सरो। विणत्त पडिवण्ण-भाव-संदब्भिआए गिराए—"णरणाह ! कया मया पडिसिद्धं भे कहणं ?

---

१ सुवर्णजचिता। 'खचितपिशाचयोश्च सल्लौ वा' (हे० १-२३)।

"महद् मे भाग्यं यत् पुरप्रभुणा सप्रसादं आमन्त्रितः अहं दुहितृ-दानार्थम्। किन्तु कुत्र अस्माकं धनैकलोलुभानां वाणिजानां कुलम्? कुत्र क्षितिप्रतिष्ठो वीररस-विशिष्टो राजन्यवंशः? कुत्र आस्माका स्वार्थपरायणा नित्यभीता मनोदशा? कुत्र क्षत्रियाणां स्थिरसङ्कल्पा परार्थप्रवणा साहसिकी मनःस्थिति? शोभते सुवर्णखचिता महर्घ्या मणिः[1] न पुनः कृतचाकचिक्येऽपि काचशकले। यतः योग्येन योग्यस्य योजना योजकस्य मेधामाहात्म्यं प्रकटीकरोति। ततः अन्ये अन्वयानु-रूपाः महारूपशक्तिशालिनो राजकुमाराः प्रेक्षितव्याः" स्फुटं कोमल-स्वरं सविनयं कृताञ्जलिना निवेदितं रत्नेन।

"न अत्र वञ्चकशेखराणां नाथस्य पुरतः चलिष्यति तव वञ्चका वृत्तिः। यत् मन्तव्यं तद् मन्तव्यमेव इदानीं, सायं,श्वः, परेद्युः अप-रेद्युर्वा। न अत्र कोऽपि अन्यो निर्गमनमार्गः इति ध्रुवं ज्ञातव्यम्। अत्रैव किल कुशलं किं वहु वाचा-विस्तरेण" प्रेरितं सव्यङ्गगिरा सगर्वं जनाधिपेन।

आकर्ण्य नृपस्य परिणाम-विषमं अन्तिमं सूचितं अनुभूतं हृदय-कम्पनं कुमारेण। 'न आज्ञाप्रधानानां नृपाणां सुस्थिता प्रीतिः' इति स्मृतिमागतं नीतिवचनम्। तत्क्षणं रत्नेन परिवर्तितो भाषायाः स्वरः। विज्ञप्तं प्रतिपन्नभावसंदब्धया गिरा। "नरनाथ! कदा मया

अणोलिसं[1] मह भागहेयं जं सक्खं कप्पलयव्व रायण्णा कण्णा मे वस-रुक्खमारुहइ। को खु एआरिसो मंदभग्गो जो अब्भागच्छमाणि लच्छि हक्केइ? णिआ जुग्गया तु फुडं रक्खिअव्व 'त्ति विवेगिणो धम्मो, जहा ण पच्छाताओ हवइ।

कण्हायण-भूवइणा तक्खण आहूओ राउल-मुहुत्तिओ[2]। पुट्ठ पुत्तिआए पाणिग्गहणट्ठ सुलग्ग तक्कालिअ। पचग-णिहालण-पुरस्सरं किमवि अंगुलि-पव्वेसु सखायमाणेण चंदसूराइस्सरे गहमाणेण फुडीकयं तेण उवयमस्स पक्ख-मज्झगय सुदिणं। एगच्चीकया सव्वावि तज्जुग्गा सामग्गी। आढत्तं तुरिआइ-सणिणाएण समं सुहवी-सुस्सर-समुट्ठिअं मगलगीआइअ पढमिल्लं किच्च। उच्छिईकया तोरणाईणं मणोहरा रयणा। सज्जीकयाइ णाणामागलिअ-पुप्फपत्ताण उक्केरेण दाराइं। सिरिरयणवालो रयणवइं परिणेस्सइ 'त्ति सव्वेहि णायरेहि णाय। तेहिं वि जहाठाणं विविह-कोउअ-मगलाइ विरइआइ। समागओ पाणिग्गहण-वासरो। गहिअ-उव्वट्टणेण रयणेण पहिरिओ[3] वरोइओ वग्गुवेसो[4]। अईव धिप्पिरो सो हय-खंधमारूढो। पइच्चच्वरं वद्धाविआ वरजत्ता णिव मदिर पत्ता। जाओ सव्वोवि विवाह-विहि-णिव्वाहो। सलज्ज-णयणेहिं दइअ-मुहचंदं पलोअमाणीए रयणवईए चओरिव्व मणंमि अणोवमिअ सुहमणुहूयं। दाय देतेण णिवेण अपरिमिआ सुवण्ण-रयणरासी णाण-

---

१ अनीदृश-अनुपममित्यर्थं २ राजकुलमौहूर्तिकः ३ परिधृत- ४ वल्गुवेशः (वल्गु-रुचिरम्)

प्रतिपिद्धं भवतः कथनम् ? अनीदृशं मम भागधेयं यत् साक्षात् कल्पलतावत् राजन्या कन्या मे वंशवृक्षं आरोहति। कः खलु एतादृशो मन्दभाग्यः योऽभ्यागच्छन्तीं लक्ष्मीं निषेधति ? निजा योग्यता तु स्फुटं रक्षितव्या इति विवेकिनो धर्मः, यथा न पश्चात्तापो भवति।

कृष्णायनभूपतिना तत्क्षणं आहूतो राजकुल-मौहूर्तिकः। पृष्टं पुत्रिकायाः पाणिग्रहणार्थं सुलग्नं तात्कालिकम्। पञ्चाङ्ग-निभालन-पुरस्सरं किमपि अंगुलीपर्वेषु संख्यायता चन्द्रसूर्यादिस्वरान् गृह्णानेन स्फुटीकृतं तेन उपयमस्य पक्षमध्यगतं सुदिनम्। एकत्रीकृता सर्वापि तद्योग्या सामग्री। आरब्धं तूर्यादिसंनिनादेन समं सुभगी-सुस्वर-समुत्थितं मङ्गल-गीतादिकं प्राथमिकं कृत्यम्। उच्छ्रितीकृता तोरणादीनां मनोहरा रचना। सज्जीकृतानि नानामाङ्गलिक-पुष्पपत्राणां उत्करेण द्वाराणि। 'श्रीरत्नपालः रत्नवतीं परिणेष्यति' इति सर्वैर्नागरैर्ज्ञातम्। तैः अपि यथास्थानं विविधकौतुकमङ्गलानि विरचितानि। समीपं आगतः पाणिग्रहणवासरः। गृहीतोद्वर्तनेन रत्नेनापि परिधृतः वरोचितः वल्गुवेशः। अतीव दीप्रः सः हयस्कन्धमारूढः। प्रतिचत्वरं वर्धापिता वरयात्रा नृपमन्दिरं प्राप्ता। जातः सर्वोऽपि विवाह-विधि-निर्वाहः। सलज्जनयनाभ्यां दयितमुखचन्द्रं प्रलोकमानया रत्नवत्या चकोरीवत् मनसि अनुपमितं सुखं अनुभूतम्। दायं ददता नृपेण अपरिमितः सुवर्णरत्नराशिः नानाविचित्रदेशान्त-

विचित्त-देसतरोवलद्ध-वत्थूहि सद्धि ससिणेह समप्पिआ। णवोढाए सद्धि समागओ भाणुमई-सुओ ससुर-समप्पिअम्मि पासायम्मि। पयट्टे वि पाणिग्गहण-महूसवे णाणुहवइ अब्भतरि सति रयणस्संतक्करण। कि मे इमाए रायधूआए समसुव्वाहेण जाव ण दुहिआण मायर-पिअराण हिअयम्मि सति पामावेमि[1]। अलाहि तारिसीए मुहेल्लीए[2] जत्थ ण अवस्स करणिज्ज कज्ज णिव्वाहिअ होइ। तो जाव णाह पुज्जाण पिअराणं दसण काह ताव ण पिअयमाए सह गिहत्थासम-सुहं माणिस्स[3] 'ति निच्चला पइण्णा पडिवण्णा मणम्मि विवेगिणा सुपुत्तेण।

रोपलब्धवस्तुभिः सार्धं सस्नेहं समर्पितः। नवोढया सार्धं समागतः भानुमतीसुतः श्वसुरसमर्पिते प्रासादे। प्रवृत्तेऽपि पाणिग्रहण-महोत्सवे नानुभवति आभ्यन्तरीं शान्तिं रत्नस्य अन्तःकरणम्। किं मे अनया राजदुहित्रा समं उद्वाहेन यावत् न दुःखितयोः मातापित्रोः हृदये शान्तिं प्रापयामि। अलं तादृश्या सुखकेल्या यत्र न अवश्यं करणीयं कार्यं निर्वाहितं भवति। ततो यावन्नाहं पूज्यानां पितॄणां दर्शनं करिष्यामि तावन्न प्रियतमया सह गृहस्थाश्रमसुखं अनुभविष्यामि, इति निश्चला प्रतिज्ञा प्रतिपन्ना मनसि विवेकिना सुपुत्रेण।

"प्रियतमे ! अस्ति अस्मत्कुलस्य एतादृशी मर्यादा यत् नवपरिणीतः नववध्वा समं यावत् न कुलदेवतानां अर्चनां करोति तावत् न पञ्चेन्द्रिय-सुखकेलीं अनुभवितुं प्रभवति" इति ज्ञापिता रत्नेन नवप्रियतम-सङ्ग-समुत्कण्ठिता नव-भार्या। लज्जावत्या तया 'आर्यपुत्राः प्रमाणम्' इति कथयन्त्या पति-वचनं सानन्दं स्वीकृतम्। 'न कुत्रापि मन्त्रभेदः कर्त्तव्यः' इति प्रतिश्रुतं द्वाभ्याम्। एवं नानाविधालापसंलापसंसक्तयोः जम्पत्योः अतिक्रान्ताः स्तोकाः दिवसाः। वहु अवशिष्टं कार्यमिति स्मरता रत्नेन शीघ्रमेव निज-देश-गमनं निश्चितम्। सुअवसरं प्राप्य सविनयं श्वसुरपादाः निवेदिताः। कृत-प्रत्यावलनसमीहं ज्ञात्वा जामातरं वुन्नं (उद्विग्नं) जातं नृपस्य चित्तम्। अत्ता (श्वश्रूः) तु अतीव आर्ता दुहितृविरहतप्ता उच्चेतस्त्वं प्राप्ता।

च पत्ता। हरे! एआरिसी का तुरा? किमेत्थ पईवं[1]? कहमुव्विग्गो जामायर-मणो? आहूओ णिअ-पासायम्मि ससिणेह अत्ताए पुत्तसमाणो जामाया। साणुरोह कहेउ-माढत्ता—"दे जामायरं! ण कहं जीहिआ[2] होइ दे जीहा गच्छेमि'त्ति कहेंती? एआरिसी हलिद्दा-राय-सरिच्छा तुह पीई! सपइ च्चिअ विवाह-कज्ज समत्त, ण तस्स खेओ अहुणावहि उत्तरिओ, कहं गमण-पउत्ती पयालिआ तुमए। धी! धी! कि पवासूण सोहद? का तेसि वीसासो? को तेसि सबधो? एमेव उत्तम्मइ तेहि सद्धि मेत्ति जोएतो[3]। णो, ण सपइ गमण-सबधिअ एगक्खरमवि जंपि-अव्व, पच्छा जहा-समय सय वयं तम्मि विसयम्मि चितिस्सामु'त्ति साहेमाणी सासू अंसुजलाउल-लोअणा जाया।

"णाहं एत्थ संपइ चिराएउं खमोम्हि। पुव्वमेव मे कालाइवट्टुणए जाय कंय-णिच्छयाऽणुसारेणं। अत्थि मे तत्थ अच्चतमावस्सय किच्च। अपत्ते मई विणट्ठं होइ त सयल, तम्हा किवाए मे एगागिणो पच्चावलणमणुमोइअव्वं सपइ। पच्छा जहाकाल पुणरवि अहमेत्थ सयराहमेव आगमिस्स" पयडिअ सदक्खिण्णं रयणेण।

एगागिणो गमण 'त्ति मुणिऊण राया अईव जूरिओ[4] जाओ। को वीसंभो पवासिणो, कया पच्छा आगच्छेज्ज? पउत्थस्स[5] का भाव-परिणई होइ 'त्ति केण णज्जइ?

१ प्रतीपम् २ लज्जिता। लज्जिर्जीहि (हे० ४-१०३) ३ उत्ताम्यति-खिन्नो

हरे ! एतादृशी का त्वरा ? किमत्र प्रतीपम् ? कथं उद्विग्नं जामातृ-मनः ? आहूतः निजप्रासादे सस्नेहं स्वश्रूवा पुत्रसमानः जामाता सानुरोधं कथयितुं आरब्धा—"हे जामातः ! न कथं लज्जिता भवति तव जिह्वा गच्छामि इति कथयन्ती ? एतादृशी हरिद्राराग-सदृक्षा तव प्रीतिः ? सम्प्रति एव विवाह-कार्यं समाप्तं, न तस्य खेदः अधुना-वधि उत्तीर्णः, कथं गमनप्रवृत्तिः प्रचालिता त्वया ? धिग् ! धिग् ! किं प्रवासिनां सौहृदम् ? कस्तेषां विश्वासः ? कस्तेषां सम्बन्धः ? एवमेव उत्ताम्यति तैः सार्धं मैत्रीं योजयन् । नो, न सम्प्रति गमन-सम्बन्धिकं एकाक्षरमपि जल्पितव्यं, पश्चात् यथासमयं स्वयं वयं तस्मिन् विषये चिन्तयिष्यामः" इति कथयन्ती स्वश्रूः अश्रुजलाकुल-लोचना जाता ।

"नाहं अत्र सम्प्रति चिरायितुं क्षमोऽस्मि । पूर्वमेव मे कालाति-वर्तनं जातं कृतनिश्चयानुसारेण । अस्ति मे तत्र अत्यन्तं आवश्यकं कृत्यम् । अप्राप्ते मयि विनष्टं भवति तत् सकलम् । तस्मात् कृपया मे एकाकिनः प्रत्यावलनं अनुमोदितव्यं सम्प्रति । पश्चाद् यथाकालं पुनरपि अहं अत्र शीघ्रमेव आगमिष्यामि" प्रकटितं सदाक्षिण्यं रत्नेन ।

'एकाकिनः गमनम्' इति श्रुत्वा राजा अतीव खिन्नो जातः । कः विश्रम्भः प्रवासिनः, कदा पश्चात् आगच्छेत् ? प्रोषितस्य का भाव-परिणतिः भवति इति केन ज्ञायते ? प्रोषितपतिकायाः रत्नवत्याः का

पउत्थ-पइआए[1] रयणवईए का चिंतणिज्जा ठिई जायए पच्छा ? एवं भविस्स-दक्खेण भूवइणा पज्जरिअं[2]—"जामायर! साहुं णिच्छिअं गंतव्वं। तत्थ वि एगागिणा गंतव्वं 'ति बहुसाहु णिच्छिअं। सच्चं खु आभाणगमिणं[3] जं "परे किर पराअंति णिआ जेव्व[4] णिआयंति" ण एत्थ संदेहो। जइ गंतव्वं ता गच्छउ सुहेण, को पडिसेहइ, परमीसिकालं जाव चिट्ठिअव्व, इअ अम्हाण समीहा। एगागिगमण-समीहा तु णिअंतं हस्सपयं[5]। पउत्थ-पइआए जुवईए का अवत्था हवइ 'त्ति ण विहाविअं तुमए। छज्जए किर घणाघणेण समं सोआमणी[6]। तहा पइणा सद्धिं रेहए णिच्चमेगपत्ती[7]। खेत्तिअं विणा खेत्त-भूमी इव, मालागारं विणा पुप्फवाडी व ण रायइ दइअ-विरहिआ अण्णामया विलया। अक्खिकंट-गायति छोवकरीओ[8] सच्छंदं पिउहरं चिरं चिट्ठमाणीओ। ता भज्जा-विइएण च्चेव तुमए वच्चणिज्जं 'ति णे[9] मयं[10]। जहा अम्हाण कत्तव्व-भारो लहुओ सिआ। इअरहा तुम्हे तत्थ, अम्हे एत्थ णिरंतरं चिंता-दूमिअ-हिअया चिट्ठिहामो। इत्थं सुट्ठु बोहिओ वि रयणवालो ण कहमवि णिअं भज्जं सह णेउं तप्परो जाओ।

राय-राणीपभिइणो एत्थ अलद्धपडिआरा किमणुचिट्ठिअव्वं 'ति उत्तरथा जाया, ताव एगो कोइ विविह-जंत-मंत-तंत-विसारओ परिणयवयो झडिलो[11] अलक्खिओ कुओवि आवडिओ। सपत्तीएण रण्णा सविणयं वंदिओ, जहोइअं पूइओ

१ प्रोषितपतिकायाः २ कथितम् ३ आभाणकम्— कहावत (इतिभाषा) ४ एव ५ हास्यपदम् ६ सौदामिनी-विद्युत् ७ एकपत्नी-सुचरित्रा ८ (दे०) कन्याः

चिन्तनीया स्थितिः जायते पश्चात् ? एवं भविष्य-दक्षेण भूपतिना कथितम्—"जामातः ! साधु निश्चितं गन्तव्यम्। तत्रापि एकाकिना गन्तव्यमिति बहुसाधु निश्चितम्। सत्यं खलु आभाणकं इदं यत् 'परे किल परायन्ते निजाः एव निजायन्ते' न अत्र सन्देहः। यदि गन्तव्यं तदा गच्छतु सुखेन, कः प्रतिषेधति, परं ईषत्कालं यावत् स्थातव्यं इति अस्माकं समीहा। एकाकि-गमन-समीहा तु नितान्तं हास्यपदम्। प्रोषितपतिकायाः युवत्याः का अवस्था भवति इति न विभावितं त्वया ? शोभते किल घनाघनेन समं सौदामिनी। तथा पत्या सार्धं शोभते नित्यं एकपत्नी। क्षेत्रिकं विना क्षेत्रभूमिः इव, मालाकारं विना पुष्पवाटी इव न राजते दयित-विरहिता अन्याश्रया वनिता। अक्षिकण्टकायन्ते छोक्करीओ (कन्याः) स्वच्छन्दं पितृगृहं चिरं तिष्ठन्त्यः। ततः भार्या-द्वितीयेन एव त्वया व्रजनीयं इति अस्माकं मतम्। यथा अस्माकं कर्त्तव्यभारः लघुकः स्यात्। इतरथा यूयं तत्र, वयं अत्र निरन्तरं चिन्तादूनहृदयाः स्थास्यामः। इत्थं सुष्ठु बोधितोऽपि रत्नपालो न कथमपि निजां भार्यां सह नेतुं तत्परो जातः।

राज-राज्ञीप्रभृतयः अत्र अलब्ध-प्रतीकाराः किं अनुष्ठातव्यमिति उत्त्रस्ता जाताः तावत् एकः कोऽपि विविध-यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र-विशारदः परिणतवयाः जटिलः अलक्षितः कुतोऽपि आपतितः। सपत्नीकेन राज्ञा सविनयं वन्दितः, यथोचितं पूजितः स निर्भरं प्रसन्नमनाः जातः।

सो णिब्भर पसण्णमणो जाओ। आइग्गं मिलाणमुहपंकजं णिव णिहालिअ तेण तक्कालमणुजोइअं—"णरेस ! कहमज्ज हिमाणीहय पिव लक्खिज्जइ ते वयण-कमल ? किमेआरिसं अतस्सल्ल विज्जए तुह मणोगयं ? जइ अत्थि पाउक्करणिज्जं ता कहसु, जहा कोइ तज्जुग्गो पडिआरो गवेसिउं सक्किज्जइ अम्हारिसेहि" ।

"किं वागरणेण भंते ! नत्थि णूणमेत्थ कोइ उवाओ दिट्ठिपहमोअरइ। हा ! अविहाविअ जायए" ! उइण्णं सखेअं णरिंदेण ।

"तहवि सुस्सूसा मे जइ ण विज्जए गुज्झ" पुणरवि जिण्णासिअ झडिलेण ।

महप्पाणमभिमुहं किं गुज्झं गोवणिज्ज 'त्ति णिवेण एगग्गिमणुच्छुअस्स दुहिआपइणो सव्वो वइअरो फुडीकओ। ण एत्थ बलप्पओगो उइओ। कहं पुत्ती णेण सद्धि पेसविज्जइ 'त्ति महई चिंता ।

"किमत्थि णिरुवाय जइ करिज्जइ कज्जं सदक्खिण्णं" पुणरुच्चारिअ जोगिणा ।

"होहिमो अम्हे साणुग्गहा जइ कोइ मग्गो एत्थ णिदंसिज्जइ किवालुणा भदंतेण" साहिअ उक्कंठिरेण खिइ-सक्केण दक्कवए ।

"इत्थिआ-रूवत्तो जइ पुरिसरूवम्मि परावट्टिज्जइ रयणवई तहाविहा पट्ठविज्जइ णिअ-भत्तारेण सद्धि णिअ

उद्विग्नं म्लानमुख-पङ्कजं नृपं निभाल्य तेन तत्कालं अनुयोजितम्— "नरेश ! कथं अद्य हिमानी-हृतं इव लक्ष्यते ते वदनकमलम् ? किं एतादृशं अन्तःशल्यं विद्यते तव मनोगतम् ? यदि अस्ति प्रादुष्करणीयं तदा कथय, यथा कोऽपि तद्योग्यः प्रतीकारः गवेषयितुं शक्यते अस्मादृशैः।"

"किं व्याकरणेन भदन्त ! नास्ति नूनं अत्र कोऽपि उपायः दृष्टिपथं अवतरति । हा ! अविभावितं जायते ।" उदीर्णं सखेदं नरेन्द्रेण ।

"तथापि सुश्रूषा मे यदि न विद्यते गुह्यम्" पुनरपि जिज्ञासितं जटिलेन ।

महात्मनां अभिमुखं किं गुह्यं गोपनीयं इति नृपेण एकाकिगमनोत्सुकस्य दुहितृपतेः सर्वो व्यतिकरः स्फुटीकृतः । न अत्र वलप्रयोगः उचितः । 'कथं पुत्री अनेन सार्धं प्रेष्यते' इति महती चिन्ता ।

"किमस्ति निरुपायं यदि क्रियते कार्यं सदाक्षिण्यम्" पुनरुच्चारितं योगिना ।

"भविष्यामः वयं सानुग्रहाः यदि कोऽपि मार्गः अत्र निर्दिश्यते कृपालुना भदन्तेन" कथितं उत्कण्ठितेन क्षिति-शक्रेण एकपदे ।

"स्त्री-रूपात् यदि पुरुषरूपे परावर्त्यते रत्नवती तथाविधा प्रस्थाप्यते निजभर्त्रा सार्धं निजं देशं, तदा न किं अस्म-

देस तया ण कि अम्हेकर कज्जं साहिअं भवेज्ज ?" पवेइअं णिअ-सत्ति-णिग्गमण-तप्परेण जोइणा।

किमण्ण जुप्पइ[1] जइ एव भविउ मक्केज्ज ? दसणिज्जो एआरिसो जोगिअ-विज्जा-चमक्कारो परोवगिइ-पडिएण मुणिणा। णूणमम्हे कयत्था होस्सामु'त्ति विण्णत्त साकखं जडिल-मुहागिइ जोअमाणेण पयावइणा।

"कि मोरउल्ला गमिआणि एद्दहाणि वासाणि मए वणमडमाणेण, मोणमायरमाणेण य जइ ह ईइस खुल्लं कज्जपि ण साहिउ[2] सक्केमि" सूइअ साहिमाणं तवोधणेण।

तक्खणं आहूआ णेण दुहिआ ससमोव। णिक्कासिआ झोलिआओ जडिआजुअल। ताए एगाए सविहिप्पओगेण विलया णरत्तणमावज्जइ, बीआए पओगेण पुणरवि सब्भाव-माराहेइ सा। कओ पढमिल्लाए पओगो तक्कालं। राउल-जोइरूवम्मि रयणवई तक्खणं परिवट्टण पत्ता। 'खलु मणिमन्तोमहीण अचिंतणिज्जो पहावो' त्ति जहत्था उत्ती सक्ख सच्चाविआ सव्वेहि। धारिअं कासाइअ कोसेज्जं[3] धिप्पिर उत्तरिज्ज राउलेण। आजाणुलंबायमाणी सिढिला खधदेसमारोविआ मणोहरा कासाइया कथा। उत्तम-गम्मि वि ठविआ राउलमयाणुरूवा फडाडोव-वज्जिआ टोपिआ[4]। हत्थेसु गहिआ णाणामहुर-सरालाव-महुरा णवीणा वीणा। अण्णाहि वि सव्वाहि तज्जुग्गसामग्गीहि

१ युज्यते 'युजो जुञ्ज-जुज्ज-जुप्पाः (है० ४-१०९) पश्यता। २ साधयितुम् ३ कौशेयम् 'रेशमीवस्त्र' (इतिभाषा)। ४ देशीयः शब्दः।

दीयं कार्यं साधितं भवेत् ?" प्रवेदितं निजशक्ति-निदर्शन-तत्परेण योगिना।

"किं अन्यद् युज्यते यदि एवं भवितुं शक्येत ? दर्शनीयः एतादृशः यौगिक-विद्या-चमत्कारः परोपकृति-पण्डितेन मुनिना। नूनं वयं कृतार्थाः भविष्यामः।" इति विज्ञप्तं साकाङ्क्षं जटिलमुखाकृतिं पश्यता प्रजापतिना।

"किं मुधा गमितानि इयन्ति वर्षाणि मया वनं अटता, मौनमाचरता च यदि अहं ईदृशं क्षुद्रं कार्यमपि न साधयितुं शक्नोमि" सूचितं साभिमानं तपोधनेन।

तत्क्षणं आहूता अनेन दुहिता स्वसमीपम्। निष्कासितं झोलिकातः जटिकायुगलम्। तस्याः एकस्याः सविधिप्रयोगेण वनिता नरत्वं आपद्यते। द्वितीयायाः प्रयोगेण पुनरपि सद्भावं आराधयति सा। कृतः प्राथमिक्याः प्रयोगः तत्कालम्। राउलयोगिरूपे रत्नवती तत्क्षणं परिवर्तनं प्राप्ता। खलु मणिमन्त्रौषधीनां अचिन्तनीयः प्रभावः' इति यथार्था उक्तिः साक्षात् सत्यापिता सर्वैः। धारितं कापायं कौशेयं दीप्रं उत्तरीयं राउलेन। आजानुलम्बायमाना शिथिला स्कन्धदेशमारोपिता मनोहरा काषायी कन्था। उत्तमाङ्गेऽपि स्थापिता राउलमतानुरूपा फटाटोप-वर्जिता टोपिका। हस्तयोः गृहीता नानामधुर-स्वरालाप-मधुरा नवीना वीणा। अन्याभिः अपि सर्वाभिः

विहूसिओ सो अईव मूहवो सव्वेहि सच्छरिज्ज पुलइअव्वो-जाओ ।

पुणरवि समयण्णूणा णिवेण पामायम्मि णिमतिओ जामाया, सूइय पुण इत्थ—"जामाय ! कयेवि अग्गहे ण एत्थ तुह ठाउं समीहा, ण उण णिअं भज्ज सह णेउ । किं बलं चलइ अम्ह जामायरस्सुवरि । सिढिलिअ-मिणेहाणं पउत्थाणं दीवतरगयाणं को वीसभो पच्चावलणस्स । तस्स सभारणट्ठ एगो अम्हकेरो महादक्खो बालजोई रयणवईए बाल-महअरो तुमए सद्धि पट्ठविज्जइ अम्हेहि । सो जहा समय ससुराल-यस्स सइ[1] कारावेतो पुणरागमणपेरण च देतो चिट्ठिस्सइ । अम्हेच्चय माणसमवि निब्भरं भरिअ आसा-विअंभिअं वट्टिस्सइ ।

"आम, अइ सोहणमिण । साहुवी जोअणा घडिआ । ण एत्थ कस्सइ काइ वाहा ।" साहिअ पडिवण्ण-भावणा-पूरिएण सरेण रयणेण ।

इओ अ अब्भुअ-मुहच्छवी-मोहणो पच्चक्खं इगिआगार[2]-लक्खिज्जमाणचाउज्जो बालो वि पसंत[3]-णित्तणीलुप्पलो किमवि जवलो व ईसिप्फुरिअ-अहरुट्ठो गीवा-ठविअ-रुद्दक्खमालो तत्थेव आगओ राउलो । सव्वेसि ससम्माणं लद्धप्पणामो उइयासणम्मि अच्छिओ । त णिरक्खिऊण रयणवालो रोमच-कचुइओ विम्हय-सेराणणो भूओ । अव्वो ! ललिए बालकालेवि कहमेसो लद्धवेरग्गो ? धण्णा अस्स

---

१ प्रेषितव्यः । यथा—मच्चविअ-दिट्ठ-पुलइअ-निअच्छियाइ—

तद्योग्य-सामग्रीभिः विभूषितः स अतीव सुभगः सर्वैः साश्चर्यं प्रेक्षितव्यः जातः।

पुनरपि समयज्ञेन नृपेण प्रासादे निमन्त्रितः जामाता, सूचितं पुनरित्थं—"जामातः! कृतेऽपि आग्रहे न अत्र तव स्थातुं समीहा, न पुनः निजां भार्यां सह नेतुम्। किं वलं चलति अस्माकं जामातुः उपरि! शिथिलित-स्नेहानां प्रोषितानां द्वीपान्तर-गतानां कः विश्रम्भः प्रत्यावलनस्य। तस्य स्मारणार्थं एकः अस्मदीयो महादक्षो वालयोगी रत्नवत्याः वालसहचरः त्वया सार्धं प्रस्थाप्यते अस्माभिः। स यथासमयं श्वसुरालयस्य स्मृतिं कारयन् पुनरागमन-प्रेरणां च ददत् स्थास्यति। अस्माकं मानसमपि निर्भरं भरितं आशा-विजृम्भितं वर्त्स्यति।"

"आम् अतिशोभनमिदम्। साध्वी योजना घटिता। न अत्र कस्यापि कापि वाधा।" कथितं प्रतिपन्न-भावना-पूरितेन स्वरेण रत्नेन।

इतश्च अद्भुत-मुखच्छवि-मोहनः प्रत्यक्षं इङ्गिताकार-लक्ष्यमान-चातुर्यः वालोऽपि प्रशान्त-नेत्रनीलोत्पलः किमपि जपन् इव ईषत्-स्फुरिताधरोष्ठः ग्रीवा-स्थापित-रुद्राक्षमालः तत्रैव आगतः राउलः। सर्वेषां ससम्मानं लब्धप्रणामः उचितासने आसितः। तं निरीक्ष्य रत्नपालो रोमाञ्चकञ्चुकितो विस्मय-स्मेराननो भूतः। अव्वो! ललिते वालकालेऽपि कथं एष लब्ध-वैराग्यः? धन्याः अस्य मातर-

मायरपिअरा जेसि कुलम्मि एआरिसो होतजोइओ वसुद्धार-कारगो पुत्तो समुप्पण्णो ।

"किं भे विरत्तिकारणं कीला-विलसिअम्मि अणणुहूअ-जगववहारम्मि बल्लम्मि[1] ? अच्छरिज्जमिणं कह विच्छ-ड्डिइओ वधूण सिणेहो ? हरे ! लोगुत्तर कज्जमिण ?" जिण्णासिअं रयणवालेण ।

"पइपय वेरग्ग समुज्झिभइ जइ जोएइ जणो जागरूआए दिट्ठीए । एत्थ-गय किं थिर 'ति ण कह विहाविज्जइ जगजीवेहि ? गोसे[2] पवोसे[3] वा धम्म करिस्स 'ति कहण मूढया-विलसिअ । किं णागमुग्घोसणा कण्णगया ? जहा—

"जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वत्थि पलायण ।
जो जाणे ण मरिस्सामि, से हु कखे सुवे सिआ ।।"

एव भणमाणो राउलो णिमीलिअ-णयणो झाणं गओ । सदमाण—सतरस अस्स सोम्मं मुहमुद्दं णिहालेंतो रयणवालो पभाविओ जाओ ।

एत्थंतरम्मि सज्जीकय णेण बोहित्थ । सदेस-दुल्लहं एत्थ सुलहं भडं किणिऊण तम्मि णिवेसिअ । पट्ठाण-दिण णिच्छिअं । ववहार-महुरिमाए अस्स अणेगे जणा सगया जाया । सव्वेसिं णायराणं पीइभायण जाओ एसो । मुणिऊण पच्चावलण-तप्परमेय सव्वेवि ते सोहद दक्खवेता अस्सुवकण्ठं समागच्छंति । विविह-पउत्तीहि एय पसंसेता, पच्छा कया सम्मेलण होहि 'त्ति भणेता, मुहागिईहिं खेअं सूअयंति ।

---

१ बाल्ये । २ गोस—प्रभातम् (दे०) ३ प्रदोषः-सायम् ।

पितरः येषां कुले एतादृशः भविष्यद्-योगिकः वंशोद्धारकारकः पुत्रः समुत्पन्नः ।"

"किं भवतः विरक्तिकारणं क्रीडाविलसिते अननुभूत-जगद्-व्यवहारे बाल्ये ? आश्चर्यमिदम् ! कथं त्यक्तः बन्धूनां स्नेहः ? हरे ! लोकोत्तरं कार्यमिदम् ?" जिज्ञासितं रत्नपालेन ।

प्रतिपदं वैराग्यं समुज्जृम्भते यदि पश्यति जनः जागरूकया दृष्ट्या । अत्रगतं किं स्थिरं इति न कथं विभाव्यते जगज्जीवैः । 'गोसे (प्रभाते) प्रदोषे वा धर्मं करिष्यामि' इति कथनं मूढ़ता-विलसितम् । किं न आगमोद्घोषणा कर्णगता ? यथा—

जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं जस्स वत्थि पलायणं ।
जो जाणे ण मरिस्सामि से हु कंखे सुवे सिआ ।।

एवं भणन् राउलो निमीलितनयनो ध्यानं गतः । स्यन्दमान-शान्तरसां अस्य सौम्यां मुखमुद्रां निभालयन् रत्नपालः प्रभावितो जातः ।

अत्रान्तरे सज्जीकृतं अनेन बोहित्थम् । स्वदेशदुर्लभं अत्र सुलभं भण्डं क्रीत्वा तस्मिन् निवेशितम् । प्रस्थानदिनं निश्चितम् । व्यवहार-मधुरिम्णा अस्य अनेके जनाः सङ्गताः जाताः । सर्वेषां नागराणां प्रीतिभाजनं जातः एषः । ज्ञात्वा प्रत्यावलन-तत्परं एतं सर्वेऽपि ते सौहृदं दर्शयन्तः अस्योपकण्ठ समागच्छन्ति । विविध-प्रवृत्तिभिः एतं प्रशंसन्तः 'पश्चात् कदा सम्मेलनं भविष्यति' इति भणन्तः मुखाकृतिभिः

तत्थ गएणावि भवया कयाइ अम्ह सभरणं कायव्व 'त्ति पुणो पुणो उईरयंति च । रयणवालो वि सव्वेसि तेसिमा-भारमंगीकरेंतो कयजत्तो उवचिट्ठइ । सव्वेसि जायगाणं तत्थगय-भिच्चाण पुण जहोचिअ-विअरणेण एसो तुट्ठि मुप्पावेइ ।

आगय रयणवालस्स पच्चावलण-दिण । इओ य सज्जा-हवइ पट्ठाउ राउलरूवा रयणवई । आइग्ग जायं अम्मापि-अराण हिअय । बाहुल्लणयणा जायए वारं वार परम-पेम्म-पोसिआ दारिआ । परिचिअं संसारं जहाय गंतव्व-मपरिचिअ-पुव्व ससुरालयं[1] । केरिसो कडुमहुरो ववहारो तत्थ होहि 'त्ति णाणा-संकप्पपरो मणो । जम्मसगयाण सव्वाण विरहो उव्वेलेइ हिअय-समुद्द ताए । उच्छगीकाऊण पुत्तिअ माया असूहि इम सिणावेमाणी सिक्खेउं पउत्ता—"पिअदुहिआ ! दुहिआ[2] अम्हे सव्वेवि अज्ज ते विरहेण । किमवि महामुल्लं वत्थुजायं अम्हत्तो दूरिअं हवइ 'त्ति खिण्णं मणे चित्त । कि बल ! परगेह-गामणीओ दुहिआओ 'त्ति फुडा किवदती । सुह वच्चसु तणुआ ! धुवं सोहग्गं तुह हवउ । णिच्च णिरामया चिट्ठउ जुअलस्स तणू । खारसमुद्द वच्चतु तुम्ह सव्वपीलाओ । दारिआ ! णव्वो पएसो । सव्वेवि अलक्खिअ-सहावा जणा तत्थ । अणणुहूआ सज्जुक्का कज्जप्पणाली । तत्थ बहु-दक्खयाए तुमए होअव्व । राय पुत्तिया हं कह कज्जं करेमि 'त्ति ण चिंतणिज्ज । कज्ज-

---

१ पु० न० २ ...खिता

खेदं सूचयन्ति, 'तत्रगतेनाऽपि भवता कदापि अस्माकं स्मरणं कर्त्तव्यं' इति पुनः पुनः उदीरयन्ति च। रत्नपालोऽपि सर्वेषां तेषां आभारं अङ्गीकुर्वन् कृताञ्जलिः उपतिष्ठते। सर्वेषां याचकानां तत्रगत-भृत्यानां पुनः यथोचित-वितरणेन एष तुष्टिं उत्पादयति।

आगतं रत्नपालस्य प्रत्यावलन-दिनम्। इतश्च सज्जा भवति प्रस्थातुं राउलरूपा रत्नवती। उद्विग्नं जातं मातरपित्रोः हृदयम्। बाष्पार्द्रनयना जायते वारं-वारं परम-प्रेम-पोषिता दारिका। परिचितं संसारं हित्वा गन्तव्यं अपरिचितपूर्वं श्वसुरालयम्। कीदृशः कटु-मधुरो व्यवहारः तत्र भविष्यति इति नाना सङ्कल्पपरं मनः। जन्मसङ्गतानां सर्वेषां विरहः उद्वेलयति हृदय-समुद्रं तस्याः। उत्सङ्गीकृत्य पुत्रिकां माता अश्रुभिः इमां स्नपयन्ती शिक्षयितुं प्रवृत्ता—"प्रियदुहितः! दुःखिताः वयं सर्वेऽपि अद्य तव विरहेण। किमपि महामूल्यं वस्तुजातं अस्मत्तः दूरितं भवतीति खिन्नं मन्ये चित्तम्। किं वलम्? 'परगेह-गामिन्यो दुहितरः' इति स्फुटा किंवदन्ती। सुखं व्रज तनुजे! ध्रुवं सौभाग्यं तव भवतु। नित्यं निरामया तिष्ठतु युगलस्य तनूः। क्षार-समुद्रं व्रजन्तु तव सर्वपीडाः! दारिके! नव्यः प्रदेशः। सर्वेऽपि अलक्षित-स्वभावाः जनाः तत्र। अननुभूता सद्यस्का कार्यप्रणाली। तत्र बहुदक्षतया त्वया भवितव्यम्। 'राजपुत्रिकाऽहं कथं कार्यं करोमि'

प्पहाणा पिअया सव्वत्थ ण केवल कुल-रूव-प्पहाणा । परेहि अणट्ठमक्कोसिआ वि तुम सहिरी[1] भवेज्जा । रेहंति खु सहिरिआओ कुलबहुआओ कामं । कायव्वा सविणय सासू-ससूराण सुस्सूसा । जारिसा अम्हे तारिसा तप्पक्खिआ तुहकए तेवि । अणुऊलिअव्व पिअयमस्स दक्खयाए चित्त । फरुसो सरुसो वि सद्दो पणइणो समये सहिअव्वो सधिज्ज । अण्णहा ण चलइ जेट्ठासमो तितिणिअ[2]-सहावाए । अगआ ! पर-मण-विजयिरी ताहे तुम होहिसि जाहे सय मणसिणी भाविणी । वत्थालकार-रूव-लाअण्णाईए आगरिसणं तु एगया दिट्ठि-पह-पडिअ खणिअ होइ, परतु णिच्छल-महुर-ववहारस्स णिच्च परिवड्ढिअ-प्पहावमागरिसण सव्वाण-मुवरि सरिच्छ होइ । सुआ ! अत्थि अय जीवण-संगामो । निवडति अणेगे अणुऊल-पडिऊला पक्कमा । तत्थ भिस भाविआ, पत्तिआ, रोइआ, धम्मिआ भावणा च्चिअ सामइअं सति पयाउं खमा । ता दुहिएण विव सुहिएणावि धुव धम्मो आराहिअव्वो, तेण सित्ता पफुल्लिआ जायइ समया-लया । फलेइ सा णिच्च सुहकराणि फलाणि । ता सासय सुहिओ धम्मिट्ठो ।" एव सुवयणेहि भिस सिक्खिआ, णाणा-णिआणु-हवेहि बोहिआ, उरसा गाढमालिगिआ, सयं रुवेतो अण्णे रुवावेतो, रयणवई पवसिउं तप्परा जाया ।

इओ सज्जीहूअ आगओ जामाया ससुरपक्खिआण-आसीस णेउं । अत्ताए दत्ता जामायरस्स सुहाऽऽसीसा ।

---

१ सहिष्णुः २ तितिणिअ-स्वाभावानाम् (दे०) बडबडाने वाले स्वभाव वाला (इतिभाषा) ।

इति न चिन्तनीयम् । कार्यप्रधाना प्रियता सर्वत्र न केवलं कुल-रूप-प्रधाना । परैः अनर्थं आक्रुष्टाऽपि त्वं सहिष्णुः भवेः । शोभन्ते किल सहिष्णुतया कुलवध्वः कामम् । कर्त्तव्या सविनयं स्वश्रू-श्वसुराणां सुश्रूषा । यादृशा वयं तादृशाः तत्पक्षिकाः तव कृते तेऽपि । अनुकूलयितव्यं प्रियतमस्य दक्षतया चित्तम् । परुषः सरोषोऽपि शब्दः प्रणयिनः समये सोढव्यः सधैर्यम् । अन्यथा न चलति ज्येष्ठाश्रमः तिन्तिनिक-स्वभावानाम् । अङ्गजे ! परमनोविजेत्री तदा त्वं भविष्यसि यदा स्वयं मनस्विनी भाविनी । वस्त्रालङ्कार-रूप-लावण्यादीनां आकर्षणं तु एकदा दृष्टिपथ-पतितं क्षणिकं भवति, परन्तु निश्चलमधुर-व्यवहारस्य नित्यं परिवर्धितप्रभावं आकर्षणं सर्वेषां उपरि सदृक्षं भवति । सुते ! अस्ति अयं जीवनसंग्रामः । निपतन्ति अनेके अनुकूल-प्रतिकूलाः प्रक्रमाः । तत्र भृशं भाविता प्रत्ययिता रोचिता धार्मिकी भावना एव सामयिकीं शान्तिं प्रदातुं क्षमा । तस्माद् दुःखितेन इव सुखितेनापि ध्रुवं धर्मः आराधयितव्यः । तेन सिक्ता प्रफुल्ला जायते समतालता । फलति सा नित्यं शुभङ्कराणि फलानि । तस्मात् शाश्वत सुखितो धर्मिष्ठः ।" एवं सुवचनैः भृशं शिक्षिता नानानिजानुभवैः बोधिता उरसा गाढं आलिङ्गिता स्वयं रुदती अन्यान् रोदयन्ती रत्नवती प्रवस्तुं तत्परा जाता ।

इतः सज्जीभूय आगतः जामाता श्वसुर-पाक्षिकाणां आशिषं नेतुम् । अत्तया (श्वश्र्वा) दत्ता जामात्रे शुभाऽऽशीः । सिद्धं कुर्वन्तु, शिवाः

सिद्ध कुणतु, सिवा भे पहा संतु 'त्ति सहरिसं सरोमुग्गम सव्वेहि साहिअ। राउलोवि तत्थेव आगओ। विगय-संकोचं अंतरंगम्मि होतविरहेण विसण्णोवि उवरिम-भावेण साणदं णिसण्णो रयणवालस्स समकक्खं। सामूए साणुसयं साहिअं —'जामायर ! अत्थि राउलो अम्ह पुत्तिआए अविइज्जओ सहयरो। रयणवई विव एसो तुम्हेहिं सुरक्खिअव्वो कि बहुकहणेण। अम्हेच्चयो अइप्पिओ ज्य 'त्ति कहमाणी राणी रोत्तुमाढत्ता।

ण एत्थ मणयमवि चिंता। इम सव्वओ अणुकूलयिस्स 'त्ति मे सच्चा पइण्णा। किं तुम्हकेरो एसो संपइ अम्हकेरो वि, इअ बुवाणेण रयणवालेण सहयरो इव आसिलिट्ठो राउलो अणाउल। उप्पेहडा[1] निक्खंता तेसिं हत्थि-खंध-गयाण पुरस्स मज्झ मज्झेण पवासजत्ता। समुद्दतडपेरंतं रायप्पभिइणो सव्वेवि आगया जामायर पडिवालित्तए। रण्णा दिण्णा अउल-सगया पोअम्मि णिवेसिआ। राउलेणा वि रूवपरावत्तण-जडिआ-जुअलेण सहिअ आवस्सय-वत्थु-जाय-पूरिअ णवरमेग पेडगं सह णीअ। रायाईणं कयप्पणामो मणम्मि परमेट्ठिपचगं मरेंतो राउलसहिओ जिणदत्तपुत्तो वोहित्थम्मि[2] णिविट्ठो। सव्वेसिं सुहमंगल-सद्देहिं सद्धि सुमुहुत्तम्मि पडिचालिअं पवहण। अणुलोम-पहंजण-पणुल्लिअ तुरिअ-तुरिअ वच्चमाण तं णयणाऽगोअर जाय। रायप्पमुहा

---

१ माडम्बरा। यथा—उप्पेहड, उड्डामर, उब्भड, आडम्बरिल्ल च (पाऽ० ६०), २ पोते।

युष्माकं पन्थानः सन्तु, इति सहर्षं सरोमोद्गमं सर्वैः कथितम्। राउलोऽपि तत्र आगतः। विगत-सङ्कोचं अन्तरङ्गे भवद्विरहेण विषण्णोऽपि उपरितनभावेन सानन्दं निषण्णः रत्नपालस्य समकक्षम्। श्वश्र्वा सानुशयं कथितम्—"जामातः! अस्ति राउलः अस्माकं पुत्रिकायाः अद्वितीयः सहचरः। रत्नवती इव एष युष्माभिः सुरक्षितव्यः किं बहुकथनेन? आस्माकः अतिप्रियः अयं इति कथयन्ती राज्ञी रोदितुं आरब्धा।

"न अत्र मनागपि चिन्ता। इमं सर्वतः अनुकूलयिष्यामि इति मे सत्या प्रतिज्ञा। किं युष्मदीयः एषः सम्प्रति अस्मदीयोऽपि", इति ब्रुवता रत्नपालेन सहचरः इव आश्लिष्टः राउलः अनाकुलम्। साडम्बरा निष्क्रान्ता तयोः हस्तिस्कन्धगतयोः पुरस्य मध्यं मध्येन प्रवास-यात्रा। समुद्रतटपर्यन्तं राजप्रभृतयः सर्वेऽपि आगताः जामातरं प्रतिवालयितुम्। राज्ञा दत्ता अतुला सम्पत् पोते निवेशिता। राउलेनाऽपि रूपपरावर्तन-जटिकायुगलेन सहितं आवश्यकवस्तुजात-पूरितं केवलं एकं पेटकं सह नीतम्। राजादिभ्यः कृतप्रणामः मनसि परमेष्ठि-पञ्चकं स्मरन् राउलसहितः जिनदत्तपुत्रो वोहित्थे निविष्टः। सर्वेषां शुभ-मङ्गल-शब्दैः सार्धं सुमुहूर्ते प्रतिचालितं प्रवहणम्। अनुलोम-प्रभञ्जन-प्रेरितं त्वरितं त्वरितं व्रजत् तत् नयनागोचरं जातम्। राजप्रमुखाः सर्वेऽपि परिजनाः सुता-

सव्वेवि परिअणा सुआ-विरहवुण्णा वि जहच्छिय-कज्ज-सपाडणेण पसत्तिमणुहवता णिअं णिअ ठाण पत्ता ।

इओ पेइअ-पक्ख-विरह-विहुरो हिअयम्मि अउल-वाउलत्तण वहंतो वि भत्तिगाण-मिसेण बाह-बिदूइ मुचतो कह कहमवि भावसगोवण कुणमाणो, अणेगसूत्ति-पज्ज-गाहाहि विरह-रस-गहिरिम च णिदसंतो, सव्वेसि मणाइ गग्गराइं विरअयइ वाहणत्थो राउलो ।

इअ सिरिचदणमुणि-विरइआए राउल-रूवेण
सहागमण-सखेमं रयणवईवरण-पच्चा-
वलणाइभावेहि सोहिआए
रयणवालकहाए पंचमो
उसासो समत्तो

विरहोद्विग्नाः अपि यथेप्सित-कार्य-सम्पादनेन प्रसत्तिं अनुभवन्तः निजं निजं स्थानं प्राप्ताः ।

इतः पैतृकपक्ष-विरह-विधुरः हृदये अतुलं आकुल-व्याकुलत्वं वहन् अपि भक्तिगान-मिषेण वाष्पबिन्दून् मुञ्चन्, कथं कथमपि भावसङ्गोपनं कुर्वन्, अनेक-सूक्ति-पद्य-गाथाभिः विरह-रस-गाम्भीर्यंच निदर्शयन् सर्वेषां मनांसि गद्गदानि विरचयति वाहनस्थो राउलः ।

इति श्री चन्दनमुनिविरचितायां राउलरूपेण सहागमन-
सक्षेमं रत्नवतीत्ररण-प्रत्यावलनादिभावैः
शोभितायां रत्नपालकथायां
पञ्चमः उच्छ्वासः
समाप्तः

६

छट्ठो ऊसासो

•

वण्णणाईआ विस्स-वेचित्ती। अविहाववणिज्जा भवस्स भावणा। एत्थ किं सुहं, किं दुहं ? किं पिअं, किमप्पिअं ? के णिअया, के पारक्का ? अवाहित्तोवि एगत्तीहवइ मच्छिआ-णिउरवो जत्थेव दिट्ठि-पहं णिवडिआ गुड-पिंडलइया, तोअ-पडिपुण्णम्मि तडागम्मि सव्व-दिसासुंतो समोअरंति सउला[1]। अव्वो ! सत्थप्पहाणं जगं, ण उण परमत्थप्पहाणं। हरे ! धवलमवि मुणिज्जमाणं किच्चं किंचि अंतरहिलास-कज्जलिअं। धण्णा ते तिचउरा पत्तट्ठा माणवा जगईए जेहिं कीरइ णिक्काम सेव्वा।

विढविऊण अउलं सामिद्धिं पलोट्टिओ[2] जिणदत्त-सुओ तरंगमालि-तीरम्मि 'त्ति आयण्णिऊण पउरा, णयर-महत्तया,

---

१ मधुरता-पक्षिण २ प्रत्यागत 'प्रत्यागत पलोट्ट (हे० ४-१६६)

६

षष्ठः उच्छ्वासः



वर्णनातीता विश्व-वैचित्री। अविभावनीया भवस्य भावना। अत्र किं सुखं, किं दुःखम् ? किं प्रियं, किमप्रियम्? के निजकाः, के परकीयाः ? अव्याहृतोऽपि एकत्रीभवति मक्षिका-निकुरम्बो यत्रैव दृष्टिपथं निपतिता गुडपिण्डलिका। तोयप्रतिपूर्णे तडागे सर्वदिग्भ्यः स्वयमवतरन्ति शकुन्ताः। अव्वो ! (आश्चर्ये) स्वार्थ-प्रधानं जगत् न पुनः परमार्थ-प्रधानम्। हरे ! धवलमपि ज्ञायमानं कृत्यं किञ्चित् अन्तरभिलाष-कज्जलितम्। धन्यास्ते विचतुराः प्राप्तार्था मानवाः जगत्यां यैः क्रियते निष्कामं सेवा।

अर्जयित्वा अतुलां समृद्धिं प्रत्यागतो जिनदत्तसुतस्तरङ्गमालितीरे इति आकर्ण्य प्रचुराः नगरमहत्काः, बन्धवश्च रणरणकं प्राप्ताः

बंधुणो य रणरणय[1] पत्ता । सव्वेवि ते समिलित्ता वोसट्ट-वयण-कमला वद्धावेउ रयणवालं उवपवहण अहिपच्चुइआ[2] । जय-विजय-सद्दे हि वद्धावेमाणा गुललिउं[3] पउत्ता—'पुत्त ! वारिवाह पिव चिर विरमालेमाणा तुम पइदिणं अम्हेत्थ ट्ठिआ । अइजाओ[4] मुओसि तुम जिणदत्तस्स । उज्जलं कय तुमए णामहेअ पिउपायस्स ।" अंतरङ्गमिओवि ववहारट्टं मम्मणोवि सपरिअर समागओ । रयणवालेणावि सव्वेवि सम्मुहमागया सुअणा साणद पणमिआ । तुम्हाण आसीसाहिं सव्वं भव्व जाय । णिविग्घा मयरहर[5]-जत्ता संपण्णा । उत्तारिअ वाहणाओ कसिणमवि भंड, वत्थुजाय च । आडव-रिल्ला णयरम्मि णिग्गया[6] अस्स पडिणिग्गमण-जत्ता । समेहि णागरेहि पेम-पलोअणेहि सभाविओ सम्माणिओ य राउल-बीओ रयणवालो पुव्व मम्मण-गिहम्मि आगओ । जायं भोअणाइ-किच्च । पच्छा णयर-महत्तयाणसहिमुहं तल्लिहिआणुसारेण सवुड्ढिअं पेइअ रिणं, तहेव भंड-मुल्लं च जहट्ठिअं समप्पिअ । सपयं ण सेट्ठिस्स ईसि पि मज्झम्मि गहिअव्वं, दायव्व वा । एवं भणमाणेण णेण सव्व-समक्खं फाडिअं लिहिअ-पत्त । गहिअ मम्मण-हत्थाओ अणरिणस्स[7] लिहिअ । मम्मणप्पिअ-पारिओसिअ-पइप्फलं जं विउलं मए लध्द तं सव्वं मईअमेव, ण सेट्ठिणो किंचि । इण्हि सेट्ठि-गिहम्मि जइ चिट्ठे मि तहावि ण हाणी, मामगं घरमेयं । परंतु झंखइ[8] मह माणसं णिअमालयं विणा । तम्हा

---

१ औत्सुक्यम् २ आगता 'आङा अहिपच्चुअः (है० ४-१६२) ३ चाटु-कारिता कर्तुं लग्ना 'चाटौ गुललः' (है० ४-७३) ४ अतिजात:-पितुरधिक इत्यर्थः.

सर्वेऽपि ते सम्मील्य विकसितवदनकमलाः वर्धापयितुं रत्नपालं उपप्रवहणमागताः। जयविजयशब्दैः वर्धापयन्तश्चाटुकारितां कर्तुं प्रवृत्ताः—"पुत्र ! वारिवाहमिव चिरं प्रतीक्षमाणास्त्वां प्रतिदिनं वयमत्र स्थिताः। अतिजातः सुतोऽसि त्वं जिनदत्तस्य। उज्ज्वलं कृतं त्वया नामधेयं पितृपादस्य।" अन्तर्दूनोऽपि व्यवहारार्थं मन्मनोऽपि सपरिकरं समागतः। रत्नपालेनाऽपि सर्वेऽपि सम्मुखमागताः सुजनाः सानन्दं प्रणमिताः। युष्माकमाशीर्भिः सर्वं भव्यं जातम्। निर्विघ्ना मकरगृह-यात्रा सम्पन्ना। उत्तारितं वाहनात् कृत्स्नमपि भाण्डं वस्तु-जातं च। आडम्बरवती नगरे निर्गता अस्य प्रतिनिर्गमन-यात्रा। समैर्नागरैः प्रेमलोचनैः संभावितः सम्मानितश्च राउल-द्वितीयो रत्नपालः पूर्वं मन्मन-गृहे आगतः। जातं भोजनादिकृत्यम्। पश्चाद् नगरमहत्कानामभिमुखं तल्लिखितानुसारेण सवृद्धिकं पैतृकमृणं तथैव भाण्डमूल्यं च यथास्थितं समर्पितम्। साम्प्रतं न श्रेष्ठिनः ईषदपि मयि ग्रहीतव्यं दातव्यं वा। एवं भणता अनेन सर्व-समक्षं पाटितं लिखित-पत्रम्। गृहीतं मन्मन-हस्ताद् आनृण्यस्य लिखितम्। मन्मनार्पित-पारितोषिक-प्रतिफलं यद् विपुलं मया लब्धं तत् सर्वं मदीयमेव, न श्रेष्ठिनः किञ्चित्। इदानीं श्रेष्ठि-गृहे यदि तिष्ठामि तथापि न हानिः, मामकं गृहमेतत्। परं संतपति मम मानसं निजमालयं विना। तस्माद्

जिगमिसेमि णिअ घर एत्ताहे चिअ । एवं साहेऊण उट्ठिओ रयणवालो मम्मणं सविणय पणमिऊण कयंजलो वोत्तुमाढत्तो-"सेट्ठिप्पवर ! इच्छेमि तुब्भेहि अब्भणुणाओ णिअ भवणं वच्चेउ । सोलस-वास-पेरंतं अहमेत्थ वुड्ढि पत्तो, पुत्तव्व लालिओ, सिक्खिओ य पएसे पट्ठविओ । सभरिस्समहं अणुत्तरमुवयार भवयाणं । आवडिए कम्मिवि कज्जम्मि उवट्ठिओ होस्सं अणालसमेत्थ । सपइ जणय-भवणं गंतुं समुच्छुकं म अणुजाणंतु किवाए सेट्ठिवरा ।"

निरद्दया परवत्थुणो लालस 'त्ति विउरेण अंतर-दूमिएणावि ववहार-कुसलेण "साणद वच्चमु वच्छ ! णिअं भयणं, वड्ढमाण[1]-विच्छड्डेण वड्ढिओ होहि पुण" इअ वुवतेण मम्मणेण रयणवालो गंतुमणुजाणिओ ।

सोलस-वासाणतर बंधुजणेहि परिवारिओ मंगल-सद्देहि माघहेहि च वद्धाविओ हम्मियाहिमुह पत्तो पुत्तो । लद्ध-वद्धावणिआ[2] कोआसमुही[3] मयउज्झा तक्कालं तत्थ समागया । समप्पिआ वद्ध-मंदिर-तालगस्स तालिआ । उग्घाडिअं कवाड-जुअल । कत्थ कत्थ पिइपायस्स आसिआ सायिआ आसि 'त्ति परिजणेहि पवेइआ । तरुणा जाया तेसिं तक्खणं सई । रोत्तु पउत्तो बालव्व रयणवालो । हद्धी ! कहिं कट्ठमणुहवंति ते मज्झकारणा । किं मे विउलाए इमीए सिरिआए जाव ण जायइ अम्मापिऊणं दसण ?

"सत्थो होहि सुपुत्त ! लहु संभविज्जइ तेसिं सम्मेलणं । कारावेइस्सामो ताण अणुसंधाणं । विहिणोऽणुऊलयाए लद्धा

---

१ वर्धमानवैभवेन २ लब्धवर्धापनिका 'वधावणी' इतिभाषा ३ विकस्वरमुखी

जिगमिषामि निजं गृहमिदानीमेव। एवं कथयित्वा उत्थितो रत्नपालो मन्मनं सविनयं प्रणम्य कृताञ्जलिर्वक्तुमारब्धः—"श्रेष्ठिप्रवर ! इच्छामि युष्माभिरभ्यनुज्ञातो निजं भवनं व्रजितुम्। षोडशवर्षपर्यन्तमहमत्र वृद्धि प्राप्तः, पुत्रवत् लालितः, शिक्षितश्च प्रवासे प्रस्थापितः। स्मरिष्याम्यहं अनुत्तरमुपकारं भवताम्। आपतिते कस्मिन्नपि कार्ये उपस्थितो भविष्यामि अनालसमत्र। सम्प्रति जनक-भवनं गन्तुं समुत्सुकं मां अनुजानन्तु कृपया श्रेष्ठिवराः।"

'निरर्थका परवस्तुनो लालसा' इति विदुरेण अन्तर्दू नेनाऽपि व्यवहार-कुशलेन—"सानन्दं व्रज वत्स ! निजं भवनम्, वर्धमानविच्छड्डेन (वर्धमान-वैभवेन) वर्धितो भव पुनः" इति ब्रुवता मन्मनेन रत्नपालो गन्तुमनुज्ञातः।

षोडश-वर्षानन्तरं बन्धुजनैः परिवारितो मङ्गलशब्दैः मागधैश्च वर्धापितो हर्म्याभिमुखं प्राप्तः पुत्रः। लब्ध-वर्धापनिका विकसितमुखी सयज्भा (प्रातिवेश्मिकी) तत्कालं तत्र समागता। समर्पिता बद्धमन्दिरतालकस्य तालिका। उद्घाटितं कपाटयुगलम्। कुत्र-कुत्र पितृपादस्य आसिका शायिका आसीदिति परिजनैः प्रवेदिता। तरुणा जाता तेषां तत्क्षणं स्मृतिः। रोदितुं प्रवृत्तो बालवद् रत्नपालः। हद्धी ! (निर्वेदे) कुत्र कष्टमनुभवन्ति ते मत्कारणात् ? किं मे विपुलया अनया श्रिया यावत् न जायते मातृपित्रोः दर्शनम् ?

स्वस्थो भव सुपुत्र ! लघु संभाव्यते तेषां सम्मेलनम्, कारापयिष्यामस्तेषामनुसन्धानम्। विधेरनुकूलतया लब्धा भविष्यति तेषां

हविस्सइ तेसि पउत्ती । सपइ तुमं पुव्व एत्थ-गयं विसंठुलं कज्ज सुट्ठियं कुणसु, जहा तुह पिअयरस्स णामं समुज्जलं होइ 'त्ति सूइअ बंधुवग्गेण । पडिस्सुअं तं कहणं रयणेण । जायं सव्व-बधुजणेहि सहयरेहि य सद्धि पीइ-भोअणं । अणेगे जिणदत्त-संतिआ भिच्चा, कम्मगरा, आवणप्पमुहा, सहिणो[1] सभूअ समागया । णिअं-णिअं पच्चहिजाणं करावेउं पउत्ता—"सेट्ठिकुमर ! णट्ठे महापायवे कुलाय-संठिआणं सउण-पोआण जारिसी गई तारिसी जिणदत्त-सेट्ठि-सरण-विहूणाण अम्हकेरा ठिई वट्टए । सपइ आसासिमो[2] तुमं पियव्व अम्ह सरणदाया होहिसि 'त्ति । रयणवालेणावि सव्वेसि पत्थणा सुणिआ, मुणिआ, जहारिह-कज्ज-समप्पणेण ते संतोसिआ, पोसिआ य । केइ परिणयवया मए किं पुव्व करणिज्ज 'ति पुच्छिआ । तक्कहणमणुवट्टमाणेण सम्माणिआ य ।

एत्थंतरम्मि णयर-प्पमुहेहि सद्धि रयणवालेण पाहु-डीकओ णरवई, विण्णत्तो पुण—"णरदेव ! जेसि केसि वि मणुआण अत्थि जिणदत्त-सेट्ठिम्मि अवसिट्ठं अणं (ऋणं) ते सव्वेवि ममाहितो सवुड्ढिअं णिअं-णिअ धणं सत्तरं गिण्हंतु, तहेव जे अहमण्णा सेट्ठिणो ते सव्वेवि सत्तरं पच्चप्पिणतु मे जहारिहं धणं ।"

रण्णा तयाणिमेव "दायगा गिण्हंतु गाहगा य पच्चप्पिणतु, जिणदत्तसेट्ठि-सवधिअं दविणं 'ति" उग्घोसणा कारिआ णयरम्मि ।

---

१ सहायः २ आश्वास्महे ।

प्रवृत्तिः। सम्प्रति त्वं पूर्वं अत्रगतं विसंस्थुलं कार्यं सुस्थितं कुरु, यथा तव पितुर्नाम समुज्ज्वलं भवतीति सूचितं बन्धुवर्गेण। प्रतिश्रुतं तत्कथनं रत्नेन। जातं सर्वबन्धुजनैः सहचरैश्च सार्धं प्रीतिभोजनम्। अनेके जिनदत्तसत्का भृत्याः कर्मकराः आपण-प्रमुखाः सखायः संभूय समागताः। निजं निजं प्रत्यभिज्ञानं कारयितुं प्रवृत्ताः—"श्रेष्ठिकुमार ! नष्टे महापादपे कुलाय-संस्थितानां शकुन-पोतानां यादृशी गतिस्तादृशी जिनदत्त-श्रेष्ठिशरण-विहीनानां अस्मदीया स्थितिर्वर्तते। सम्प्रति आशास्महे त्वं पितृवद् अस्माकं शरणदाता भविष्यसीति रत्नपालेनाऽपि सर्वेषां प्रार्थना श्रुता, ज्ञाता, यथार्हकार्य-समर्पणेन ते सन्तोषिता, पोषिताश्च। केऽपि परिणत-वयसो 'मया किं पूर्वं करणीयम्' इति पृष्टाः तत्कथनमनुवर्तमानेन सम्मानिताश्च।

अत्रान्तरे नगरप्रमुखैः सार्धं रत्नपालेन प्राभृतीकृतो नरपतिः विज्ञप्तः पुनः—"नरदेव ! येषां केषामपि मनुजानां अस्ति जिनदत्त-श्रेष्ठिनि अवशिष्टमृणं ते सर्वेऽपि मत्तः सवृद्धिकं निजं निजं धनं सत्वरं गृह्णन्तु, तथैव ये अधमर्णाः श्रेष्ठिनस्ते सर्वेऽपि सत्वरं प्रत्यर्पयन्तु मह्यं यथार्हं धनम्।"

राज्ञा तदानीमेव—"दायका गृह्णन्तु, ग्राहकाश्च प्रत्यर्पयन्तु जिनदत्तश्रेष्ठिसम्बन्धिकं द्रविणमिति" उद्घोषणा कारिता नगरे।

तक्खण जाया जहोइआ ववत्था। दायगेहि जहारिहं गहिअ, गाहगेहि च दिण्ण। सव्वाणि पर-हत्थ-गयाणि खेत्त-वत्थु-विवणि-पासायाईणि अप्प-वसाणि संजायाणि। णयरीए अस्स कित्ति-कोमुई पत्थरिआ। अहो! बालोवि रयणवालो केरिसो बुध्दिमतो अत्थि? जेण सव्वमवि अववट्ठिअं कज्जं सुट्ठिअ कय। राउलेणावि सव्वा तत्थगया ठिई सम्मं मुणिआ। अग्गे कि करणिज्ज 'ति अणुवेल' चिंतेइ सो। परत्तु रयणेण राउल-हवतरिआ रयणवइ 'त्ति ण सकिअ कयावि, केवल बालजोई णूणमेस 'त्ति णिस्संक णायमिमेण। सव्व-सुह-समप्पिओ वि रयणवालो ण खणमवि रइ लब्भइ पिअर-विरह-दुब्वलो। कहं तेसि अणुसधाण कायव्वं! कहिं ते पउसिआ पुत्त-विरह-विराडिआ उयासीणा सता जीवण जवेंति? कहमेगागी अह गच्छेमि पवासं? म विणा कहमेगगो राउलो अणुवलक्खिअ-प्पएसम्मि चिट्ठिहिइ!

अतक्किओ आगओ तत्थ एगो अट्ठग-णिमित्त-विण्णू जोइसिओ। पुच्छिओ एसो सविणय रयणेण। विउसवर[2]! कहमह पच्चलो होमि[3] पिअर-पायस्स पउत्ति णाउं। काए दिसीए तेसि णिवासो 'त्ति कह पच्चेयं मए? किंवाए णाण-बलेण ककुहा-सूअणा कायव्वं, जहाह तेसिमणुसंधाणो सफलो हवेज्जा। गणएण झत्ति गणिअं फलिअं च पेक्खमाणेण उप्पिजल[4]-चेअणो रयणवालो उप्पालिओ—"दाहिण-दिसि-भाए कुसलिणो ते जणणी-जणया णिस्संदेहं। छमास-ब्भतरम्मि सुलहं तेसिं दरिसणं। कुमार! वईआ आवइ-दिअहा सपइ सव्वं सुहं सुहं 'ति निच्छिअं मे वयणं। एवं साहेमाणो दाणेण तोसिओ गओ सो णिअं ठाणं।

तत्क्षणं जाता यथोचिता व्यवस्था। दायकैर्यथार्हं गृहीतं ग्राहकैश्च दत्तं। सर्वाणि परहस्तगतानि क्षेत्र-वस्तु-विपणि-प्रासादादीनि आत्मवशानि संजातानि। नगर्यामस्य कीर्ति-कौमुदी प्रस्तृता। अहो! बालोऽपि रत्नपाल:कीदृशो बुद्धिमानस्ति येन सर्वमपि अव्यवस्थितं कार्यं सुस्थितं कृतम्। राउलेनाऽपि सर्वा तत्रगता स्थितिः सम्यग् ज्ञाता। अग्रे किं करणीयमिति अनुवेलं चिन्तयति सः। परन्तु रत्नेन राउल-रूपान्तरिता रत्नवतीति न शङ्कितं कदापि, केवलं बालयोगी नूनमेष' इति निःशङ्कं ज्ञातमनेन। सर्वसुखसमर्पितोऽपि रत्नपालो न क्षणमपि रतिं लभते पितृविरह-दुर्बलः। कथं तेषामनुसंधानं कर्त्तव्यम्? कुत्र ते प्रोषिताः पुत्रविरह-विनटिताः उदासीनाः सन्तो जीवनं यापयन्ति। कथमेकाकी अहं गच्छामि प्रवासम्? मां विना कथमेकाकी राउलोऽनुपलक्षित-प्रदेशे स्थास्यति।

अतर्कितः आगतस्तत्र एकोऽष्टाङ्गनिमित्तविज्ञो ज्यौतिषिकः। पृष्टः एव सविनयं रत्नेन—"विद्वद्वर! कथमहं प्रत्यलो भवामि पितृपादस्य प्रवृत्तिं ज्ञातुम्? कस्यां दिशि तेषां निवासः इति कथं प्रत्येयं मया? कृपया ज्ञानबलेन ककुप्-सूचनं कर्त्तव्यम्, यथाऽहं तेषामनुसंधाने सफलो भवेयम्।" गणकेन झटिति गणितं, फलितं च प्रेक्षमाणेन उत्पिञ्जलचेतनो रत्नपालः कथितः—"दक्षिणदिग्भागे कुशलिनस्ते जननीजनका निस्संदेहम्। षण्मासाभ्यन्तरे सुलभं तेषां दर्शनम्। कुमार! व्यतीता आपद्-दिवसाः सम्प्रति सर्वं सुखं सुखमिति निश्चितं मे वचनम्। एवं कथयन् दानेन तोषितो गतः स निजं स्थानम्।

अवसरं पप्प रयणवालेण सूइओ राउलो सखेअ—"जोइप्पवर ! णाहमिच्छेमि तुमं विरहिऊण कत्थइ गंतु-मेगागी, परंतु अत्थि एआरिसी समय-मग्गणा जहा मए अवस्सगंतव्वं पिअराणमणुसंधाण-णिमित्तं। तुमए एत्थ ठिच्चा गिह-पच्चुवेक्खणा कायव्वा। सयराहमेव पिअराणं मग्गणं काऊण, ते[1] एत्थ णेऊण पच्छा तुमए सद्धिं गमिस्समह रयणवइं णेउं ससुर-गेहं। इयाणिं तु समय-पडिवालणा करणिज्जा चिअ।"

ईसि-हसिअ-दंसिअ-धवलदंतपंतिणा राउलेण वाहरिअ—"ण एत्थ कोइ खेअस्स विसओ। अत्थि किमुक्किट्ठं जणणी-जणयाइरित्तं। तेसिं सेवा खु देव-सेवा। तेसिं दंसणं खु देव-दंसणं। तेसिं आणा किर देव-आणा। किं तेण किमि-कोडि गएण कुलिंगालेण जाएण, जो ण हवइ पिअराणं सुहहेऊ। परंतु ण एअं कज्जं तएजारिसाणं[2] गिहत्थाणं। अत्थि मएजारिसाणं तु वाम-हत्थ-लीला अणुसंधाण-कज्जं। सोमाल-सेहर ! ण अणुऊलो गिहत्थाणं हेमंत-उऊ। जाला पवहइ अइ सीअलो जगं कंपावेमाणो जडो उईणो[3] पवणो, ताला को सुहिओ गिहत्थो गिहाओ णीहरइ ? पहिरिअ-णाणुण्णिअ-वासो[4] आरोग्गिअ—विसिट्ठ-सत्ति-दायगोसह-मीसिअ-मिट्ठण्णो दारा-पुत्त-परिवारिओ उवानलं ट्ठिओ वासराइं गमेइ, तत्थ णिप्पिहो झडिलो समणो तावसो गलिअ-चीवरो दिअंबरो वा साणंदं रुक्ख-

---

१ तान् २ त्वादृशानाम् ३ उदीचीनः ४ परिहितनानौर्णिकवासाः।

अवसरं प्राप्य रत्नपालेन सूचितो राउलः सखेदं—"योगिप्रवर ! नाहमिच्छामि त्वां विरहय्य कुत्रापि गन्तुमेकाकी, परन्तु अस्ति एतादृशो समय-मार्गणा यथा मया अवश्यं गन्तव्यं पित्रोरनुसन्धान-निमित्तम्। त्वया अत्र स्थित्वा गृहप्रत्युपेक्षणा कर्त्तव्या। शीघ्रमेव पित्रोः मार्गणां कृत्वा तौ अत्र नीत्वा पश्चात् त्वया सार्धं गमयिष्याम्यहं रत्नवतीं नेतुं श्वसुर-गृहम्। इदानीं तु समय-प्रतिपालना करणीयैव।"

ईषद्-हसित-दर्शित-धवल-दन्त-पङ्क्तिना राउलेन व्याहृतं नात्र कोऽपि खेदस्य विषयः। अस्ति किमुत्कृष्टं जननी-जनकाति-रिक्तम् ? तेषां सेवा खलु देव-सेवा, तेषां दर्शनं खलु देव दर्शनम्; तेषां आज्ञा किल देवाज्ञा। किं तेन कृमिकोटिगतेन कुलाङ्गारेण जातेन यो न भवति पितॄणां सुखहेतुः, परन्तु नैतत् कार्यं त्वादृशानां गृहस्थानाम्। अस्ति मादृशानां तु वामहस्त-लीला अनुसन्धानकार्यम्। सुकुमार-शेखर ! नानुकूलो गृहस्थानां हेमन्तर्तुः। यस्मिन् प्रवहति अतिशीतलो जगत् कम्पायमानो जडः उदीचीनः पवनस्तस्मिन् कः सुखितो गृहस्थो गृहान्निस्सरति ? परिहित-नानौर्णिक-वासाः भुक्त-विशिष्ट-शक्तिदायकौषध-मिश्रित-मिष्ठान्नः दारा-पुत्र-परिवारितः उपानलं स्थितो वासराणि गमयति, तत्र निःस्पृहो जटिलः श्रमणस्ता-पसो गलितचीवरो दिगम्बरो वा सानन्दं वृक्षमूले स्थितो ध्यानं

मूलम्मि ठिओ झाण झायइ, परमिट्ठिं सुमिरइ, छुह अहिआसेइ, सुहं सुहेण सीअकालं च जवेइ । तहेव उण्हालो वि ण भोईण-मणुलोमो । जाहे पतवइ अइ तिग्ग-रस्सीहि असूमालो । वण्हि-सरिच्छा हवइ धरणी । सव्वपि वायावरण तातप्पावेमाणो पवहइ असहणिज्जो मारुओ । वार वार परिफुसिअं[1] पि ण सुक्कत्तणमुवेइ सेअ-जल । सुपीअपि उदय ण कयाइ पीअ पिव अणुहवंति तण्हालुआइं ओट्ठ-तालुकंठ-विवराइं । ताहे पत्त-समग्ग-भोग-सामग्गीओ णाणाविहं सीअ-पेज्ज पिवेतो वायाणुकूलिअ-गिहम्मि अल्लीणो मुकई को हम्मिअं चएउं चयइ ? तत्थवि मुणी जत्थ कत्थइ ठिओ, ज किमवि सीउण्ह भुंजेतो, उसिण जलं पिवेतो, तत्तभूमीअले वि अणत्थुअ मुवेतो, परममुइओ लक्खिज्जइ । केण अणुहविज्जइ गिम्ह-काल-तत्ती जो अणुवेलं सरेइ परमं पयं । जस्स सव्वपि वाहिर वत्थुजायं वाहिर तस्स का सुहस्स दुहस्स वा कप्पणा ? अहो विचित्तो मुणीणमद्धाणो । तहेव पाउससमयो वि ण जेट्ठासमीहि सुसहो, जया वासेति पयोवाहा जया-तया । हवंति पच्छण्ण-रविबिंबाणि दुद्दिणाणि । हिअय कपिग्र कुणमाणी विज्जोअइ विज्जू । गडगडायमाणो कण्णमूल भिदेइ पुण थणिअ-सद्दो । पिच्छिला हवंति वत्तणीओ । सवेआओ वहंति णिण्णआओ । अब्भतरिओ वि अक्को अईव अतरग-गिम्हिम अणुहवावेइ जाउ, तम्मि को सुही जुवइजणविरहिओ चिट्ठिउ खमो ? विहि-परततो पउत्थो वि कोइ गिहं संभरेइ रत्तिदिअहं । उक्किट्ठमंतव्वेअणं माणेइ काइ

---

१ परिप्रोञ्छितम् ।

ध्यायति, परमेष्ठिनं स्मरति, क्षुवमभ्यास्ते, सुखं सुखेन शीतकालं च यापयति। तथैव उष्णकालोऽपि न भोगिनामनुलोमः। यस्मिन् प्रतपति अति तिग्मरश्मिभिः अंशुमाली। वह्नि-सदृशो भवति धरणी। सर्वमपि वातावरणं तापयमानः प्रवहति असहनीयो मारुतः। वारं वारं परिप्रोञ्छितमपि न शुष्कत्वमुपैति स्वेदजलम्। सुपीतमपि उदकं न कदापि पीतमिवानुभवति तृष्णालुकानि ओष्ठ-तालु-कण्ठ-विवराणि। तस्मिन् प्राप्त-समग्र-भोग-सामग्रीको नानाविधं शीत-पेयं पिबन् वातानुकूलित-गृहे आलीनः सुकृती को हर्म्यं त्यक्तुं शक्नोति? तत्रापि मुनिर्यत्रकुत्रापि स्थितः, यत् किमपि शीतोष्णं भुञ्जानः, उष्णं जलं पिबन्, तप्त-भूमितलेऽपि अनास्तृतं स्वपन्, परम-मुदितो लक्ष्यते। केनानुभूयते ग्रीष्मकाल-तप्तिर्योऽनुवेलं स्मरति परमं पदम्। यस्य सर्वमपि बाह्यं वस्तुजातं बाह्यम्, तस्य का सुखस्य दुःखस्य वा कल्पना? अहो! विचित्रो मुनीनामध्वा। तथैव प्रावृट्-समयोऽपि न ज्येष्ठाश्रमीभिः सुसहः। यदा वर्षन्ति पयोवाहा, यदा-तदा भवन्ति प्रच्छन्न-रवि-बिम्बाणि दुर्दिनानि। हृदयं कम्पितं कुर्वती विद्योतते विद्युत्। गडगडायमानः कर्णमूलं भिनत्ति पुनः स्तनित-शब्दः। पिच्छिलाः भवन्ति वर्तन्यः। सवेगा वहन्ति निम्नगाः। अभ्रान्त-रितोऽप्यर्कोऽतीवान्तरङ्ग-ग्रीष्मतामनुभावयति जातु, तस्मिन् कः सुखी युवतिजन-विरहितः स्थातुं क्षमः? विधि-परतन्त्रः पउत्थोऽपि (प्रोषितोऽपि) कोऽपि गृहं स्मरति रात्रिंदिवम्। उत्कृष्टामन्तर्वेदनां

पवसिअ-भत्तिआ 'पिउ पिउ 'त्ति' बप्पीह-सद्देण पिअ ससरेमाणी माणिणी। तहि पाउसम्मि वि पच्चक्खाय-पाणभोअणा गिरिकदरासु समल्लीणा ववगय-सव्व-सरीर-माणस-चिता अक्खय-बभचेर-परिवड्ढिअ-लेस्सा झाण-कोट्ठोवगया अलक्खिअ तक्कणा-रहिअं सुहं वेलमइवाहयति• अओ मंति सव्वेवि उउणो[1] मुणीण दाहिणावट्टा। तो मए किर गतव्व पिअराण ढुढुल्लणट्ठु। ण तुम्हारिसाणं तत्थावयासो। 'सपइ चिअ वच्चेमि कि गहिअव्वं मए' एव भणतो राउलो केवलं हत्थ-गहिअ-वाणो तओ समुट्ठिओ। 'अजुत्तमिण अजुत्तमिण 'त्ति बोल्लमाणेण रयणेण सहसत्ति णिअतिओ राउलस्स करपल्लवो, साहिअ च–"जोइंद! किमसामइय गमणमाढत्त? चितणिज्ज किंचि। पढमं–जणणी-जणगाण कएण पुत्तस्स चिअ पएसगमण णीइ-सगअ। बीइज्जअ–अतिहिक्खेण समागओसि एत्थ दूर-देसतराओ तुम, सेवारिहस्स तस्स णिअ-कज्जट्ठ संपेसण अणुइय। तइय–विरत्तेहिं गिहि-कम्मस्स कारावण ण सोहावय। एत्तो सविणयं पत्थण मईय, ज इह च्चिअ ठिच्चा तुमए जोग-साहणा कायव्वा। ण अस्सि विसयम्मि भागिल्लेण भव्व।"

णिअं गमण समुइअ 'त्ति पायडतेण राउलेण सगज्ज वज्जरिअ–"सेट्ठि-पुत्त! णत्थि अमुणिआ णीई राउल-जोइणा। वसुहेव कुडुंब 'त्ति भावमाणाण मुणीण कत्थ णिअ-परत्तक्कणा? तुम्हकेरा जणणीजणया कि ण

---

१ ऋतवः।

मानयति (अनुभवति) कापि प्रोपितभर्तृका 'पिउपिउ' इति वप्पीह-शब्देन प्रियं संस्मरन्ती मानिनी। तस्मिन् प्रावृपि अपि प्रत्याख्यात-पानभोजनाः गिरिकन्दरासु समालीनाः व्यपगत-सर्वशरीर-मानस-चिन्ता अक्षत-ब्रह्मचर्य-परिवर्धित-लेश्याः ध्यान-कोष्ठोपगताः अलक्षितां तर्कणारहितां सुखं वेलामतिवाहयन्ति, अतः सन्ति सर्वेऽपि ऋतवो मुनीनां दक्षिणावर्ताः। तस्माद् मया किल गन्तव्यं पित्रोः गवेषणार्थम्! न युष्मादृशां तत्रावकाशः। 'सम्प्रत्येव व्रजामि किं ग्रहीतव्यं मया' एवं भणन् राउलः केवलं हस्तगृहीत-वीणस्ततः समुत्थितः। अयुक्तमिदं अयुक्तमिदमिति कथयता रत्नेन झटिति नियन्त्रितो राउलस्य कर-पल्लवः, कथितं च—"योगीन्द्र! किमसामयिकगमनमारब्धम्? चिन्तनीयं किञ्चित्! प्रथमम्- जननीजनकानां कृते पुत्रस्यैव प्रदेश-गमनं नीति-संगतम्। द्वितीयम्—अतिथिरूपेण समागतोऽसि अत्र दूरदेशान्तरात् त्वम्, सेवार्हस्य तस्य निजकार्यार्थं सम्प्रेपणमनुचितम्। तृतीयम्- विरक्तैः गृहि-कर्मणः कारापणं न शोभास्पदम्। एतस्मात् सविनयं प्रार्थनं मदीयं यदिहैव स्थित्वा त्वया योगसाधना कर्त्तव्या। नाऽस्मिन् विपये भागवता भाव्यम्"।

निजं गमनं समुचितमिति प्रकटयता राउलेन सगर्जं कथितम्—"श्रेष्ठिपुत्र! नास्ति अज्ञाता नीतिः राउल-योगिना। वसुधैव कुटुम्ब-मिति भावयतां मुनीनां कुत्र निज-पर-तर्कणा? युष्मदीया जननी-

पवसिअ-भत्तिआ 'पिउ पिउ 'त्ति' वप्पीह-सद्देण पिअ ससरेमाणी माणिणी। तहि पाउसम्मि वि पच्चक्खाय-पाणभोअणा गिरिकंदरासु समल्लीणा ववगय-सव्व-सरीर-माणस-चिता अक्खय-बभचेर-परिवड्ढिअ-लेस्सा झाण-कोट्ठोवगया अलक्खिअं तक्कणा-रहिअं मुहं वेलमइवाहयंति, अओ संति सव्वेवि उउणा[1] मुणीण दाहिणावट्टा। ता मए किर गतव्व पिअराण ढुंढुल्लणट्ठं। ण तुम्हारिसाणं तत्थावयासो। 'सपइ चिअ वच्चेमि कि गहिअव्वं मए' एव भणंतो राउलो केवलं हत्थ-गहिअ-वोणो तओ समुट्ठिओ। 'अजुत्तमिण अजुत्तमिण 'ति बोल्लमाणेण रयणेण सहसत्ति णिअतिओ राउलस्स करपल्लवो, साहिअ च—"जोइंद ! किमसामइय गमणमाढत्तं ? चितणिज्ज किंचि। पढमं—जणणी-जणगाण कएण पुत्तस्स चिअ पएसगमण णीइ-सगअ। वीडज्जअ–अतिहिरूवेण समागओसि एत्थ दूर-देसतगओ तुम, सेवारिहस्स तस्स णिअ-कज्जट्ठं संपेसणं अणुइय। तइय–विरत्तेहिं गिहि-कम्मस्स कारावणं ण सोहापयं। एत्तो सविणयं पत्थणं मईय, ज इह च्चिअ ठिच्चा तुमए जोग-साहणा कायव्वा। ण अस्सिं विसयम्मि भागिल्लेण भव्वं।"

णिअं गमणं समुइअ 'ति पायडतेण राउलेण सगज्जं वज्जरिअं—"सेट्ठि-पुत्त ! णत्थि अमुणिआ णीई राउल-जोइणा। वसुहेव कुडुंब 'ति भावमाणाणं मुणीण कत्थ णिअ-परतक्कणा ? तुम्हकेरा जणणीजणया किं ण

---

१ ऋतव.।

मानयति (अनुभवति) कापि प्रोषितभर्तृका 'पिउपिउ' इति बप्पीहशब्देन प्रियं संस्मरन्ती मानिनी। तस्मिन् प्रावृषि अपि प्रत्याख्यातपानभोजनाः गिरिकन्दरासु समालीनाः व्यपगत-सर्वशरीर-मानस-चिन्ता अक्षत-ब्रह्मचर्य-परिवर्धित-लेश्याः ध्यान-कोष्ठोपगताः अलक्षितां तर्कणारहितां सुखं वेलामतिवाहयन्ति, अतः सन्ति सर्वेऽपि ऋतवो मुनीनां दक्षिणावर्ताः। तस्माद् मया किल गन्तव्यं पित्रोः गवेषणार्थम्! न युष्मादृशां तत्रावकाशः। 'सम्प्रत्येव व्रजामि किं ग्रहीतव्यं मया' एवं भणन् राउलः केवलं हस्तगृहीत-वीणस्ततः समुत्थितः। अयुक्तमिदं अयुक्तमिदमिति कथयता रत्नेन झटिति नियन्त्रितो राउलस्य करपल्लवः, कथितं च—"योगीन्द्र! किमसामयिकगमनमारब्धम्? चिन्तनीयं किञ्चित्! प्रथमम् - जननीजनकानां कृते पुत्रस्यैव प्रदेशगमनं नीति-संगतम्। द्वितीयम्—अतिथिरूपेण समागतोऽसि अत्र दूरदेशान्तरात् त्वम्, सेवार्हस्य तस्य निजकार्यार्थं सम्प्रेषणमनुचितम्। तृतीयम्- विरक्तैः गृहि-कर्मणः कारापणं न शोभास्पदम्। एतस्मात् सविनयं प्रार्थनं मदीयं यदिहैव स्थित्वा त्वया योगसाधना कर्त्तव्या। नाऽस्मिन् विषये भागवता भाव्यम्"।

निजं गमनं समुचितमिति प्रकटयता राउलेन सगर्जं कथितम्—"श्रेष्ठिपुत्र! नास्ति अज्ञाता नीतिः राउल-योगिना। वसुधैव कुटुम्बमिति भावयतां मुनीनां कुत्र निज-पर-तर्कणा? युष्मदीया जननी-

अम्हेच्चया ? 'ण तिही काइ जस्स विज्जइ 'त्ति अतिही' णिरुत्तीए पायडमिणमो, ता मो ण अब्भागओ। सेवा किर जेसि जीवण-वय स कि पर-सेवणमहिलसेइ ? परोवयार-करणम्मि ण गिहत्थ-संथव-दोस-दुट्ठत्तमुवेति सुसीला तवोहणा। किणो तुम निरट्ठअं आग्गह कुणेसि ? सहयर ! सुण, ण जइ ह आणेउं सक्केज्जा भाणुमई-जुत्त जिणदत्त छम्मासमज्झयारम्मि इह, तो पविसस्समहमगणिकुंडम्मि 'त्ति पडिण्णाय वीअभयो एगल्लो चलिउं पयट्टो राउलो नवम्बण। अलद्ध-तग्गमण-णिरोह-मग्गो अच्चत वुण्णो वि रयणवालो कहकहमवि पडिवेसणट्ठं[1] समओ जाओ। चलिओ मो तेण सद्धि पुर-परिसर-पेरंत सिक्खा-रूवेण किमवि साहेंतो। जहा—"सावहाणेण वट्टिअव्व देसतरम्मि राउल ! पर-पयारण-तप्परा अणेगे धुत्त-सेहरा पइपय वञ्चयंति अणवहिअ-माणवे। जाव ण तुम पच्चावलिहिसि ताव ण मे मणो कत्थइ समल्लिस्सइ। पइदिण तुह पह पेच्छ, तम्हा तुरिअ-तुरिअ पच्चावलणस्स चिट्ठा कायव्वा" 'आम' 'तहत्ति' भणेतो पिअ-विरहेण अतायल्लयं[2] अणु-हवतो वि उवरि जोगिजुग्गं णीममत्तण दक्खवेंतो अग्गओ सरिओ। एव बहुदूरपह आगया ते दोण्णि वि। विरह-वेअण-रुद्धकठेण अतम्मि रुयतेण रयणेण धणिअमुवगूहिओ राउलो। विरह-संतत्थ-णयणेहि पीइज्जमाणो चित्त-लिहिएण इव तत्थ-ट्ठिएण पहम्मि तुरिअ-पायपायं वड्ढमाणो दिट्ठो मो ख्रणंतरम्मि रुक्खातरिओ अदिट्ठो सवुत्तो।

---

१ प्रति प्रेषणार्थम् २ आयल्लया० स्त्री० (दे०) बेचैनी। अन्तायल्लय-अन्तर्पीडा।

जनकाः किं नास्मदीयाः ? 'न तिथिः कापि यस्य विद्यते इति अतिथिः' निरुक्त्या प्रकटमिदम्। तस्मात् स न अभ्यागतः। सेवा किल येषां जीवन-व्रतं स किं परसेवनमभिलषते ? परोपकारकरणे न गृहस्थ-संस्तव-दोषदुष्टत्वमुपयन्ति सुशीलास्तपोधनाः। किणो (प्रश्ने) त्वं निरर्थकमाग्रहं करोषि ? सहचर ! शृणु, 'न यदि अहं आनेतुं शक्नुयां भानुमतीयुक्तं जिनदत्तं षण्मासमध्ये इह, तदा प्रविशाम्यहमग्नि-कुण्डे' इति प्रतिज्ञाय वीतभयः एकाकी चलितुं प्रवृत्तो राउल-स्तत्क्षणम्। अलब्ध-तद्गमन-निरोध-मार्गः अत्यन्तं खिन्नोऽपि रत्नपालः कथं कथमपि प्रतिप्रेषणार्थं सम्मतो जातः। चलितः स तेन सार्धं पुर-परिसर-पर्यन्तं शिक्षारूपेण किमपि कथयन्। यथा— "सावधानेन वर्तितव्यं देशान्तरे राउल ! पर-प्रतारण-तत्परा अनेके धूर्त-शेखराः प्रतिपदं वञ्चयन्ति अनवहित-मानवान्। यावन्न त्वं प्रत्यावलिष्यसे तावन्न मे मनः कुत्रापि समालेष्यते। प्रतिदिनं तव पथं प्रेक्षिष्ये, तस्मात् त्वरित-त्वरितं प्रत्यावलनस्य चेष्टा कर्त्तव्या। 'आम्' 'तथेति' इति भणन् प्रिय-विरहेण अन्तायल्लयं (अन्तःपीडां) अनुभवन्नपि उपरि योगि-योग्यं निर्ममत्वं दर्शयन् अग्रतः सृतः। एवं बहुदूर-पथं आगतौ तौ द्वावपि। विरहवेदन-रुद्धकण्ठेन अन्ते रुदता रत्नेन धणियं (गाढं) उपगूढः राउलः। विरह-संत्रस्त-नयनाभ्यां पीयमानः चित्रलिखितेनेव तत्रस्थितेन पथि त्वरित-पाद-पातं वर्धमानो दृष्टः सः। क्षणान्तरे वृक्षान्तरितः अदृष्टः संवृत्तः।

मुमिणेवि अकप्पिअं किमेअ जायं ? भंत ! बालस्सवि अस्स केरिस लोगुत्तमं सोअण्णं ? केरिसो अब्भुआ णिब्भयया ? केरिस बुद्धिचावल्ल ? केरिसी परोवयार-णिट्ठा ? अहो अणण्णो उच्छाहो ! अणेलिसो माहप्पो । महुरो सहावो । णिच्चं हसिअ वयणारविंदं । अव्वो ! कस्स इमिआ पसूई । मण्णे महाकुलीणोऽमू बालमुणी । धी ! धी ! म, एआरिसो मुहोइओ सोमाल-सरीरो मज्झ कारण पइग्गामं भमिस्सइ, जहापत्त भुंजिस्सइ, जहि कहि वीसंतो ट्ठाणं गहिस्सइ, अत्तण्णेसणवयो[1] तम्मणो, तल्लेसो, तप्परो य अणेगाइ कट्ठाइ खमिस्सइ । अण्णाणीहि अवहीरिओ वि समभाव-भाविओ होहिस्सइ पुण । एव बहु विगप्पेमाणो सोएमाणो गुम्मइअ[2]-हिअयो य रयणवालो गिहमागओ । पडिक्कज्जं, पडिभोअण, पडिपल च राउलं सरंतो एक्कमेक्क दिण अगुन्निपव्वेमु गणंतो जहाकह कालक्खेव करेइ ।

इओ पहम्मि सत्तरगईए उवसप्पंतो जे केइ मज्झेमग्ग गामा णयराइ खेड-कव्वडाइ आगच्छेज्जा, तत्थ सुहमेक्ख-णिआए[3] अण्णेसण कुणमाणो पुच्छेइ, तक्केइ, णाम-कीत्तण करेइ, सकेअ च जणावेइ । अणमिलिअम्मि संकेए अग्गओ वच्चइ । अणलसो सो ण कहिवि समय मुहा गमेइ, वीसमेइ, णिच्चितं च सुवइ । एगतमणुवलक्खिएसु गामणयराईसु वि वीणा-णाएण कण्णामय-महुर-वेरग्गमय-गीअ-गाणेण जण-समूहं आकड्ढइ । बालावत्थ अब्भुअ-रूवसपय त विलोएऊण

१ अत्तान्वेषणव्रतः-गृहीतान्वेषणव्रत इत्यर्थः २ गुम्मइय-हृदय'-मूढहृदयः । यथा—गुम्मइअ मूढ (पाइय० ५८०) ३ सूक्ष्मेक्षणिकया ।

स्वप्नेऽपि अकल्पितं किमेतत् जातम् । हन्त ! वालस्याप्यस्य कीदृशं लोकोत्तमं सौजन्यम् ? कीदृशी अद्भुता निर्भयता ? कीदृशं वुद्धिचापल्यम् ? कीदृशी परोपकार-निष्ठा ? अहो ! अनन्यः उत्साहः! अनीदृशं महात्म्यम् ! मधुरः स्वभावः ! नित्यं हसितं च वदनारविन्दम् । अहो ! कस्य इमा प्रसूतिः ? मन्ये महाकुलीनोऽसौ वालमुनिः। धिग् ! धिग् ! माम्, एतादृशः सुखोचितः सुकुमार-शरीरो मम कारणं प्रतिग्राम भ्रमिष्यति, यथा प्राप्तं भोक्ष्यते, यत्र कुत्र विश्राम्यन् स्थानं ग्रहीष्यति, आत्तान्वेषणव्रतः तन्मनाः तल्लेश्यः तत्परश्च अनेकानि कष्टानि क्षमिष्यते। अज्ञानिभिरवधीरितोऽपि समभावभावितो भविष्यति पुनः। एवं वहुविकल्पयन् शोचयन् गुम्मइयहृदयः (संमूढहृदयः) च रत्नपालो गृहमागतः। प्रतिकार्यं, प्रतिभोजनं, प्रतिपलं च राउलं स्मरन् एकैकं दिनं अंगुलि-पर्वसु गणयन् यथा कथंचित् कालक्षेपं करोति ।

इतः पथि सत्वरगत्या उपसर्पन् ये केऽपि मध्येमार्गं ग्रामाः नगराणि खेट-कर्वटानि आगच्छेयुः, तत्र सूक्ष्मेक्षणिकया अन्वेषणां कुर्वन् पृच्छति, तर्कयति, नामकीर्तनं करोति, संकेतं च ज्ञापयति ! अमीलिते संकेते अग्रतो व्रजति। अनलसः स न कुत्रापि समयं मुधा गमयति, विश्राम्यति, निश्चिन्तं च स्वपिति। एकान्तमनुपलक्षितेषु ग्राम-नगरादिष्वपि वीणा-नादेन कर्णामृत-मधुर-वैराग्यमय-गीतगानेन जनसमूहमाकर्षति । वाल्यावस्थमद्भुतरूपसम्पदं तं विलोक्य

जोईसर जणया संमोहिआ होइ, सक्कारेइ, सम्माणेइ, अणेग-वत्थूहिं पुण उवणीमतेइ परं णिप्पिवासो राउलो ण किमवि गिण्हेइ, णवरं भिक्खायरिआए समिआइय¹ दव्व गहिअ णिअ-हत्थेहि पाग करिअ एगहुत्त भुंजेइ। पच्छा लद्ध-परिचयेहि तत्थगय-जणेहि जिणदत्तस्स ट्ठिइ आगमण-गमणाइय गवेसइ। अपत्त-वुत्ततो इक्कवए तओ णिप्फिडइ²। तत्थ ठाउं बहुमणुरुद्धो वि णायगेहि 'अलाहि अलाहि णिवासेणं' ति कहेंतो अद्धणीणो हवइ। एव पलबा वत्तणी उल्लंघिआ गेण। अणेगाणि णयराणि मग्गिआणि। वणाणि तद्दिट्ठीए दिट्ठाणि। णाणा मढा आसमा पतग्गामा ढुंढुल्लिआ। पर ण जिणदत्तस्स णामपि आयण्णिअं। ण काइ पउत्ती वि पत्ता। सुहुमो सकेओवि ण लद्धो। तहावि अखेइरो राउलो दक्खिणाए दिसाए परिवड्ढइ। लक्खेग-दिट्ठी केत्तिल्लमिण 'ति मण्णंतो सवेगमग्गओ सरइ। उज्ज-मिल्लाणं किमलब्भ, किमसक्क, कि दूर वा ? जे असाह-हल्ल मुणेति साहल्लस्स उवायाणं। चलणाणमुवरि चलंति जत्थ चलणा तत्थ कि दूर गम्मपय ? कमसो अणेग-दिअहेहिं पत्त राउलेण जिणदत्त-सणाहं वसतपुर णाम णयरं। मग्ग-सगएहिं तत्थगय-जणेहि पुव्वमेव जिणदत्तणामो कोइ वुड्ढो कट्ठहारगो सभज्जो पुरस्स बाहिर एगम्मि उडजम्मि णिवसइ 'त्ति मुणिअ। सुणिऊण स-ससुरस्स चिरचिंतिअ कण्णप्पिअ णामहेअं हरिस-वसुब्भिण्ण-रोमचो सजाओ

---

१ समितादिकम्-'आटा आदि' इतिभाषा २ निस्फटति 'बाहर निकलना' इतिभाषा।

योगीश्वरं जनता सम्मोहिता भवति, सत्कारयति, सम्मानयति, अनेक-वस्तुभिः पुनरुपनिमन्त्रयति परं निष्पिपासो राउलो न किमपि गृह्णाति, केवलं भिक्षाचर्यया समितादिकं द्रव्यं गृहीत्वा निजहस्ताभ्यां पाकं कृत्वा एकवारं भुङ्क्ते। पश्चाद् लब्ध-परिचयैस्तत्रगत-जनैर्जिनदत्तस्य स्थितिम् आगमन-गमनादिकं गवेषयति। अप्राप्तवृत्तान्तः एकपदे ततो निष्फिटति। तत्र स्थातुं बह्वनुरुद्धोऽपि नागरैः 'अलमलं निवासेनेति कथयन् अध्वनीनो भवति। एव प्रलम्बा वर्तनी उल्लंघिता तेन। अनेकानि नगराणि मार्गितानि। वनानि तद्दृष्ट्या दृष्टानि। नाना मठाः आश्रमाः प्रान्तग्रामाः गवेषिताः। परं न जिनदत्तस्य नामाप्याकर्णितम्। न क्वापि प्रवृत्तिरपि प्राप्ता। सूक्ष्मः संकेतोऽपि न लब्धः। तथापि अखेदवान् राउलो दक्षिणस्यां दिशि परिवर्धते। लक्ष्यैकदृष्टिः कियदिदमिति मन्यमानः सवेगं अग्रतः सरति। उद्यमवतां किमलभ्यं, किमशक्यं, किं दूरं वा—ये असाफल्यं जानन्ति साफल्यस्य उपादानम्। चलनानामुपरि चलन्ति यत्र चलनाः तत्र किं दूरं गम्यपदम्? क्रमशोऽनेकदिवसैः प्राप्तं राउलेन जिनदत्त-सनाथं वसन्तपुरं नाम नगरम्। मार्ग-संगतैस्तत्रगतजनैः पूर्वमेव जिनदत्तनामा कोऽपि वृद्धः काष्ठ-हारकः सभार्यः पुरस्य बहिरेकस्मिन् उटजे निवसतीति ज्ञातम्। श्रुत्वा स्वश्वसुरस्य चिरचिन्तितं कर्ण-प्रियं नामधेयं हर्षवशोद्भिन्नरोमाञ्चः संजातो राउलः। मनोरथ-

राउलो ! मणोरह-घणसंचिआ परिवड्ढिआ पफुल्लिआ आसावल्ली । सो च्चिअ सोमो जिणदत्तो ससुरो, सा च अत्ता मे भद्द-सहावा भाणुमई । धण्णा अज्जाऽहं तेसिं चिरदुल्लहं दंसणं करिस्सं । पिअ-पुत्तस्स अलद्धपुव्व-सुह-समायारेण तेसिं माणसं तोसइस्सं[1] । अहा ! केरिसो होहिइ सो आणंद-मइयो समयो ? एवं विकप्पंतो आगओ पुर-परिसरम्मि राउलो । दिट्ठि-पहमावडिअं तमुडजं । कट्ठ-भारं णेउं गओ वणम्मि जिणदत्तो । कज्ज-लग्गहत्था उडजमज्झम्मि ठिआ भाणुमई । तक्खणं तत्थ समोइण्णो पसण्णमणो वीणाहत्थो सो । उडजस्साहिमुहं दिट्ठा णेण समअला गोमय-लिपिआ पवित्ता वेइआ । परिओ पाइय पसण्णं वायावरणं । तत्थ वेइआए वीणा-वायण-तप्परो णिमीलिअच्छो अयाणंतो विव अच्छिओ राउलो । सुणिऊण सवणामयं महुरसरं वीणं को एत्थ गायइ 'त्ति तक्कणपरा भूआ भाणुमई । ईसिं गीवं लंबायमाणीए बाहिं पेक्खिअं ताए । भत्ति-रस-णिब्भरं गायंतो वीणाए समं दिट्ठो ताए एगो बालजोई । अहो ! धण्णं अम्हकेरं दिव्वं दिअहं अज्जतणं, जं अणाहूओ अचिंतिओ एसो बालमुणी अमुणिअं दंसणं दाउं कय-पयप्पणो । णूणं अज्ज किमवि महाभव्वं संभाविज्जइ । पुण्णाण तुच्छाणं च उवरिं जेसिं समा मई तेसिं मणम्मि कत्थ गंतव्वं, कत्थ ण गंतव्वं, कत्थ चिट्ठिअव्वं, कत्थ ण चिट्ठिअव्वं, ण एआरिसा विगप्पा संभवंति, ता उवणिमंतेमि माहुअरिअट्ठं बालमुणि-म्मि । इअ विचिंतिअ किमवि भोअणारिहं दव्वं सप्पेमं

---

१ तोषयिष्यामि ।

घन-सिक्ता परिवर्धिता प्रफुल्ला आशावल्ली। स चैव सौम्यो जिनदत्तः श्वसुरः, सा च अत्ता (श्वश्रूः) मे भद्र स्वभावा भानुमती। धन्या अद्याऽहं तेषां चिरदुर्लभं दर्शनं करिष्यामि। प्रियपुत्रस्य अलब्धपूर्व-सुखसमाचारेण तेषां मानसं तोषयिष्यामि। अहा! कीदृशो भविष्यति स आनन्दमयः समयः? एवं विकल्पयन् आगतः पुरपरिसरे राउलः। दृष्टिपथमापतितं तदुटजम्। काष्ठ-भारं नेतुं गतो वने जिनदत्तः। कार्यलग्न-हस्ता उटजमध्ये स्थिता भानुमती। तत्क्षणं तत्र समवतीर्णः प्रसन्नमनाः वीणाहस्तः सः। उटजस्याभिमुखं दृष्टा तेन समतला गोमय-लिप्ता पवित्रा वेदिका। परितः प्राकृतं प्रसन्नं वातावरणम्। तत्र वेदिकायां वीणावादन-तत्परो निमीलिताक्षिः अजानन्निव आसितो राउलः। श्रुत्वा श्रवणामृतां मधुरस्वरां वीणां कोऽत्र गायतीति तर्कणपरा भूता भानुमती। ईषद ग्रीवां लम्बायमानया बहिः प्रेक्षितं तया। भक्तिरस-निर्भरं गायन् वीणया समं दृष्टस्तया एको वाल-योगी। अहो! धन्यमस्मदीयं दिव्यं दिवसमद्यतनम्, यत् अनाहूतः अचिन्तितः एष वालमुनिः अज्ञातं दर्शनं दातुं कृत-पदार्पणः। नूनमद्य किमपि महाभव्यं संभाव्यते। पूर्णानां तुच्छानां चोपरि येषां समा मतिः तेषां मनसि कुत्र गन्तव्यं, कुत्र न गन्तव्यं, कुत्र स्थातव्यं, कुत्र न स्थातव्यं, नैतादृशाः विकल्पाः संभवन्ति, तस्माद् उपनिमन्त्र-यामि माधुकरिकार्थं वालमुनिमिमम्। इति विचिन्त्य किमपि भोजनार्हं द्रव्यं सप्रेम दातुमुपराउलं उपनता सा। कृतो विनयप्रणामः। महती

दाउं उवराउलं उवणया सा। कओ विणयप्पणामो। महई किवा कया बालजोईसर ! समुद्धारिआ अम्हारिसा मंदभग्गा पावण-दसणेण। जइवि ण अत्थि तुह सागय-जुग्ग किमवि विसिट्ठं, तहवि भत्ति-विसिट्ठं विसिट्ठं मुणीणं 'ति आणिअ किमवि लुक्ख सुक्ख साणुग्गह गहिअव्व। मुणी ! जइ हुंतो अम्ह णिवासो पुरिमतालम्मि, तया कावि अणण्णा सेव्वा, भत्ती, सुस्सूसा य कया हुंता। परं किं सपइ वट्टइ 'त्ति साहेमाणी ईसिमुल्लाइ नेत्ताइ चीवरेण पुंछंतो तुण्हिक्का जाया।

पेम्मस्स पिडलइआ, वच्छल्लस्स रिछोली[1], सारल्लस्स मुत्ती, किवाए य पत्त, पयडीए सोम्मा, राउलेण अत्ता विलोइआ। पुत्त-विरह-दुब्बलावि जा कत्तव्व-पालण-पीवरा, दरिद्द-दाव-दड्ढा वि मणसा दाणुच्छुआ, सहाव-महुरा धम्मिट्ठा य तेण सा अणूहआ। अहो ! धणं गयं, ण गया दाणसीलया। विलीणा सामिद्धी, परंतु ण वोलीणा माणवया। अहवा धूलिधूसरंपि रयणं जहाइ किं महग्घिमं ? भूमिअल-णिवडिअपि घणजलं हवइ किं कडुअं ? पत्त-पुप्फ-फल-विहूणो वि अंबो किं जायइ णिंबो ? खलु गुण-रयण-खाणी इमिआ तो उववण्ण एत्थ रयणं। नूणं होइ अग्गिणा उद्दीविअं दीविअं सुवण्णं। जायए महमहिअं णिघट्टं चारुचंदणं। एवं वीमंसेमाणो राउलो पुव्वमिव वीणं वाए-माणो मुअल्लिओ ठिओ।

---

१ रिछोली-स्त्री० (दे०) पङ्क्ति।

कृपा कृता बालयोगीश्वर ! समुद्धारिता अस्मादृशा मन्दभाग्याः पावन-दर्शनेन । यद्यपि नास्ति तव स्वागत-योग्यं किमपि विशिष्टं, तथापि 'भक्ति-विशिष्टं विशिष्टं मुनीनाम्' इति आनीतं किमपि रूक्षं शुष्कं सानुग्रहं गृहीतव्यम् । मुने ! यदि अभविष्यत् अस्माकं निवासः पुरिमतालपुरे तदा काप्यनन्या सेवा, भक्तिः, सुश्रूषा च कृता अभविष्यत् । परं किं सम्प्रति यद् वर्तते इति कथयन्ती ईषद् आर्द्रे नेत्रे चीवरेण प्रोञ्छन्ती तूष्णीका जाता ।

प्रेम्णः पिण्डलिका (पिण्डीकृता) वात्सल्यस्य रिञ्छाला, (पङ्क्तिः) सारल्यस्य मूर्तिः, कृपायाश्च पात्रं, प्रकृत्या सौम्या राउलेन अत्ता (श्वश्रूः) विलोकिता । पुत्र-विरह-दुर्बलाऽपि या कर्त्तव्य-पालन-पीवरा, दारिद्र्य-दाव-दग्धाऽपि मनसा दानोत्सुका, स्वभाव-मधुरा धर्मिष्ठा च तेन साऽनुभूता । अहो ! धनं गतं न गता दान-शीलता । विलीना समृद्धिः परन्तु न व्यतिक्रान्ता मानवता । अथवा धूलि-धूसरमपि रत्नं जहाति किं महार्घ्यताम् ? भूमितल-निपतितमपि घनजलं भवति किं कटुकम् ? पत्र-पुष्प-फल-विहीनोऽप्याम्रो किं जायते निम्बः ? खलु गुणरत्नखानिः इमा तस्मादुत्पन्नमत्र रत्नम् । नूनं भवति अग्निनोद्दीपितं दीपितं सुवर्णम् । जायते महमहिअं (प्रसृत-सौरभं) निघृष्टं चारु चन्दनम् । एवं विमर्शयन् राउलः पूर्वमिव वीणां वादयन् मूकः स्थितः ।

"ण कह उत्तरिज्जइ भयंतेण। कह ण घेप्पइ भत्ति-भरिआ भिक्खा। लुक्खावि पेम्म-सिणिद्धा इद्धा। णिगिट्ठावि भत्ति-विसिट्ठा मिट्ठा" पच्चुत्तरं विरमालेमाणीए भाणुमईए तक्किअ।

"ण जुज्जइ, दे मायर! इयाणि माहुअरी। असाहारण तुह भत्ति पेक्खमाणेण मए अवस्स घेतव्वा सा। परतु पहु¹-भत्ति-रस-पाण-थिंपिअ-मणस्स मे णत्थि सण्हावि बुभुक्खा, पिवासा पुण। का चिता मुणीणं भोअणस्स, जत्थ वच्चइ तत्थ अणेगे दायरा हत्थ-गय-भिक्खा पडिक्खति²। अम्मया! णीहरिओऽह पुरिमतालाओ किंचि काल-पुव्व अणेग-गाम-णयर-पुर-पट्टणाणि हिंडेतो एत्थ समागओ। सुरम्मं थल णिहालिऊण वीसमणट्ठं तुह उडज-वेइआए ठिओ। पहुस्स गुणगाणेण लद्धा अज्झत्थ-वीसती। भत्तिजुत्तेण तुह आमतणेण पुण अईव संतुट्ठोम्हि" पयडिअ राउलेण णिरवेक्खभावेण।

सुणिआण पुरिमतालस्स णामहेअ अचिंतणिज्जाए काए आसा-रेहाए छिविआ³ भाणुमई तक्खण पुच्छिउमाढत्ता—"किं पुरिमतालत्तो आगमण भे?"

राउलो—"आम, तत्तो च्चिअ"

उच्छुईभूआ भाणुमई—"उवलक्खिज्जंति किं भदतेण तत्थगया विसिट्ठा णयरमहंतया" ?

राउलो—"कहं ण ? चिरठिईए अईव परिचिआ मे तत्थगया पमुहा।"

---

१ प्रभुभक्ति-रसपान-तृप्तमनस २ प्रतीक्षन्ते ३ स्पृष्टा।

'न कथमुत्तीर्यते भदन्तेन ? कथं न गृह्यते भक्तिभरिता भिक्षा ? रुक्षाऽपि प्रेम-स्निग्धा इध्दा। निकृष्टाऽपि भक्ति-विशिष्टा मिष्टा" प्रत्युत्तरं प्रतीक्षमाणया भानुमत्या तर्कितम्।

"न युज्यते हे मातः ! इदानीं माधुकरी। असाधारणां तव भक्ति प्रेक्षमाणेन मया अवश्यं गृहीतव्या सा। परन्तु प्रभुभक्ति-रसपान-तृप्तमनसः मे नास्ति सूक्ष्माऽपि बुभुक्षा, पिपासा पुनः। का चिन्ता मुनीनां भोजनस्य ? यत्र व्रजति तत्रानेके दातारो हस्तगत-भिक्षाः प्रतीक्षन्ते। अम्ब ! निसृतोऽहं पुरिमतालात् किञ्चित्कालपूर्वम्। अनेक-ग्राम-नगर-पुर-पत्तनानि हिण्डन्नत्र समागतः। सुरम्यं स्थलं निभाल्य विश्रमणार्थं तवोटजवेदिकायां स्थितः। प्रभोर्गुणगानेन लब्धाऽध्यात्म-विश्रान्तिः। भक्ति-युक्तेन तवामन्त्रणेन पुनः अतीव सन्तुष्टोऽस्मि" प्रकटितं राउलेन निरपेक्ष-भावेन।

श्रुत्वा पुरिमतालस्य नामधेयं अचिन्तनीयया कया आशा-रेखया स्पृष्टा भानुमती तत्क्षणं प्रष्टुमारब्धा—"किं पुरिमतालादागमनं भवतः ?"

राउल—"आम् ! ततः एव"।

उत्सुकीभूता भानुमती—"उपलक्ष्यन्ते किं भदन्तेन तत्रगताः विशिष्टाः नगरमहत्काः ?"

राउलः—"कथं न, चिरस्थित्याऽतीव परिचिताः मे तत्रगताः प्रमुखाः।"

ससभम भाणुमई—"तया तु अवस्स णज्जइ तुमए मम्म-णसेट्ठिणो गुत्तं[1]।"

राउलो—"णूणं अत्थि सो दढमुट्ठी णयर-लक्खिओ महेब्भो"।

हरिस-वसुब्भिण्ण-हिअय-कमला भाणुमई—"किं मुणि-ज्जइ मुणिणा तस्स पुत्ताइओ रयणवालो ?"

नव्व भावभंगिम नाडेमाणो राउलो—"अम्मो ! कहं मुणेइ अम्मा तं रयणं ? सो च्चिअ अत्थि मे परमपीइपत्तं अबीओ मित्तो। छमास-पेरंत ठिओऽहं तेण सद्धिं अम्मो !"

रणरणयं भयंती भाणुमई—"किं सच्चं ! तं जाणइ राउलो ?" एवं भणमाणी समीवमागम्म ठिआ।

"अम्हारिसेहिं किमगुणिअ रहस्सं, जाणेमि तस्स सव्वं पि जहाजाय घडणा-चक्कं। माय ! णत्थि सो मम्मण-पुत्तो, किंतु अत्थि सो जिणदत्तसेट्ठिणो कुलदीवो, भाणुमईए य अगओ। दुव्विहिणा पीलिआ अम्मापिउणो तं सत्तवीसं-वासरिअ थावण-रूवेण मम्मण-गिहम्मि ठविअ अलक्खिअ-मग्गा पवासं गया" पाउक्कयं सलक्खं राउलेण।

धारेउमसक्कं चिरालद्ध-पुत्त-पउत्ति-उच्छुक्कं[2] वहमाणी भाणुमई—"तओ किं ? तओ किं ? राउल !"

पुत्त-विरहग्गि-ताव-उम्हाइयं[3] मायर-हिअयं सुअस्स कुसल-कहा-सलिल-धाराहिं सलीलमोल्हवेमाणो[4] राउलो—

---

१ गोत्रम्-नामधेयम् २ औत्सुक्यम् ३ पुत्रविरहाग्नितापोष्मायितम्, ४ विध्यापयन्।

ससंभ्रमं भानुमती—'तदा तु अवश्यं ज्ञायते त्वया मन्मन-श्रेष्ठिनो गोत्रम् ?'

राउलः—'नूनमस्ति स दृढमुष्टिर्नगर-लक्षितो महेभ्यः।'

हर्षवशोद्भिन्न-हृदय-कमला भानुमती—'किं ज्ञायते मुनिना तस्य पुत्रायितो रत्नपालः ?'

नव्यं भावभङ्गिमानं नाटयन् राउलः—"अम्मो ! (आश्चर्ये) कथं जानाति माता तं रत्नम् ? स एवास्ति मम परमप्रीतिपात्रमद्वितीयं मित्रम्। षण्मास-पर्यन्तं स्थितोऽहं तेन सार्धं अम्ब !"

रणरणकं भजन्ती भानुमती—"किं सत्यम् ? तं जानाति राउलः?" एवं भणन्ती समीपमागम्य स्थिता।

"अस्मादृशैः किमज्ञातं रहस्यम् ? जानामि तस्य सर्वमपि यथा-जातं घटनाचक्रम्। मातः ! नास्ति स मन्मन-पुत्रः, किन्तु अस्ति स जिनदत्त-श्रेष्ठिनः कुलदीपो भानुमत्याश्च अङ्गजः ! दुर्विधिना पीडितौ मातापितरौ तं सप्तविंशति-वासरिकं स्थापनरूपेण मन्मनगृहे स्थापयित्वा अलक्षित-मार्गौ प्रवासं गतौ" प्रादुष्कृतं सलक्ष्यं राउलेन।

धर्तुमशक्यं चिरालब्ध-पुत्र-प्रवृत्त्यौत्सुक्यं वहन्ती भानुमती—"ततः किम्, ततः किं राउल !"

पुत्र-विरहाग्नि-तापोष्मायितं मातृहृदयं सुतस्य कुशल-कथा-सलिल-धाराभिः सलीलं विध्यापयन् राउलः—"मन्मनेन पुत्रवत्

"मम्मणेण पुत्तव्व पालिओ, पाढिओ य जया दुवालस-वासिओ होहीअ[1] सो, तया अहमण्णस्स मम्मिग-सद्देहिं ताडिओ णिअ-वुत्तंतवेइरो जाओ।"

अणिमिसणयणा माया—"पच्छा, पच्छा किं ?"

राउलो—"हरिपोअव्व णिसग्गं पत्तो तक्खणं पवास-गमणतप्परो सभूओ। मम्मणेण भिसमणुरुद्धोऽवि ण रुद्धो सो। अतम्मि भरिअ भंड बोहित्थम्मि[2] णिब्भयं सजत्तिओ जाओ।"

(सगय) एआरिस साहसं कयं तेण दुद्धमुहेण ! आरेइय-[3] रोमराइआ भाणुमई—"एवं दुक्करमायरिअ तेण ! अत्थि अग्गेवि विण्णाएा तस्स ?"

राउलो—"कहं ण ? सुणसु, अज्जपज्जंत वुत्तंतं। गओ सो कालकूडणामगं दीवं। पुण्णाण सजोएण णीरोओ जाओ णिवई। चिक्कएणावि भंडस्स लद्धो अउलो लाहो। तत्थ परणीआ तेण राय-पुत्तिआ रयणवई।"

सच्छरिज्जं अंबा—"किं भणसि राउल ! किं सो जाओ जणेसरस्स जामायरो ? एआरिसो भग्गमंतो !"

राउलो—"सच्चं सच्चं खु मायर ! पयडिओ सो महा-भागिल्लो। किं ण सुव्वइ[4] जणकहणं ज पुरिसभग्गं केण णज्जइ ?

हरिसमुजलुल्ल-लोयणा भाणुमई—"किं तत्थेव चिट्ठइ सो, वा आगओ पुणरवि णिअ पुर ?"

---

१ अभूत् २ यानपात्रे ३ आरेइय (दे०) पुलकितमित्यर्थः. ४ श्रूयते।

पालितः पाठितश्च यदा द्वादश-वार्षिकोऽभूत् सः, तदा अधमर्णस्य मार्मिकशब्दैस्ताडितो निज-वृत्तान्त-वेदिरो जातः।"

अनिमिषनयना माता—"पश्चात्, पश्चात् किम् ?"

राउलः—"हरिपोतवत् निसर्ग प्राप्तस्तत्क्षणं प्रवासगमन-तत्परः संभूतः। मन्मनेन भृशमनुरुद्धोऽपि न रुद्धः सः। अन्ते भृत्वा भाण्डं वोहित्थे निर्भयं सांयान्त्रिको जातः।"

(स्वगतम्) एतादृशं साहसं कृतं तेन दुग्धमुखेन ? पुलकितरोमराजिका भानुमती—"एवं ! दुष्करमाचरितं तेन, अस्ति अग्रेऽपि विज्ञानं तस्य ?"

राउलः—"कथं न ? शृणु, अद्यपर्यन्तं वृत्तान्तम्, गतः स कालकूटनामकं द्वीपम्। पुष्पाणां संयोगेन नीरोगो जातो नृपतिः। विक्रयेणाऽपि भाण्डस्य लब्धोऽतुलो लाभः। तत्र परिणीता तेन राजपुत्रिका रत्नवती।"

साश्चर्यमम्बा--"किं भणति राउल ! किं स जातो जनेश्वरस्य जामाता ? एतादृशो भाग्यवान् !"

राउलः—"सत्यं-सत्यं खलु मातः ! प्रकटितः स महाभाग्यवान्। किं न श्रूयते जन-कथनं यत् 'पुरुषभाग्यं केन ज्ञायते ?"

हर्षाश्रुजलार्द्रलोचना भानुमती—"किं तत्रैव तिष्ठति सः, वा आगतः पुनरपि निजं पुरम् ?"

राउलो–कि पुच्छेसि माय ! कहं सो अम्मा-पिउ-विहूणो तत्थ ठाएउ खमो ! सिग्घं पच्चावलिओ तओ आगओ सखेम णिअ पुरं । पच्चप्पिअ सव्व अणं[1] । मम्मण-गिहत्तो तक्खणा समागओ णिअं हम्मिअं महया चडयरेण[2] । सपइ अणुवेल विरमालेइ स अम्मा पिऊणं दरिसण ।"

वहलवाहणीरा भाणुमई–"अहमेवाम्हि पुत्त-विरहिआ मंदभग्गा भाणुमई रयणवाल-जणणी । धण्णा अज्जतणं दिण जम्मि कण्ण-सुहाइआ जहातह पिअ-पुत्त-पउत्ती पत्ता । जोइ द ! को जाणेइ काइ काइ कट्ठाइ सहिआइ पुत्त-विरहम्मि । अम्हेवि पच्छा णिअ पुरं गंतुमुच्छुआ आसी, किंतु अलद्ध-वुत्तंता किंचि सकिआ । सपइ अणायाम तुह आगमण जाय एत्थ । मिलिआ सव्वावि मुअस्स वत्ता । अहुणा तुरेस्सामो तत्थ गमित्तए, पुत्त च पेक्खित्तए सुल्लास ।"

तत्थ णिवडिअ एग कट्ठखड विलोइअ करेण गहिअ, चाउज्जेण जिग्घिअ, पुट्ठं च–"किमिणं! किमिणं! अम्मो !" सारल्लमुत्तीए भाणुमईए चविअ–"णत्थि किमवि एयं । एमेव कट्ठभाराओ णिवडिअं किमवि, जओ रयणवाल-पिआ आणेइ पइदिण सुक्क इधण-भार, मणे तस्स च्चिअ इणमो सयल ।"

रहस्समुणतेण इव राउलेण त झोलिआए संगोविअं, जपिअ पुणा–"को गिण्हेइ अणुदिअहं तमिंधणभार णयरम्मि ?"

भाणुमई–"अत्थि एगो णयरम्मि णेहालओ[3] महेब्भो

१ ऋणम् २ आडम्बरेण ३ स्नेहवान् ।

राउलः—"किं पृच्छसि मातः ! कथं स मातृपितृविहीनस्तत्र स्थातुं क्षमः ? शीघ्रं प्रत्यावर्तितस्ततः आगतः सक्षेमं निजं पुरम्। प्रत्यर्पितं सर्वमृणम्। मन्मन-गृहात् तत्क्षणं समागतो निजं हर्म्यं महता चडयरेण (आडम्बरेण) सम्प्रत्यनुवेलं प्रतीक्षते स मातापित्रोः दर्शनम्।"

वहद्‌बाष्पनीरा भानुमती—"अहमेवास्मि पुत्र-विरहिता मन्दभाग्या भानुमती रत्नपाल-जननी। धन्यमद्यतनं दिनं यस्मिन् कर्ण-सुखायिता यथातथं प्रियपुत्र-प्रवृत्तिः प्राप्ता। योगीन्द्र ! को जानाति कानि कानि कष्टानि सोढानि पुत्रविरहे। वयमपि निजं पुरं गन्तुमुत्सुका आस्मः, किन्तु अलब्धवृत्तान्ताः किञ्चित् शङ्किताः। सम्प्रत्यनायासं तवागमनं जातमत्र। मिलिता सर्वाऽपि सुतस्य वार्ता। अधुना त्वरिष्यामस्तत्र गन्तुं, पुत्रं च प्रेक्षितुं सोल्लासम्।

तत्र निपतितमेकं काष्ट-खण्डं विलोक्य करेण गृहीतं, चातुर्येण घ्रातं, पृष्टं च—'किमिदम्-किमिदम् ? अम्ब !' सारल्यमूर्त्या भानुमत्या कथितम्—"नास्ति किमपि एतत्। एवमेव काष्टभारान्निपतितं किमपि। यतो रत्नपाल-पिता आनयति प्रतिदिनं शुष्कमिन्धनभारं मन्ये तस्यैव इदं शकलम्।"

रहस्यमजानतेव राउलेन तत् झोलिकायां संगोपितं, जल्पितं पुनः—"को गृह्णाति अनुदिवसं तमिन्धन-भारं नगरे ?"

भानुमती—"अस्त्येको नगरे स्नेहवान् महेभ्यो धनदत्तः। स

धणदत्तो। सो अणुदिह गहइ एगेणेव मुल्लेण तं। अएगे वासा वोलीणा णण्णत्थ गमणपयोअण।"

(सगय राउलो) धी धी धी! धुत्तसेहरं, जो विप्पयारेइ कट्ठमुल्लेण चदण गिण्हंतो भद्द जिणदत्त।

एत्तो विक्किऊण भारिअ आगओ जिणदत्तोवि। उप्फुल्लणयणारविदा धावेमाणी भाणुमई सम्मुह गया पइदेवस्स। साहिओ राउल-भणिओ पिय-पुत्त-वुत्तंतो। हरिसवसविसप्पमाणह्रिअयो सवित्थार पुत्त-वुत्तत सोउ उवराउल ठिओ सेट्ठी। पुच्छिआ सव्वावि पउत्ती। सद्धि पण्हुत्तरेहि सणिअ-सणिअं सव्वापि पयडिआ तेण पिअपुत्तकहा। उच्छुअं जायं हिअय त दट्ठु। अवीओ आणदो समुप्पण्णो।

"थेव-दिणाणतर अहमवि पच्छा पुरिमताल गतुकामोम्हि। भविस्सइ णूण सगयं गमण अम्हाण।" पडिवेइअ उवेक्खिरेण इव राउलेण।

"साहु साहु, सद्धि चिअ गमिस्सामो। तुह सगमेण अम्हे अईव आणदिआ होस्सामो" सेट्ठिणा भणिअ।

भिक्खायरिआए सेट्ठिणा वि वहुणिमतिओ अणगीकाऊण तेसि वयण तओ उट्ठिओ सो। 'सायं पायं इहागमिस्समहं पुणरवि' एवं जपिऊण गोसीस[१]-वंचअ धणदत्त गवेसिउ अतोउर[२] पविट्ठो। चउप्पहम्मि ठिएण तेण एआरिसी महुरसरं वीणा वाइआ जेण पुरजणया सयमाकड्ढिआ। मय-णिउरंबव्व णाय-मोहिओ जणाण संघाओ राउलं परिआलिअ[३] ठिओ। अणेगवत्थूहि उवणिमंतिओवि

१ गोशीर्षवञ्चकम्-चन्दनवञ्चकम् २ पुरमध्ये ३ परिवृत्य।

अनुदिवसं गृह्णाति एकेनैव मूल्येन तम्। अनेकानि वर्षाणि व्यतिक्रान्तानि नान्यत्र गमन-प्रयोजनम्।"

स्वगतं राउलः—"धिग्! धिग्! धिग्! धूर्तशेखरं; यो विप्रतारयति काष्ठमूल्येन चन्दनं गृह्णन् भद्रं जिनदत्तम्।"

इतो विक्रीय भारिकामागतो जिनदत्तोऽपि। उत्फुल्ल-वदनारविन्दा धावन्ती भानुमती सम्मुखं गता पतिदेवस्य। कथितो राउल-भणितः प्रियपुत्रवृत्तान्तः। हर्षवश-विसर्पद्हृदयः सविस्तारं पुत्र-वृत्तान्तं श्रोतुं उपराउलं स्थितः श्रेष्ठी। पृष्टा सर्वाऽपि प्रवृत्तिः। सार्धं प्रश्नोत्तरैः शनैः शनैः सर्वाऽपि प्रकटिता तेन प्रिय-पुत्र-कथा। उत्सुकं जातं हृदयं तं द्रष्टुम्। अद्वितीयः आनन्दः समुत्पन्नः।

"स्तोकदिनानन्तरं अहमपि पश्चात् पुरिमतालं गन्तुकामोऽस्मि। भविष्यति नूनं संगतं गमनमस्माकम्" प्रतिवेदितमुपेक्षिणेव राउलेन।

"साधु! साधु! सार्धमेव गमिष्यामः। तव संगमेन वयमतीवानन्दिता भविष्यामः" श्रेष्ठिना भणितम्।

भिक्षाचर्यायै श्रेष्ठिनाऽपि बहुनिमन्त्रितोऽनङ्गीकृत्य तेषां वचनं तत उत्थितः सः। 'सायं प्रातरिहागमिष्याम्यहं पुनरपि' एवं जल्पित्वा गोशीर्ष-वञ्चकं धनदत्तं गवेषितुं अन्तःपुरं प्रविष्टः। चतुष्पथे स्थितेन तेनैतादृशी मधुरस्वरं वीणा वादिता, येन पुर-जनता स्वयमाकृष्टा। मृग-निकुरम्बवत् नाद-मोहितो जनानां संघातो राउलं परिवृत्य स्थितः। अनेकवस्तुभिरुपनिमन्त्रितोऽपि एष न गृह्णाति विशेषतः किञ्चित्।

एसो ण गिण्हेइ बिसेसओ किंचि। ताए णिप्पीहयाए[1] वहुगारव पत्तो सो जणाण मणेसु। णवरं णिअ-हत्थ-णिम्मिअ-सत्तिअ-भोअणेण तित्तो जहिं तहिं एगतम्मि रत्तीए सुवेमाणो सो दक्खयाए धुत्त-धणदत्तस्स गिहेण परिचिओ जाओ।

इओ विहि-वसओ णिवस्स अंगम्मि दाहज्जरो समुप्पण्णो। कया सव्वेवि उवाया णीफला गया। खिअणाए पीलिओ णिवो अईव असायमणुहवइ। ताला केणावि सड्ढिणा पुरिसेण णिवस्स भणिअं—"कीस तुम्हे एआरिस वेयणमणुहवेज्जा ? एत्थ एगो जत-मंत-ततोसह-विसारओ राउलो जोई समागओ अत्थि। तस्सासीसाए देवस्स गओ[2] गओ[3] होहिइ, ण सका। तो आमंतिअव्वो सो इहइं। अवस्स किवालुहिअयो सो किव काहिइ"।

दुहिएण णरवइणा तक्खणं सइव[4]-सगासाओ ससम्माणं दसण दाउं पत्थिओ सो रायमंदिरम्मि। "का णाम हाणी ! दाहमह दसणं णिवस्स। पहुकिवाए सव्व भव्व हुवेज्जा" एवं साहेंतो तक्खणं तओ उप्पडिओ[5]। जणेहिं परिवारिओ, णिअ-लयम्मि रमेंतो, अहरपुडेहिं उवमुजाव[6] च कुणमाणो राय-पासायं पत्तो। णिवेण विणयप्पणामो कओ, दत्त च आसण। "कयत्थोम्हि अज्ज तुह दसणेण जोईसर ! अणुहवामि तिव्व दाहज्जर। सव्वेवि अगयकारा हारिआ ओसहं कुणेता। संपइ तुह सरणं गहिअ। कुणउ अणुग्गहं।"

---

१ निस्पृहतया २ गद. ३ गत ४ सचिव-सकाशात् ५ उत्थित, गुजराती मे 'उपड्वु' ६ 'उपांशुजापम्।

तया निस्पृहतया वहु गौरवं प्राप्तः स जनानां मनस्सु। केवलं निज-हस्त-निर्मित-सात्विक-भोजनेन तृप्तो यत्र तत्र एकान्ते रात्रौ स्वपन् स दक्षतया धूर्त धनदत्तस्य गृहेण परिचितो जातः।

इतो विधिवशतो नृपस्याङ्गे दाघज्वरः समुत्पन्नः। कृताः सर्वेऽपि उपायाः निष्फलाः गताः। वेदनया पीडितो नृपोऽतीवासातमनुभवति। तदा केनाऽपि श्रद्धिना पुरुषेण नृपाय भणितम्—"कस्माद् यूयं एतादृशीं वेदनामनुभवथ। अत्र को यन्त्र-मन्त्र-तन्त्रौषध-विशारदो राउलो योगी समागतोऽस्ति। तस्याशिषा देवस्य गदो गतो भविष्यति, न शङ्का। तस्मादामन्त्रितव्यः स इह। अवश्यं कृपालुहृदयः स कृपां करिष्यति।"

दुःखितेन नरपतिना तत्क्षणं सचिव-सकाशात् ससम्मानं दर्शनं दातुं प्रार्थितः स राजमन्दिरे। 'का नाम हानिः? दास्याम्यहं दर्शनं नृपाय। प्रभु-कृपया सर्वं भव्यं भवेत्।' एवं कथयन् तत्क्षणं ततः उत्थितः। जनैः परिवारितो निजलये रममाणः, अधर-पुटाभ्यां उपांशुजापं च कुर्वन् राज-प्रासादं प्राप्तः। नृपेण विनय-प्रणामः कृतः, दत्तं चासनम्। "कृतार्थोऽस्मि अद्य तव दर्शनेन योगीश्वर! अनुभवामि तीव्रं दाघ-ज्वरम्। सर्वेऽपि अगदंकाराः हारिताः औषधं कुर्वन्तः, सम्प्रति तव शरणं गृहीतम्। करोतु अनुग्रहम्।"

"पहू पहुप्पइ[1] सव्व भव्वं काउ। जस्स सरणेण अब्भंतरिआ गया वि विगया हवेज्जा, तत्थ बाहिरामयाणं का कलणा ? णूण होइ मणुओ रोई अण्णाणेण णिअेण। पाइअणियमाणं खडगा चिअ आमाणमामतणं। परमत्थओ इंदिआणमासत्ती किर णाणा-रोआण जणणी। जइ सा णिव्वुइं पत्ता, सय जम्मइ आरुग्ग-संपया" एव सूअमाणेण राउलेण णरदेवस्स धमणी विलोइआ। कयं णिआण। विचिंतिअं किंचि। "ईसिकरमेय मुकय-णिआणस्स वेज्जवरस्स। णवरं गोसीसचदण जुप्पइ जइ पावीअइ[3]। तेण तक्खण रोगोवसमण हवे, इअ मे कप्पणा" सुल्लासमुप्पालिअं जोइणा।

सयराहमेव किकरा त गवेसिउ गया णयरम्मि। चदणववहारिणो सव्वेवि आपुच्छिआ परं ण कत्थइ पत्त एगमवि सयलममरचदणस्स। उआसीण-मुहा सव्वेवि गवेसया पुणरागआ। "ण गोसीस एत्थ कोइ जाणइ, उवलक्खइ, रक्खइ य। अण्ण साहारण चदण जइ जुज्जइ तो सुलहं विज्जइ" साहियं तेहि। हयासो जाओ णिओ। "अरे ! ण मिलिअममरचदणमेत्थ ? हा ! हा ! अणुलघणिज्जा भविअव्वया ! जोइवर ! संपइ तुममेव सरण मे।"

"किमत्थि एआरिस वत्थु जं ण मिलइ पहुस्स महारज्जे। मणुअस्स अजुग्गया चिअ मणुअं असाहल्ल णिदसेज्जा। कि णयरम्मि ण मिलिअं हरिअदण[4] ? अज्जेव मिलइ, अहुणेव मिलइ, इह एव मिलइ" एवं भणमाणेण

---

१ प्रभवति २ ईषत्करम् ३ प्राप्यते ४ हरिचन्दम्।

"प्रभुः प्रभवति सर्वं भव्यं कर्तुम्। यस्य स्मरणेनाभ्यन्तरिका गदा अपि विगता भवेयुः, तत्र वहिरामयानां का कलना ? नूनं भवति मनुजो रोगी अज्ञानेन निजेन। प्राकृतनियमानां खण्डनमेव आमाना-मामन्त्रणम्। परमार्थतः इन्द्रियाणामासक्तिः किल नानारोगाणां जननी। यदि सा निर्वृतिं प्राप्ता स्वयं जायते आरोग्य-सम्पद्।" एवं सूचयता राउलेन नरदेवस्य धमनी विलोकिता। कृतं निदानम्। विचिन्तितं किञ्चित्। "ईषत्करमेतत् सुकृतनिदानस्य वैद्यवरस्य। केवलं गोशीर्ष-चन्दनं युज्यते यदि प्राप्यते, तेन तत्क्षणं रोगोपशमनं भवेत् इति मे कल्पना।" सोल्लासं कथितं योगिना।

शीघ्रमेव किङ्कुरास्तद् गवेषितुं गता नगरे। चन्दन-व्यवहारिणः सर्वेऽपि आपृष्टाः परं न कुत्रापि प्राप्तं एकमपि शकलं अमरचन्दनस्य। उदासीन-मुखाः सर्वेऽपि गवेषकाः पुनरागताः। "न गोशीर्षं अत्र कोऽपि जानाति, उपलक्षयते, रक्षति च। अन्यत् साधारणं चन्दनं यदि युज्यते तदा सुलभं विद्यते" कथितं तैः। हताशो जातो नृपः। "अरे! न मिलितममरचन्दनमत्र। हा! हा! अनुल्लंघनीया भवितव्यता। योगिवर! सम्प्रति त्वमेव शरणं मे।"

"किमस्ति एतादृशं वस्तु यन्न मिलति प्रभो! महाराज्ये ? मनुजस्यायोग्यतैव मनुजं असाफल्यं निदर्शयेत्। किं नगरे न मिलितं हरिचन्दनम्। अद्यैव मिलति, अधुनैव मिलति, इहैव मिलति" एवं

राउलेण तक्खणं पवेसिअं णिअ हत्थं झोलियाए मज्झयारम्मि। णिमीलिअ-णयण-जुअल उच्चय कहिअं, जहा—"आगच्छउ ! हरिअदण, सयराहमागच्छउ हरिअदण ! अत्थि पहुस्स आणा, अत्थि गुरुस्स आणा, अत्थि राउलजोइणो पुण आणा।" तक्कालमायाउ अमरचदण 'ति भणमाणस्स राउलस्स झोलिआओ गोसीस-सयलं हत्थ-गहिअ बाहिरमागअ। णिवपभिइणो विम्हयं गया। "अव्वो! अचिंतणिज्जा जोइणो सत्ती ! कुओ आगय अकम्हा हरिचदण झोलिआए ? णूणं मे दाहज्जरो सत्तरं गत्तरो होहिइ।" घिट्ठं णिहत्थेहि राउलेण चदण। काइ मतक्खराइं उच्चारमाणेण लित्त त णिवस्स गत्तम्मि। जायमेत्ते लेवम्मि तक्खणमणुवमा सीअलया पसरिआ। विगय-दाहो सजाओ णरणाहो। मणे, णवजीवण पत्तं तेण। णिवो राउलस्स चरणेसु णिवडिओ, कयण्णुआए विण्णत्त च—"हत ! णिक्कारणमुवयारिणो ईइसा हवति मुणिणो ! अत्थि अज्जावि मुणिकुजरेसु वण्णणाईआ सत्ती। तो लोया सभत्ति पूअंति, सक्कारेति, सम्माणेति य साहु-पुंगवे। णिप्पिह ! केण पच्चुवयारेण लाहव णेएमि अप्पाणं ? सच्चमिणं ज ण जुप्पइ किमवि लोगुत्तर-चरिआणं लोयम्मि, तहवि मज्झम्मि पसाय काऊण किमवि अंगीकर-णिज्जं। परमत्थओ महप्पेसु दाणं खित्तेसु मिव अचुच्छ-मायाणं। मुणिपुगवाण देता दायारो पच्चुल अणुग्गहीया सिआ, तम्हा किंचि गहणप्पसाओ कायव्वो कारुण्णपुण्णेण भदतेण।"

णिवस्स विणयस्सुवरि झाणमदेतेण इव राउलेण उव-एस-सरस्सइए वुत्त—"भूमिद ! किं जुज्जइ मुणिद-चदाण ?

भणता राउलेन तत्क्षणं प्रवेशितं निजं हस्तं झोलिकायाः मध्ये। निमीलितनयनयुगलं उच्चैः कथितम्, यथा—"आगच्छतु हरिचन्दनम्। शीघ्रमागच्छतु हरिचन्दनम्। अस्ति प्रभोराज्ञा, अस्ति गुरोराज्ञा, अस्ति राउलयोगिनः पुनराज्ञा।" तत्कालमायातु अमरचन्दनमिति भणतो राउलस्य झोलिकातो गोशीर्ष-शकलं हस्त-गृहीतं बहिरागतम्। नृप-प्रभृतयो विस्मयं गताः। "अव्वो! (आश्चर्ये) अचिन्तनीया योगिनः शक्तिः। कुतः आगतं अकस्माद्धरिचन्दनं झोलिकायाम्। नूनं मे दाघज्वरः सत्वरं गत्वरो भविष्यति।" घृष्टं निजहस्ताभ्यां राउलेन चन्दनम्। कानि मन्त्राक्षराणि उच्चारयता लिप्तं तद्नृपस्य गात्रे। जातमात्रे लेपे तत्क्षणमनपमा शीतलता प्रसृता। विगतदाहः संजातो नरनाथः। मन्ये नवजीवनं प्राप्तं तेन। नृपो राउलस्य चरण-योर्निपतितः, कृतज्ञतया विज्ञप्तं च—"हन्त! निष्कारणमुपकारिणः ईदृशा भवन्ति मुनयः। अस्ति अद्यापि मुनि-कुञ्जरेषु वर्णनातीता शक्तिः। तस्माल्लोकाः सभक्ति पूजयन्ति, सत्कारयन्ति, सम्मानयन्ति च साधु-पुङ्गवान्। निस्पृह! केन प्रत्युपकारेण लाघवं नयामि आत्मानम्? सत्यमिदं यन्नयुज्यते किमपि लोकोत्तर-चरितानां लोके, तथापि मयि प्रसादं कृत्वा किमपि अङ्गीकरणीयम्। परमार्थतो महात्मसु दानं क्षेत्रे ष्विव अतुच्छमादानम्। मुनि-पुङ्गवेभ्यो ददतो दातारः प्रत्युत अनुगृहीताः स्यु। तस्माद् किञ्चित् ग्रहण-प्रसादः कर्त्तव्यः कारुण्य-पुण्येन भदन्तेन।"

नृपस्य विनयोपरि ध्यानमददतेव राउलेनोपदेश-सरस्वत्या उक्तम्—"भूमीन्द्र! किं युज्यते मुनीन्द्रचन्द्रेभ्यः? येषां निराशैव

---

१ उपदेशसरस्वत्या-उपदेशमय्या वाण्या इत्यर्थः।

जेसिं णिरासा चिअ आसा । अकिंचणत्तमेव धणं । अहो ! जायणा-मीलोवि जोई किं जायए जगम्मि ? भिक्खेण सुलह-मण्णं पुण पाणिअं । धरणिअलं जाणं ठाणं । रुक्खमूलं किर पडिणिम्मिअं हम्मिअं । सव्वेवि लोआ परिअणा । उववासा जास अणयंकारा । भूणाह ! वहु पत्तं हवइ अप्प-चाएण । एगं आसाजालं छिंदंतो जोई तेलुक्क-सामिद्धिं हत्थेइ, ण किं एसो अइलाहो वावारो । तहवि अत्थि भत्ति-पुण्णा पत्थणा तो रक्खेम्मि णिवस्स वयणं भंडागारम्मि । आवडिए कज्जे किमवि मग्गहिस्सं 'ति जपमाणो राउलो तओ उट्ठिओ । अस्स णिप्पिह-वित्तिं पेक्खिऊण सव्वेवि विम्हय-मेराणणा संजाया । समग्गपुरम्मि अब्भुआ एसा कहा वित्थरिआ । विचित्त-सत्तिल्लोऽयं राउलो । खणेण गमिआ इमेण णिवस्स निव्वा वेअणा । अहुणा सव्व-विइअ-माहप्पो जाओ इमो ।

एगया सझाकालम्मि एगागी राउलो धणदत्तस्स गिहस्स अग्गओ आगम्म सणिअं वीणं वाएउमाढत्तो । दिणावसाण-समयम्मि आयण्णिअ वीणस्सरं, पेक्खिऊण अग्गओ ठिअं च राउलं धणदत्तस्स भज्जा भयभीआ जाया । वेविरी[1] सा तक्कालं बाहिरमागया साहेउं पउत्ता—"राउल ! कहं विआल-वेलाए एत्थ समागया तुम्हे ? जं जुज्जइ तं सिग्घं गहिअ इओ अण्णत्थ वइअव्वं । जओ भदंता णिवघर-सम्माणिआ पूइया य मंति, अहं एगागिणी अबला इत्थिआ सपइ । ण मे ट्ठिई सोहणत्तणमंचइ किंचि वि । तम्हा जया

1 वेपनशीला ।

आशा। अकिञ्चनत्वमेव धनम्। अहो! याचनाशीलोऽपि योगी किं याचते जगति? भिक्षया सुलभमन्नं पुनः पानीयम्। धरणितलं येषां स्थानम्। वृक्षमूलं किल प्रतिनिर्मितं हर्म्यम्। सर्वेऽपि लोकाः परिजनाः। उपवासाः येषां अगदङ्काराः। भूनाथ! बहु प्राप्तं भवति अल्पत्यागेन। एकमाशाजालं छिन्दन् योगी त्रैलोक्य-समृद्धि हस्तयति, न किम् एष अतिलाभो व्यापारः? तथापि अस्ति भक्तिपूर्णा प्रार्थना, तस्माद् रक्षामि नृपस्य (भवतः) वचनं भाण्डागारे। आपतिते कार्ये किमपि मार्गयिष्ये" इति जल्पन् राउलस्ततः उत्थितः। अस्य निस्पृह-वृत्तिं प्रेक्ष्य सर्वेऽपि विस्मय-स्मेराननाः संजाताः। समग्रपुरेऽद्भुता एषा कथा विस्तृता। विचित्रशक्तिवानयं राउलः। क्षणेन गमिताऽनेन नृपस्य तीव्रा वेदना। अधुना सर्व-विदित-माहात्म्यो जातोऽयम्।

एकदा सन्ध्याकाले एकाकी राउलो धनदत्तस्य गृहस्य अग्रतः आगम्य शनैर्वीणां वादयितुमारब्धः। दिनावसान-समये आकर्ण्य वीणास्वरं, प्रेक्ष्याग्रतः स्थितं राउलं धनदत्तस्य भार्या भयभीता जाता। वेपनशीला सा तत्कालं बहिरागता कथयितुं प्रवृत्ता—"राउल! कथं विकालवेलायामत्र समागता यूयम्? यद् युज्यते तच्छीघ्रं गृहीत्वा इतोऽन्यत्र व्रजितव्यम्। यतो भदन्ताः नृपगृहसम्मानिताः पूजिताः सन्ति, अहमेकाकिनी अबला स्त्री सम्प्रति। न भवतः स्थितिः शोभनत्वमञ्चति किञ्चिदपि। तस्माद् यदा अस्य बालकस्य

जेसिं णिरासा चिअ आसा। अकिंचणत्तमेव धणं। अहो ! जायणा-सीलोवि जोई किं जायए जगम्मि ? भिक्खेण सुलह-मण्णं पुण पाणिअं। धरणिअलं जाणं ठाणं। रुक्खमूलं किर पडिणिम्मिअ हम्मिअं। सव्वेवि लोआ परिअणा। उववासा जास अणयंकारा। भूणाह ! बहुं पत्तं हवइ अप्प-चाएण। एगं आसाजाल छिंदंतो जोई तेलुक्क-सामिद्धिं हत्थेइ, ण किं एसो अइलाहो वावारो। तहवि अत्थि भत्ति-पुण्णा पत्थणा तो रक्खेम्मि णिवस्स वयणं भंडागारम्मि। आवडिए कज्जे किमवि मग्गहिस्स 'त्ति जपमाणो राउलो तओ उट्ठिओ। अस्स णिप्पिह-वित्तिं पेक्खिऊण सव्वेवि विम्हय-सेराणणा संजाया। समग्गपुरम्मि अब्भुआ एसा कहा वित्थरिआ। विचित्त-सत्तिल्लोऽयं राउलो। खणेण गमिआ इमेण णिवस्स लिव्वा वेअणा। अहुणा सव्व-विइअ-माहप्पो जाओ इमो।

एगया संझाकालम्मि एगागी राउलो धणदत्तस्स गिहस्स अग्गओ आगम्म सणिअं वीणं वाएउमाढत्तो। दिणावसाण-समयम्मि आयण्णिअ वीणस्सरं, पेक्खिऊण अग्गओ ठिअं च राउलं धणदत्तस्स भज्जा भयभीआ जाया। वेविरी[1] सा तक्कालं बाहिरमागया साहेउं पउत्ता—"राउल ! कहं विआल-वेलाए एत्थ समागया तुम्हे ? जं जुज्जइ तं सिग्घं गहिअ इओ अण्णत्थ वइअव्वं। जओ भदंता णिवघर-सम्माणिआ पूइया य संति, अहं एगागिणी अबला इत्थिआ सपइ। ण मे ठ्ठिई सोहणत्तणमंचइ किंचि वि। तम्हा जया

1 वेपनशीला।

आशा। अकिञ्चनत्वमेव धनम्। अहो! याचनाशीलोऽपि योगी किं याचते जगति? भिक्षया सुलभमन्नं पुनः पानीयम्। धरणितलं येषां स्थानम्। वृक्षमूलं किल प्रतिनिर्मितं हर्म्यम्। सर्वेऽपि लोकाः परिजनाः। उपवासाः येषां अगदङ्काराः। भूनाथ! वहु प्राप्तं भवति अल्पत्यागेन। एकमाशाजालं छिन्दन् योगी त्रैलोक्य-समृद्धिं हस्तयति, न किम् एष अतिलाभो व्यापारः? तथापि अस्ति भक्तिपूर्णा प्रार्थना, तस्माद् रक्षामि नृपस्य (भवतः) वचनं भाण्डागारे। आपतिते कार्ये किमपि मार्गयिष्ये" इति जल्पन् राउलस्ततः उत्थितः। अस्य निस्पृह-वृत्तिं प्रेक्ष्य सर्वेऽपि विस्मय-स्मेराननाः संजाताः। समग्रपुरेऽद्भुता एषा कथा विस्तृता। विचित्रशक्तिवानयं राउलः। क्षणेन गमिताऽनेन नृपस्य तीव्रा वेदना। अधुना सर्व-विदित-माहात्म्यो जातोऽयम्।

एकदा सन्ध्याकाले एकाकी राउलो धनदत्तस्य गृहस्य अग्रतः आगम्य शनैर्वीणां वादयितुमारब्धः। दिनावसान-समये आकर्ण्य वीणास्वरं, प्रेक्ष्याग्रतः स्थितं राउलं धनदत्तस्य भार्या भयभीता जाता। वेपनशीला सा तत्कालं वहिरागता कथयितुं प्रवृत्ता—"राउल! कथं विकालवेलायामत्र समागता यूयम्? यद् युज्यते तच्छीघ्रं गृहीत्वा इतोऽन्यत्र व्रजितव्यम्। यतो भदन्ताः नृपगृहसम्मानिताः पूजिताः सन्ति, अहमेकाकिनी अवला स्त्री सम्प्रति। न भवतः स्थितिः शोभनत्वमञ्चति किञ्चिदपि। तस्माद् यदा अस्य वालकस्य

अस्स बालगस्स जणओ गिहम्मि समागच्छेज्जा तयाणि पुणरागतव्व, उइआ सेव्वा होहिइ राउल-जोइणो।"

णिअ-कज्जदक्खेण राउलेण गहिरीहोऊण[1] वुत्त—"बहिणि! णत्थि मे धम्मो एगागिणीए गिहम्मि आगमणस्स। किंतु किमवि भावि-अभद्द सकमाणेण परोवयारमईए मए एत्थागमण-साहस कय। हा! बहु असुहं!!"

सोऊण राउलस्साउल वयण वराई धणदत्त-गेहिणी सीअ-कप कंपिउ लग्गा। किं किं 'ति सणिअ जंपेमाणी समीवमागम्म तस्स उवमुहं णिअं कण्ण णिवेसिअ वइअरं णाउं अदिहिमंता[2] सवुत्ता।

णत्थि अविण्णाय तुब्भेहि जमत्थि णिवइ-तणू दाहज्जरपीलिआ। णिवेण हरिचदणट्ठमईव गवेसणा काराविआ। तहावि ण लद्ध एगमवि तस्स खण्ड। उअ[3], मए सा खई पूरिआ। णिवो अरोओ जाओ। तम्मि समयम्मि एगेण पिसुणेण णिवस्स पिसुणिअं[4]—"सामी! लद्धबहुत्तामरचदणो धणदत्तो सेट्ठी, तहवि लुद्धेण तेण ण दत्त णिवट्ठं पि चदणस्स खड एगमवि। केरिसो सत्थ-परायणो परमत्थविहूणो सो।" णिसम्म एव कोव-करालिओ जाओ णिवो। सभावयेमि अज्ज सुवे वा सव्व सगहिअ चदणं, अईअम्मि त विक्किणिअ जमज्जिअं धणं च णिवो हत्थगं काहिइ, दडरूवेण पुण किमहियाहिअ[5] जणिस्सइ 'त्ति विआरणिज्जं रहस्सं। हत! हत! मच्छरिणा पोरच्छेण सव्व कज्जमणट्ठं विणासिअं। इअ जणावेउमिह आगओम्हि अहयं। अहुणा

---

१ गभीरीभूय २ अधृतिमती ३ पश्य ४ सूचितम् ५ अधिकाहितम्।

जनको गृहे समागच्छेत् तदानीं पुनरागन्तव्यं उचिता सेवा भविष्यति राउलयोगिनः।"

निजकार्यदक्षेण राउलेन गभीरीभूयोक्तम्—"भगिनि! नास्ति मे धर्मः एकाकिन्याः गृहे आगमनस्य, किन्तु किमपि भावि-अभद्रं शङ्कमानेन परोपकारमत्या मयाऽत्रागमन-साहसं कृतम्। हा! वहु अशुभम्।"

श्रुत्वा राउलस्याकुलं वचनं वराकी धनदत्तस्य गृहिणी शीतकम्पं कम्पितुं लग्ना। किं किमिति शनैर्जल्पन्ती समीपमागम्य तस्योपमुखं निजं कर्णं निवेश्य व्यतिकरं ज्ञातुमधृतिमती संवृत्ता।

नास्ति अविज्ञातं 'युष्माभिर्यद् आसीद् नृपति-तनुर्दाघज्वर-पीडिता। नृपेण हरिचन्दनार्थमतीव गवेषणा कारापिता। तथापि न लब्धमेकमपि तस्य खण्डम्। पश्य, मया सा क्षतिः पूरिता। नृपः अरोगः जातः। तस्मिन् समये एकेन पिशुनेन नृपाय सूचितम्—"स्वामिन्! लब्ध-प्रभूतामरचन्दनो धनदत्तः श्रेष्ठी। तथापि लुब्धेन तेन न दत्तं नृपार्थमपि चन्दनस्य खण्डमेकमपि। कीदृशः स्वार्थपरायणः परमार्थ-विहीनः सः।" निशम्यैवं कोप-करालितो जातो नृपः। संभावयामि अद्य श्वो वा सर्वं संगृहीतं चन्दनम्, अतीते तद् विक्रीय यदर्जितं धनं च नृपो हस्तगं करिष्यति, दण्डरूपेण पुनः किमधिकाहितं जनिष्यति इति विचारणीयं रहस्यम्। हन्त! हन्त! मत्सरिणा पोरच्छेन (खलेन) सर्वं कार्यमनर्थं विनाशितम्। इति ज्ञापयितुमिह

किमणुचिट्ठिअव्वं 'ति वीमंसणिज्ज किंचि। इत्थं कहिऊण राउलो तओ पलाणो।

एमेव राउलेण बीहविआ[1] सा हित्था किंकायव्वमूढा गुम्मिअ-माणसा अच्चुच्छमायल्लं वेइउं पउत्ता—"हा! किमिणं जायं? कुविओ णरणाहो किमभद्दं काहिइ? हरे! पउरा हरिअदणरासी विज्जए अम्ह गिहम्मि। कह ण दिण्णं णिवट्ठं गवेसिअपि महालुद्धेण मह पइणा! सपइ किं होहिइ?" खणमवि घरम्मि ठाउमसक्का तक्खण धावेमाणी विसंठुल-वत्थाभरणा एगागिणी पइसमीव आवणम्मि आगआ। अयडमागयं विवण्णमुहिं भज्जं विलोइअ धुत्तो खेअ-विम्हय-मीसालिअं चिंतेउमाढत्तो—"कहमणक्कमिअ[2]-देहलिदेसा एसा पण्णविहीए[3] एक्कला समोइण्णा? णूणं किमवि अरिट्ठं दीसइ अण्णहा कहमेव भवइ?" एवं तक्कंतेण दइएण ससंभमं पुट्ठं—"दइए! कहमण्णा इह आगया? अत्थि अणेगे किंकरा भिच्चा तुह पुरओ, कहं ण ते पट्ठविआ अज्ज मे समीवं? कहं हिमाणी-हयं मुणालपत्तं पिव पडिभासइ ते मुह-पोम्मं? का अमंगला मगुला[4] पउत्ती ते कण्णातिहीभूआ?"

दीहरणीसासं मुंचंतीए ताए तुडिअ-सरं अइसणिअं पइं एगओ किच्चा कहिअं—"सिग्घं गिहं वच्चतु अज्जउत्ता, णच्चइ काइ विवइघणाघणघडा अम्ह सिरंमि। अत्थि परेहिमलक्खणिज्जं किमवि गुज्झं ण एत्थ पयडिउं सक्कं।

---

१ भीपिता २ अनतिक्रान्तदेहलिदेशा ३ पण्यवीथ्याम्—'बाजार' (देशभाषा) ४ मगुला (दे०) अनिष्टा इत्यर्थः।

आगतोऽस्मि अहम् । अधुना किमनुष्ठातव्यमिति विमर्शनीयं किञ्चित् । इत्थं कथयित्वा राउलस्ततः पलायितः ।

एवमेव राउलेन भीषिता सा त्रस्ता किंकर्तव्यमूढा संमूढमानसा अतुच्छं आयल्लं (चित्तोद्वेगं) वेदयितुं प्रवृत्ता –हा ! किमिदं जातम् ? कुपितो नरनाथः किमभद्रं करिष्यति ? हरे ! प्रचुरो हरिचन्दन-राशिः विद्यतेऽस्माकं गृहे । कथं न दत्तं नृपार्थं गवेषितमपि महालुब्धेन मम पत्या ? सम्प्रति किं भविष्यति ? क्षणमपि गृहे स्थातुमशक्ता तत्क्षणं धावन्ती विसंस्थुल-वस्त्राभरणा एकाकिनी पतिसमीपं आपणे आगताः । अकाण्डमागतां विवर्णमुखीं भार्यां विलोक्य धूर्तो धनदत्तः खेद-विस्मय-मिश्रं चिन्तयितुमारब्धः—"कथमनतिक्रान्तदेहलिदेशा एषा पण्यवीथ्यामेकाकिनी समवतीर्णा ? किमप्यरिष्टं दृश्यतेऽन्यथा कथमेवं भवति ?" एवं तर्कयता दयितेन ससंभ्रमं पृष्टम्—'दयिते ! कथं स्वयं इहागता ? सन्त्यनेके किंकराः भृत्यास्तव पुरतः, कथं न ते प्रस्थापिता अद्य मे समीपम् ? कथं हिमानी-हतं मृणालपत्रमिव प्रतिभासते ते मुख-पद्मम् ? का अमङ्गला मङ्गुला (अनिष्टा) प्रवृत्तिस्ते कर्णातिथीभूता ?"

दीर्घनिःश्वासं मुञ्चन्त्या तया त्रुटितस्वरमतिशनैः पतिमेकतः कृत्वा कथितम्—"शीघ्रं गृहं व्रजन्तु आर्यपुत्राः, नृत्यति काऽपि विपद्-घनाघनघटा अस्माकं शिरसि । अस्ति परैरलक्षणीयं किमपि गुह्यं नात्र

भिसमदिहि वहमाणो सेट्ठी तक्खणं तत्तो चलिओ जायाए सद्धि। णाणा-सकप्प-विगप्पपरो धावेतो गिहम्मि पविट्ठो। दढमउलीकयदाराए[1] ताए अतइअ[2]-वेज्ज राउल-साहिग्र जहातह सूइग्रं। पइदेव! कह णिव-मग्गिअ चदणं विज्ज-माण पि अप्पणोप्पणिज्जं[3] कह ण अप्पिअं? अइलोहो सव्वत्थ वज्जणिज्जो 'त्ति सच्चुत्ती।

णिसम्म घरणी-मुहेण राउल-पिसुणिअ अच्चत्थ-मुत्तत्थो जाओ लुद्धो। गोसग्गम्मि[4] जइ णिव-सतिआ दइयासिआ पुरिसा आगम्म गिहगवेसण काहिति, अचुच्छं चदणभडायारं च पेक्खिहिति, तया मे का दुद्दसा होहिइ? हद्धी! अच्चतगिद्धीए सव्व विद्धसिग्र! हा हा! मुहा वचिओ मए भद्दो वराओ जिणदत्तो! मुहा गहिग्र मुहा गमि-स्सइ मम सव्वस्सेण सम सव्वं सगहिअ चदण। अव्वो! अप्पा समओ, कि करणिज्ज मए अहुणा? अत दपइणो भयभीआ णिअ-करेहि सव्व महामोल्लं मलयज रत्तीए गिहस्स पिट्ठओ एगतठाणम्मि गरहिअ-वत्थुव्व परिट्ठविग्र। ग एगमवि खंड चडभय-खंडिअ-माणसेण रक्खिअ णिअ-गेहम्मि। पुव्व त विक्किऊण जमज्जिआ धणमुद्दा सावि भय-हिरयेण तत्थेव छड्डिआ तेण। चदणसगहठाणं गब्भ-गिह पि गोव्वरेण लित्त जहा तत्थ ण सिरिखड-सोरह मह-महइ सुएह पि। पुणो पच्छिमरयणीए णिगडिअ गिहदुवारो सदारो णिप्फिडिओ णयरत्तोवि उव्विग्गो धणदत्तो। हा!

---

1 दढमुकुलीकृतद्वारया २ अतृतीयवेद्यम् ३ अप्पणो-स्वयम्। अर्पणीयम् ४ गोसर्ग-प्रभाते (दे०)।

भिसमदिहि वहमाणो सेट्ठी तक्खणं तत्तो चलिओ जायाए सद्धि। णाणा-संकप्प-विगप्पपरो धावेंतो गिहम्मि पविट्ठो। दढमउलीकयदाराए[1] ताए अतइअ[2]-वेज्ज राउल-साहिअ जहातह सूइअं। पइदेव! कह णिव-मग्गिअ चंदण विज्ज-माण पि अप्पणो[3]णिज्ज कहं ण अप्पिअं? अइलोहो सव्वत्थ वज्जणिज्जो 'त्ति सच्चुत्तो।

णिसम्म घरणी-मुहेण राउल-पिसुणिअ अच्चत्थ-मुत्तत्थो जाओ लुद्धो। गोसग्गम्मि[4] जइ णिव-संतिआ दडवासिआ पुरिसा आगम्म गिहगवेसण काहिंति, अचुच्छं चंदणभंडायारं च पेक्खिहिंति, तया मे का दुद्दसा होहिइ? हद्धी! अच्चतगिद्धीए सव्वं विद्धसिअं! हा हा! मुहा वंचिओ मए भद्दो वराओ जिणदत्तो! मुहा गहिअं मुहा गमि-स्सइ मम सव्वस्सेण समं सव्वं संगहिअ चंदण। अव्वो! अण्णो समओ, किं करणिज्ज मए अहुणा? अते दंपइणो भयभीआ णिअ-करेहिं सव्व महामोल्लं मलयजं रत्तीए गिहस्स पिट्ठओ एगतठाणम्मि गरहिअ-वत्थुव्व परिट्ठविअं। ण एगमवि खंड चउभय-खंडिअ-माणसेण रक्खिअं णिअ-गेहम्मि। पुव्वं तं विक्किऊण जमज्जिआ धणमुद्दा सावि भय-हिरयेण तत्थेव छड्डिआ तेण। चंदणसंगहट्ठाणं गब्भ-गिहं पि गोव्वरेण लित्तं जहा तत्थ ण सिरिखंड-सोरहं मह-महइ सुएहं पि। पुणो पच्छिमरयणीए णिगडिअ गिहदुवारो सदारो णिप्फिडिओ णयरत्तोवि उव्विग्गो धणदत्तो। हा!

---

१ दृढमुकुलीकृतद्वारया २ अतृतीयवेश्म् ३ अप्पणो-स्वयम्। अर्पणीयम् ४ गोसर्गे-प्रभाते (दे०)।

प्रकटयितुं शक्यम्। भृशं अधृतिं वहन् श्रेष्ठी तत्क्षणं ततश्चलितो जायया सार्धम्। नाना-संकल्प-विकल्पपरो धावन् गृहे प्रविष्टः। दृढमुकुलीकृत-द्वारया तया अतृतीयवेद्यं राउल-कथितं यथातथं सूचितम्। पतिदेव ! कथं नृपमार्गितं तं चन्दनं विद्यमानमपि स्वयं अर्पणीयं कथं नार्पितम् ? 'अतिलोभः सर्वत्र वर्जनीयः' इति सत्योक्तिः।

निशम्य गृहिणी-मुखेन राउल-पिशुनितं अत्यर्थमुत्रस्तो जातो लुब्धः। गोसर्गे (प्रभाते) यदि नृपसत्काः दण्डपाशिकाः पुरुषाः आगम्य गृह-गवेषणां करिष्यन्ति, अतुच्छं चन्दन-भाण्डागारं च प्रेक्षिष्यन्ते, तदा मे का दुर्दशा भविष्यति ? हद्धी ! अत्यन्त-गृद्धया सर्वं विध्वंसितम्। हा। हा ! मुधा वञ्चितो मया भद्रो वराको जिनदत्तः। मुधा गृहीतं मुधा गमिष्यति मम सर्वस्वेन समं सर्वं संगृहीतं चन्दनम्। अव्वो ! अल्पः समयः किं करणीयं मयाऽधुना ? अन्ते भीतौ दम्पती निजकरैः सर्वं महामूल्यं मलयजं रात्रौ गृहस्य पृष्टतः एकान्त-स्थाने गर्हितवस्तुवत् परिष्ठापितम्। नैकमपि खण्डं चण्डभय-खण्डित-मानसेन रक्षितं निजगृहे। पूर्वं तद्विक्रीय यदर्जिता धनमुद्रा साऽपि भयग्रस्तेन तत्रैव क्षिप्ता तेन। चन्दनसंग्रहस्थानं गर्भगृहमपि गोमयेन लिप्तं, यथा तत्र न श्रीखण्ड-सौरभं प्रसरति सूक्ष्ममपि। पुनः पश्चिम-रजन्यां निगडित-गृहद्वारः सदारो निस्फिटितो (निर्गतो) नगरादपि

विचित्ता किर कवडकलाए परिणई ! तम्हा 'माया भयं' ति सच्चमुग्घुट्ठं णीइविउरेहि ।

नत्तविरामे[1] पच्छण्णं संपत्तो तत्थ राउलो। परित्तो भम-माणो पिट्ठओ परिट्ठविअं चंदणरासिं विलोइऊण हट्ठो तुट्ठो जाओ। अहो ! फलवई जाया मे सचालिआ णिअडी[2]। कंटगो कंटगेण णीहरिओ। पावेण पाविअं णिअं उइयं पडिफलं। धणमुद्दा तक्खण संगोविआ तेण समयण्णुणा[3]। पच्छा णिवसमीवं अवसरं पप्प गओ। सम्माणिओ लद्धा-सणो किं जुज्जइ 'त्ति जया णिवेण सागहं पुट्ठो तया णेण कहिअं—"णरिंद ! इच्छेमि ह इओ पच्चावलिउं। ण सकुले पुरम्मि मुणीण मणो लग्गइ। भावावेसेण गिहिणो मुणिजणे वि आगरिसंति गिहपवंचेसु। संसग्गोच्चाओ परमावस्सओ मुणिंद-चंदाण। जहा गिहिणो मुणिसंसग्गेण लद्धवेरग्गा जायंते, तहेव मुणिणो अईव गिहि-संथवेण सिढिल-संजमा हवंति। तम्हा विवित्त-गहण-वणम्मि मुणि-णिवासारिहो मढो सठाविअव्वो 'त्ति मए णिच्छिअं। दाणसीलेहिं णायरेहिं तज्जुग्गाणि विसिट्ठ-कट्ठाणि समप्पि-आणि, ताणि रासीभूयाणि चिट्ठंति। तो सगडाणि जुप्पंति ताइं णेउं जहाठाणं। अण्णे णायरा सगडाइं दाउमईव अग्गहं कुणंति, परंतु वायावद्धेण मए णिवो चिअ जाइअव्वो 'त्ति चिंतिअ एत्थागओम्हि।

णिग्गमणतप्परं जाणिऊण राउलं भूवई खिण्णो जाओ। मम परमोवयारी वच्चइ 'त्ति ण रुइअं, साहिअं च—

१ रात्रिविरामे २ निकृतिः ३ समयज्ञेन।

उद्विग्नो धनदत्तः। हा ! विचित्रा किल कपट-कलायाः परिणतिः ! तस्माद् 'माया भयम्' इति सत्यमुद्घुष्टं नीतिविदुरैः।

नक्तविरामे प्रच्छन्नं सम्प्राप्तस्तत्र राउलः। परितो भ्रमन् पृष्टतः परिष्ठापितं चन्दनराशिं विलोक्य हृष्टस्तुष्टो जातः। अहो ! फलवती जाता मे संचालिता निकृतिः। कण्टकः कण्टकेन निःसृतः। पापेन प्राप्तं निजमुचितं प्रतिफलम् ! धनमुद्रा तत्क्षणं संगोपिता तेन समयज्ञेन। पश्चात् नृपसमीपमवसरं प्राप्य गतः। सम्मानितो लब्धासनः 'किं युज्यते' इति यदा नृपेण साग्रहं पृष्टस्तदा तेन कथितम्—'नरेन्द्र ! इच्छाम्यहं इतः प्रत्यावलितुम्। न सङ्कुले पुरे मुनीनां मनो लगति। भावावेशेन गृहिणो मुनिजनानपि आकर्षन्ति गृह-प्रपञ्चेषु। संसर्ग-त्यागः परमावश्यकः मुनीन्द्रचन्द्राणाम्। यथा गृहिणो मुनिसंसर्गेण लब्ध-वैराग्या जायन्ते, तथैव मुनयोऽतीव गृहि-संस्तवेन शिथिल-संयमाः भवन्ति। तस्माद् विविक्तगहनवने मुनिनिर्वासार्हो मठः संस्थापितव्यः इति मया निश्चितम्। दानशीलैर्नागरैस्तद्योग्यानि विशिष्ट-काष्टानि समर्पितानि, तानि राशीभूतानि तिष्ठन्ति। तस्माद् शकटानि युज्यन्ते तानि नेतुं यथास्थानम्। अन्ये नागराः शकटानि दातुमतीवाग्रहं कुर्वन्ति, परन्तु वाचा-बद्धेन मया नृपः एव याचितव्यः इति चिन्तयित्वा अत्रागतोऽस्मि।"

निर्गमन-तत्परं ज्ञात्वा राउलं भूपतिः खिन्नो जातः। मम पर-मोपकारी व्रजतीति न रुचितं, कथितं च—"योगीश्वर ! कैतादृशी

जोईसर ! का एआरिसी गमण-तुरा ? थोक्काणि दिणाणि वइक्कंताणि इहागयस्स भे । णिस्संगमाणसाण का संगदोस-सका ? पुणेति अप्पाणं तुहसंगमेण अम्हारिसा पावा मंदा वि । तम्हा जगम[1]-तूहाणि मुणिणो । का मग्गणा सगडाणं, जेत्तिलाइ जुज्जति तेत्तिलाइ गिण्हतु किर । किमेत्थदाण-गारव ? अण्णं किमवि गहिअव्वं महापसाएण भदतेण, परतु ण संपइअ गमण भविस्सइ ।

इच्छापहाणा मुणिणो हु ण अग्गहप्पहाणा । पवणस्स कि गमणमागमण च । अम्हकेरोवएस-पडिवालणमेव अम्ह दसण । जहाकाल पच्छावि आगमण ण कि सभावणिज्जं ? एव कहिअ तक्खणं राउलो णिव आसीसाए तोसेमाणो[2] तओ चलिओ । णिवेण अणेगाणि जच्च[3]-वसह-जुत्ताणि सगडाणि उवईकयाणि[4] । णिवसमीवत्तो गहिऊण ताणि चदणरासि-ससीममागओ । भरिअ हरिअदणं तेसु । पुराओ किचि दूर भरिअ-सगडाणं सेढी ठाविआ पुरिमताल-पुर-पहम्मि । एव सव्व कज्ज जहट्ठिअ काऊण जिणदत्त-भाणुमई-समीवमागम्म भणिअ—"गम्मइ[5] मए अज्ज पुरिमतालं भो ! बहुदिणाणि अईआणि एत्थ । का समीहा भवयाण णणु ? पुट्ठ मग्ग-पत्थिएण इव राउलेण ।

"जम्मि वासरम्मि आयण्णिआ तुह मुहेण पुत्तस्स मंगलपउत्ती (तओ पभिइ) जागरिआ अक्खमा उक्कंठा पुत्त-दसणट्ठं । ण रइ लब्भेमो खणमवि कत्थइ । पडिपलं

१ जङ्गमतीर्थानि २ तोषयन् ३ आत्यवृषभयुक्तानि ४ उपदीकृतानि ५ गम्यते ।

गमन-त्वरा ? स्तोकानि दिनानि व्यतिक्रान्तानि इहागतस्य भवतः। निस्संगमानसानां का सङ्ग-दोष-शङ्का ? पुनन्त्यात्मानं तव संगमेन अस्मादृशाः पापाः मन्दा अपि। तस्माद् जङ्गम-तीर्थानि मुनयः। का मार्गणा शकटानाम्, यावन्ति युज्यन्ते तावन्ति गृह्णन्तु किल। किमत्रदान-गौरवम् ? अन्यत् किमपि गृहीतव्यं महाप्रसादेन भदन्तेन, परन्तु न साम्प्रतिकं गमनं भविष्यति।

इच्छा-प्रधानाः मुनयो हु (निश्चये) नाग्रहप्रधानाः। पवनस्य किं गमनमागमनं च। अस्मदीयोपदेश-प्रतिपालनमेव अस्माकं दर्शनम्। यथाकालं पश्चादपि आगमनं किं न संभावनीयम् ? एवं कथयित्वा तत्क्षणं राउलो नृपमाशिषा तोषयन् ततश्चलितः। नृपेणानेकानि शकटानि जात्य-वृषभ-युक्तानि उपदीकृतानि। नृप-समीपाद् गृहीत्वा तानि चन्दनराशि-ससीममागतः। भरितं हरिचन्दनं तेषु। पुरात् किञ्चिद् दूरं भरित-शकटानां श्रेणिः स्थापिता पुरिमतालपुर-पथे। एवं सर्वं कार्यं यथास्थितं कृत्वा जिनदत्त-भानुमती-समीपमागम्य भणितम्—"गम्यते मयाद्य पुरिमतालं भोः। बहुदिनानि अतीतानि अत्र। का समीहा भवतां ननु ?" पृष्टं मार्गप्रस्थितेन इव राउलेन।

यस्मिन् वासरे आकर्णिता तव मुखेन पुत्रस्य मंगल-प्रवृत्तिस्ततः प्रभृति जागरिता अक्षमा उत्कण्ठा पुत्र-दर्शनार्थम्। न रतिं लभावहे क्षणमपि कुत्रापि। प्रतिपलं प्रतीक्षावहे त्वां सङ्गोपितभण्डोपकरणौ

विरमालेमो तुम, संगोविअ-भडोवगरणा विहिअ-करणिज्ज-कज्जा वय सह्गमणट्ठं'' झडिति उत्तरिअं जिणदत्तेण ।

"तुरीअउ ता, कस्स पडिक्खा विज्जइ विरत्तचित्ताणं ? गच्छेमि इआणिमेवाह तु ।" अग्गओ पयण्णासं कुणतेण इव राउलेण उईरिअं ।

भाणुमईए अणुगमिज्जमाणमग्गो खधारोविअ-णिअ-भारो सेट्ठी फुरताहरपुड-फुडणमुक्कारो[1] अणुपय राउलस्स गतुमाढत्तो । तुरतमागया एए सगडसेढीए समीवं । सावि संचालिआ राउलेण ।

"कहं मुहा भारो वहिज्जइ परिणयवएण भवया ? सगडेसु का गणणा अस्स ? किवाए ठाविअव्वो णीसंकं" चोइअ राउलेण अणाउल ।

'णत्थि दुव्वहो भारो राउल ! सुहं तं वहामि अहयं' कहिअ रिउमइणा सेट्ठिणा ।

तहवि सइ सजोगम्मि भारणिव्वहण ण सोहणं 'ति लवंतेण राउलेण सेट्ठिखंधाओ णिअ-हत्थेण भारपोट्टलिआ उत्तारिआ, सुरक्खिअ रक्खिआ य सगडमज्झयारम्मि । भाणुमई-हत्थगय किमवि लहु वत्थु तहेव ठविअ सग्गहं । उल्लघिए पुण थेवमेत्ते पहम्मि पुणो राउलेण उल्लविअं— "अत्थि एगमि सगडम्मि रित्त ठाण, कहं ण अच्छिज्जइ[2] तुब्भेहि तत्थ ? ण थेरेहि पायगमण सुसक्क 'ति किवाए आसिआ कायव्वा ।"

---

१ स्फुरदधरपुटस्फुटनमस्कारः २ आस्यते ।

विहितकरणीय-कार्यौं आवां सहगमनार्थम्" झटिति उत्तरितं जिनदत्तेन ।

"त्वर्यतां ततः कस्य प्रतीक्षा विद्यते विरक्त-चित्तानाम् । गच्छामीदानीमेवाहं तु"—अग्रतः पदन्यासं कुर्वतेव राउलेन उदीरितम् ।

भानुमत्याऽनुगम्यमानमार्गः स्कन्धारोपितनिजभारः श्रेष्ठी स्फुरदधरपुट-स्फुट-नमस्कारोऽनुपदं राउलस्य गन्तुमारब्धः । त्वरितमागता एते शकटश्रेण्याःसमीपम् । साऽपि सञ्चालिता राउलेन ।

"कथं मुधा भारः उह्यते परिणतवयसा भवता ? शकटेषु का गणनाऽस्य ? कृपया स्थापयितव्यो निस्संकम्" चोदितं राउलेनानाकुलम् ।

''नास्ति दुर्वहो भारो राउल ! सुखं तं वहामि अहम्'' कथितमृजुमतिना श्रेष्ठिना ।

तथापि सति संयोगे भारनिर्वहणं न शोभनम् इति लपता राउलेन श्रेष्ठि-स्कन्धाद् निजहस्तेन भारपोट्टलिका अवतारिता, सुरक्षितं रक्षिता च शकटमध्ये । भानुमती-हस्तगतं किमपि लघुवस्तु तथैव स्थापितं साग्रहम् । उल्लंङ्घिते पुनः स्तोकमात्रे पथि पुनः राउलेनोल्लपितम्—"अस्ति एकस्मिन् शकटे रिक्तं स्थानम्, कथं नास्यते युष्माभिस्तत्र ? न स्थविरैः पादगमनं सुशक्यमिति कृपया आसिका कर्त्तव्या ।"

"व्रीडिता भवामो वयं तव सेवया योगीन्द्र ! अस्ति अस्मादृक्षाणां कर्तव्यं साधूनां सेवायाः तत्र प्रत्युत गृह्यते तव सेवाऽस्माभिः। न योग्यमिदम्, तस्मात् न स्थास्यामः शकटे वयम्" कथितं साभारं श्रेष्ठिना ।

'प्रथमं किल स्थविराणां वैयावृत्यं कर्त्तव्यं, नास्मादृशानां बालकानाम् । नूनमासितव्यं युष्माभिः' एवं मा ! मा ! कथयन्तावपि जम्पती सानुरोधमारोहितौ सच्छाये शकटान्तराले राउलेन ।

कीदृशो महानुभावोऽयं निष्कारणमुपकारी राउलः ! कथमुपचरति गुरुजनान् इव अस्मान् ! अथवा प्रकृतिसिद्धमिदं मनस्विनाम् । अहो ! कथं पिपासाहारकं नीरम् ? कथं क्षुधाशामकं वा कूरम् ? कथं प्रकाशकरो भानुः ? कथं शीतलो वा चन्द्रः ?

अस्तु, एताभ्यां बहु अनुरुद्धोऽपि न स्वयमारोहति कदापि शकटम् । भिक्षाचर्यया भक्तमानीय स्वहस्तेन रन्ध्वा, इमौ भोजयित्वा, पश्चात् स्वयमेकवारं भोजनं करोति । इत्थं बहुसुखेन एतौ नयन् अविच्छिन्नं पन्थानं कल्पयमानोऽभिपुरिमतालं सत्वरं व्रजति राउलः । अहो कीदृशं पौरुषम् !

इति श्री चन्दनमुनि-विरचितायां निजगृहगमन-राउल-
प्रस्थापन-जिनदत्तमेलन-चन्दनग्रहण-प्रत्यावर्त-
नादिवर्णनैः शोभितायां रत्नपाल-कथायां
षष्ठः उच्छ्वासः समाप्तः ।

॥ ६ ॥

"विलिआ भवेमु अम्हे तुह सेवाए ओगिद ! अत्थि अम्हारिच्छाण कत्तव्वं साहूण सेवाए, तत्थ पच्चुल्ल घेप्पइ तुह सेवा अम्हेहि। ण जुग्गमिण, तो ण चिट्ठिहामो सगडम्मि अम्हे" साहिअं साभार सेट्ठिणा।

'पढुम किर थेराण वेयावच्च कायव्व, ण अम्हारिसाण बालगाण। णूणमासिअव्व तुब्भेहि' एव 'मा मा' कहेतावि दंपइणो साणुरोहमारोहाविआ सच्छायम्मि सगडतरालम्मि राउलेण।

केरिसो महाणुभावोऽय णिक्कारणमुवयारी राउलो ! कहमुवचरइ गुरुजणे इव णे ! अहवा पयडि-सिद्धमिणं मणसीण। अहो ! कहं पिवासाहारग णीर ? कह छुहा-सामग वा कूर ? कहं पयासयरो भाणू ? कहं सीअलो वा चदो ?

अत्थु, इमेहि वहु अणुरुद्धो वि ण सयमारुहए कयावि सगडं। भिक्खायरिआए भत्तमाणेऊण सहत्थेण रंधेऊण अमुणो भोएऊण पच्छा सय एगहुत्त भोअण कुणइ। इत्थ बहुसुहेण एए णेतो अविच्छिण्ण पह कप्पतो अहिपुरिम-ताल सत्तर वच्चइ राउलो। अहो केरिस पोरिस !

इअ सिरिचदणमुणि-विरइआए णिअगिहगमण-राउल-
पट्ठवण-जिणदत्तमेलण-चदणग्गहण-पच्चाव
लणाइवण्णणेहि सोहिआए
रयणवालकहाए छट्ठो
ऊसासो समत्तो
॥ ६ ॥

"व्रीडिता भवामो वयं तव सेवया योगीन्द्र ! अस्ति अस्मादृक्षाणां कर्तव्यं साधूनां सेवायाः तत्र प्रत्युत गृह्यते तव सेवाऽस्माभिः । न योग्यमिदम्, तस्मात् न स्थास्यामः शकटे वयम्" कथितं साभारं श्रेष्ठिना ।

'प्रथमं किल स्थविराणां वैयावृत्यं कर्त्तव्यं, नास्मादृशानां बालकानाम् । नूनमासितव्यं युष्माभिः' एवं मा ! मा ! कथयन्तावपि जम्पती सानुरोधमारोहितौ सच्छाये शकटान्तराले राउलेन ।

कीदृशो महानुभावोऽयं निष्कारणमुपकारी राउलः ! कथमुपचरति गुरुजनान् इव अस्मान् ! अथवा प्रकृतिसिद्धमिदं मनस्विनाम् । अहो ! कथं पिपासाहारकं नीरम् ? कथं क्षुधाशामकं वा क्रूरम् ? कथं प्रकाशकरो भानुः ? कथं शीतलो वा चन्द्रः ?

अस्तु, एताभ्यां बहु अनुरुद्धोऽपि न स्वयमारोहति कदापि शकटम् । भिक्षाचर्यया भक्तमानीय स्वहस्तेन रन्ध्वा, इमौ भोजयित्वा, पश्चात् स्वयमेकवारं भोजनं करोति । इत्थं बहुसुखेन एतौ नयन् अविच्छिन्नं पन्थानं कल्पयमानोऽभिपुरिमतालं सत्वरं व्रजति राउलः । अहो कीदृशं पौरुषम् !

इति श्री चन्दनमुनि-विरचितायां निजगृहगमन-राउल-
प्रस्थापन-जिनदत्तमेलन-चन्दनग्रहण-प्रत्यावर्त-
नादिवर्णनैः शोभितायां रत्नपाल-कथायां
षष्ठः उच्छ्वासः समाप्तः ।

॥ ६ ॥

७

सत्तमो ऊसासो



वईअप्पाया छम्मासा। ण कहमागओ अज्जप्पभिइ राउलो ? कि ण मिलिआ मे पिअरा तस्स ? वच्चंतो सो कि पहभट्ठो जाओ ? कम्मि पुरम्मि अच्चंत-जणभत्ती-मोहिओ वा किं तत्थेव ठिओ ? पाइअ-सोहा-मंडिए कम्मि वि गिरि—कदरम्मि झाणत्थो वा भूओ ? हा ! चुक्किअ मए जाणगेणावि, कहमजाणगो राउलो पट्ठविओ देसंतरम्मि ? णो, णो, अत्थि सो अईव कज्ज-कुसलो महप्पा इगिआगारसपण्णो समयण्णू उज्जमसीलो पवड्ढमाणुच्छाहो सच्चसधो अ जोई। ता वच्चेमि दक्खिणापहं पडिवालेमि आगच्छमाणे पहिए। सभावेमि काइ राउल-पउत्ती पत्ता हवेज्जा। एवं विचितंतो रयणवालो उच्छुअयाए गच्छइ पच्चह दाहिण दिसिभाय। दूरेण आगतुअ-जणे पलोएइ, विरमालेइ, णिरिक्खइ य तस्स मिलणासाए। तद्दिसिभायत्तो

७

सप्तमः उच्छ्वासः



व्यतीत-प्रायाः षण्मासाः। न कथमागतोऽद्यप्रभृति राउलः? किं न मिलितौ मे पितरौ तस्मै? व्रजन् स किं पथभ्रष्टो जातः? कस्मिन् पुरेऽत्यन्त-जनभक्ति-मोहितो वा किं तत्रैव स्थितः? प्राकृत-शोभा-मण्डिते कस्मिन्नपि गिरिकन्दरे ध्यानस्थो वा भूतः? हा! स्खलितं मया ज्ञायकेनाऽपि, कथमज्ञायको राउलः प्रस्थापितो देशान्तरे? नो, नो, अस्ति सोऽतीव कार्य-कुशलो महात्मा इङ्गिताकार-सम्पन्नः समयज्ञः उद्यमशीलः प्रवर्धमानोत्साहः सत्यसन्धश्च योगी। तस्मात् व्रजामि दक्षिणापथं प्रतिपालयामि आगच्छतः पथिकान्। संभावयामि काऽपि राउल-प्रवृत्तिः प्राप्ता भवेत्! एवं विचिन्तयन् रत्नपालः उत्सुकतया गच्छति प्रत्यहं दक्षिण-दिग्भागम्। दूरेण आगन्तुक-जनान् प्रलोकते, प्रतीक्षते, निरीक्षते च तस्य मिलनाऽऽशया। तद्दिग्भागात् आगतान् आध्विकान् रुन्ध्वा-रुन्ध्वा राउलस्य

आगए अद्धाणिए[1] रोहिअ-रोहिअ[2] राउलस्स वेसभूस, आगिइ, वयण-माहुरिअ च वण्णिअ एआरिसो कोई बाल-जोई केणावि दिट्ठो पलोइओ 'त्ति पडिपुच्छेइ, तक्केइ च सउक्कठ। परं ण तारिसो दिट्ठो, मिलिओ, संगओ'त्ति जणावेंति केइ। अंते हयासो भविअ पुण गिहमागच्छेइ, सकप्पविगप्पेण अहोरत्तं गमेइ, ण खणपि रइ लब्भइ।

एगया सुमिण-सकेएण पुणरवि पच्चूस-समयम्मि गओ रयणवालो तस्स पहं णिभालेउ। गिद्ध-दिट्ठीए पहं पलोए-माणस्स राउल-सरिच्छो कोइ आगच्छतो णयणायण गओ। अहह ! काइ अणणुहूअ-पुव्वा सुहाणुहूई हिअएण अणुहूआ। पुणो पुणो मुण्ह-दिट्ठीए पेच्छमाणेण राउलोऽय 'ति विण्णाय णेण। सो च्चिअ सो च्चिअ कहेंतो तद्दिसाए तक्खण धाविओ। अणुहूअ विरह-विअण विम्हरेंतो अहो 'सागयं-सागयं' आमेडतो सम्मुहीणो जाओ। अंते दोण्णि वि परोप्परं बाहुणिप्पीडं मिलिआ, अण्णुण्ण-बाहजलेण ण्हाया, कुसल-समायारेहि य अवगया जाया। कत्थ मे पडिच्छणिज्जा जणणी-जणग 'त्ति पुच्छा-परम्मि रयणवालम्मि राउलेण साहिअं—"समीवम्मि णयरुज्जाणम्मि चिट्ठंति तुह दंसण-रणरणाइया ते। सपइ सपरिअरं गतव्वं तुमए तत्थ सयराहं।" इअ आयण्णिअ अइउच्छुओ जाओ रयणवालो। तत्तो तक्खण णयरमागओ। पुरम्मि वित्थरिआ जिणदत्ता-गमणपउत्ती। सव्वेवि कुडुंविणो, मित्ता, णयरप्पमुहा, समा-णवयाय रयणवालेण सद्धि जिणदत्ताहिमुहं गंतुं समुच्छुआ

---

१ आध्विकाद् २ रुध्वा-रुध्वा।

वेषभूषामाकृतिं, वचनमाधुर्यं च वर्णयित्वा 'एतादृशः कोऽपि बालयोगी केनाऽपि दृष्टः, प्रलोकितः' इति प्रतिपृच्छति, तर्कयति च सोत्कण्ठम्, परं तादृशो दृष्टो, मिलितः, संगतः इति न ज्ञापयन्ति केऽपि । अन्ते हताशो भूत्वा पुनर्गृहमागच्छति, संकल्प-विकल्पेन अहोरात्रं गमयति, न क्षणमपि रतिं लभते ।

एकदा स्वप्न-सङ्केतेन पुनरपि प्रत्यूष-समये गतो रत्नपाल-स्तस्य पथं निभालयितुम् । गृध्र-दृष्ट्या प्रलोकमानस्य राउल-सदृक्षः कोऽपि आगच्छन् नयनायनं गतः । अहह ! काप्यननुभूतपूर्वा सुखानु-भूतिर्हृदयेनानुभूता । पुनः पुनः सूक्ष्मदृष्ट्या प्रेक्षमाणेन राउलो ऽयमिति विज्ञातं तेन । स एव स एव कथयन् तद् दिशि तत्क्षणं धावितः । अनुभूतां विरह-वेदनां विस्मरन् अहो ! 'स्वागतं-स्वागतं' आम्रेडयन् सम्मुखीनो जातः । अन्ते द्वावपि परस्परं बाहुनिष्पीडं मिलितौ, अन्योन्य-बाष्पजलेन स्नातौ, कुशलसमाचारैश्च अवगतौ जातौ । 'कुत्र मे प्रतीक्षणीयौ जननीजनकौ' इति पृच्छापरे रत्नपाले राउलेन कथितम्—"समीपे नगरोद्याने तिष्ठतः तवदर्शन-रणरणा-यितौ तौ । सम्प्रति सपरिकरं गन्तव्यं त्वया तत्र शीघ्रम् ।" इति आकर्ण्य अत्युत्सुको जातो रत्नपालः । ततस्तत्क्षणं नगरमागतः । पुरे विस्तृता जिनदत्तागमन-प्रवृत्तिः । सर्वेऽपि कुटुम्बिनो, मित्राणि, नगर-प्रमुखाः, समानवयसश्च रत्नपालेन सार्धं जिनदत्ताभिमुखं गन्तुं

जाया। राउलेण पुव्वमेव तत्थ गतूण भाणुमईए जिणदत्तस्स य दिप्पिरा वेस-भूसा कया। नाणालकारेहिं मंडिआ समुण्णयासणम्मि णिवेसिआ एए। सव्वावि उब्भडा ववत्था जाया।

इओ सपरिवारं महया विड्डिरेण[1] णिग्गओ रयणवालो जणणी-जणय-दंसणट्ठं। जयजय-रवेण सद्धि सपत्तो तत्थ सो। चक्खुपहे पिअराणं कयजली ऊसलिअ-रोमकूवो समूपाय तेसि चरणकमलेसु णिवडिओ। आणदाइरेगेण पिअरेहि पिअपुत्तो बाहाहि पगिज्झ उट्ठाविओ, उरसा गाढमालिगिओ, मत्थयम्मि ओसिघिओ[3], सुहपण्हेहि ससिणेहं च पुच्छिओ। भाणुमई तु कमवि अवत्तव्व ठिइं पत्ता। णयणेहि पेमसुधारं वाहेंती अणिमिसं पुत्त पलोअंती अज्जाहं पुत्तवती, सोहग्गवंती, अणण्णपुण्णा, धण्णा य सवुत्त 'त्ति अणुहवीय। समिलिआ सव्वेवि कुडुंबिणो सुहदुहकहाणय कुणेमाणा। सुण्ण तुह ठाण अणहूअं 'ति णयरमहंतएहिं सेट्ठि सम्माणमाणेहिं साहिअ। बायाणमगोअरो तत्थ आणदो वट्टिओ। अते सव्वेहिं सद्धि जिणदत्तसेट्ठिणो आडबरिल्ला णयरप्पवेस-जत्ता णिग्गया। अणच्छाइअ-जाणम्मि पुत्त अग्गओ णिवेसिअ दपइणो णाणावाइत्तेहिं, जय-जय-सद्देहिं, परसहस्सणायरेहिं च सम पुरं पविट्ठा। साणदमागयया णिअ गिहं सोलस-वासाणतरं पुणो एए। अभूअपुव्वो सेट्ठि-हम्मम्मि जणाण मेलो लग्गो। उप्पेहड[4]

---

१ विड्डिरेण-आडम्बरेण २ माश्रुपातम् ३ ओसिघिओ (दे०) घ्रात इत्यर्थ. ४ उप्पेहड (४) साडम्बरम्।

समुत्सुकाः जाताः। राउलेन पूर्वमेव तत्र गत्वा भानुमत्या जिनदत्तस्य दीप्रा वेशभूषा कृता। नानालङ्कारैर्मण्डितौ समुन्नतासने निवेशितौ एतौ। सर्वाऽपि उद्भटा व्यवस्था जाता।

इतः सपरिवारं महता विड्डरेण (आडम्बरेण) निर्गतो रत्नपालो जननी-जनक-दर्शनार्थम्। जयजयरवेण सार्धं सम्प्राप्तस्तत्र सः। चक्षुष्पथे पित्रोः कृताञ्जलिरुल्लसित-रोमकूपः साश्रुपातं तयोः चरणेषु निपतितः। आनन्दातिरेकेण पितृभ्यां प्रियपुत्रो बाहुभिः प्रगृह्य उत्थापितः उरसा गाढमालिङ्गितः, मस्तके ओसिंघिओ (घ्रातः) सुखप्रश्नैः सस्नेहं च पृष्टः। भानुमती तु कामपि अवक्तव्यां स्थितिं प्राप्ता। नयनाभ्यां प्रेमाश्रुधारां वाहयन्ती अनिमिषं पुत्रं प्रलोकमाना अद्याहं पुत्रवती, सौभाग्यवती, अनन्य-पुण्या, धन्या च संवृत्ता इति अन्वभवत्। सम्मिलिताः सर्वेऽपि कुटुम्बिनः सुख-दुःख-कथानकं कुर्वन्तः। शून्यं तव स्थानमनुभूतमिति नगरमहत्कैः श्रेष्ठिनं सम्मानयद्भिः कथितम्। वाचामगोचरस्तत्रानन्दो वर्तितः। अन्ते सर्वैः सार्धं जिनदत्त श्रेष्ठिनः आडम्बरवती नगर-प्रवेश-यात्रा निर्गता। अनाच्छादिते याने पुत्रमग्रतो निवेश्य दम्पती नानावादित्रैः जयजयशब्दैः, परःसहस्रनागरैश्च समं पुरं प्रविष्टौ। सानन्दमागतौ निजगृहं षोडशवर्षानन्तरं पुनरेतौ। अभूतपूर्वः श्रेष्ठिहर्म्ये जनानां मेलो लग्नः।

पीइ-भोयणं जायमेएसि । पुव्व-परिचिआ कम्मगरा भिच्चा चेडीओ वाणोत्तरा य सयमागम्म मिलिआ । सव्वं कज्जं सुट्ठिअ जाय । अधणा धणं, गयक्खा लोअण, बुभुक्खिओ भोअणं च पप्प जहासुहमणुहवइ, तहा एए पुत्त पप्प निब्भत-सुहिआ जाया । खणमवि ण पुत्तं परोक्खं काउमिच्छंति । सयण-भोअण-पाणाइसु जुवाणं पि पुत्त मिलिवायइ[1] माया भाणुमई ।

इओ हरिचंदणं विक्किणिअ, अमिअं धणं मुत्ताहलाइअं च गहिअ राउलो तत्थ समागओ । सेट्ठिणो समक्खं रयणवालमहिमुहं कुणमाणेण तेण वुत्त—"सेट्ठिणंदण ! गिण्हसु, तुह पिउपाय-विढविअं अमिअं धणं" एवं कहिअ अग्गओ रक्खिअं वित्थिण्णं दविणजाय । तं विलोइअ सच्छरिज्जं सहास जिणदत्तेण भणिअं—"राउल ! कुओ आणिआ इमिआ धणरासी ? कट्ठहारग-कम्मकारगेण मए कहमेत्तिल्लं धणं संचिणिउ सक्किज्जइ । ण मोरउल्ला मे गारव-गाहा गेआ । ण आणिअं विसिट्ठं किमवि पएसंतराओ ।"

हसमाणेण राउलेण पुणो वज्जरिअ सगज्ज—"अत्थि सव्व भवईयं, णत्थि अण्णस्स किमवि । ण मए जोइणा मुहा पलावो कायव्वो । सिट्ठिवर ! जं सुक्क कट्ठं तुमए दुवालस-वरिस-पेरंत विक्किअं तं सव्वममरचंदणं । तेण धुत्तेण जाण-माणेणावि ण गुज्झं पयडीकयं, किन्तु मए परिलक्खिअं तं । पच्छा केणवि छलेण विक्कीअ मोल्लेण समं[2] पुणरावट्टिअं समं[3] चंदण, जाव सव्वोवि जहाभूअ साहिओ वुत्तंतो ।"

---

१ पीतमिवाचरति २ सार्धं ३ समस्त ।

उप्पेहुडं (साडम्बरं) प्रीति-भोजनं जातमेतेषाम् । पूर्वपरिचिताः कर्मकराः भृत्याश्चेट्यो बाणोत्तराश्च स्वयमागम्य मिलिताः । सर्वं कार्यं सुस्थितं जातम् । अधनो धनं, गताक्षो लोचनं, बुभुक्षितो भोजनं च प्राप्य यथा सुखमनुभवति तथा एतौ पुत्रं प्राप्य नितान्तं सुखितौ जातौ । क्षणमपि न पुत्रं परोक्षं कर्त्तुमिच्छतः । शयन-भोजन-पानादिषु युवानमपि पुत्रं सिलिबायति (पोतमिवाचरति) माता भानुमती ।

इतः हरिचन्दनं विक्रीय अमितं धनं मुक्ताफलादिकं च गृहीत्वा राउलस्तत्र समागतः । श्रेष्ठिनः समक्षं रत्नपालमभिमुखो कुर्वता तेनोक्तम्—श्रेष्ठिनन्दन ! गृहाण तव पितृपादार्जितममितं धनम्' एवं कथयित्वा अग्रतो रक्षितं विस्तीर्णं द्रविणजातम् । तद् विलोक्य साश्चर्यं सहासं जिनदत्तेन भणितम्—"राउल ! कुतः आनीतोऽयं धनराशिः ? काष्ठहारककर्मकारेण मया कथमियद् धनं संचेतुं शक्यते ? न मुधा मे गौरव-गाथा गेया । नानीतं विशिष्टं किमपि प्रदेशान्तरात् ।

हसता राउलेन कथितं सगर्जम्—"अस्ति सर्वं भवदीयम्, नास्ति अन्यस्य किमपि । न मया योगिना मुधा प्रलापः कर्त्तव्यः । श्रेष्ठि-प्रवर ! यच्छुष्कं काष्ठं त्वया द्वादशवर्षपर्यन्तं विक्रीतं तत् सर्वमसर-चन्दनम् । तेन धूर्तेन ज्ञायमानेनाऽपि न गुह्यं प्रकटीकृतम्, किन्तु मया परिलक्षितं तत् । पश्चात् केनाऽपि छलेन विक्रीत-मूल्येन समं पुनरावर्तितं समं चन्दनम्, यावत् सर्वोऽपि यथाभूतं श्रावितो वृत्तान्तः ।

अचुच्छ बुद्धिकोसलमवगंतूण सव्वेवि विम्हयसेराणणा जाया। अव्वो ! धण्णोऽयं राउलो केरिसो दक्खो ! एगकज्जम्मि अणेगकज्ज-साहगो। कह विप्पतारिअं धणं पुणो हत्थगयं कयं ? सव्वेसिं मुहकमलेसु राउलस्स जयसोरह महमहिअ। पवुड्ढ-धणेसु अईव धणवुड्ढी जाया पुण। अच्चाणंदेण खणा इव दिअहा अइक्कमंति एएसिं।

एक्कमिअ रयणवालेण राउल पइ सखेय साहिअ— "राउल ! णिवडिओम्हि चिंता सायरम्मि, जओ गंतव्वमवस्सं अत्थि मए ससुरालए सहम्मिणिमाणेउं, परंतु चिरविरह-पीलिआ मे अम्मापिउणो खणमवि णयण-वत्तणीओ ण मं दूरेउमिच्छंति। दुद्धदड्ढा जहा तक्कमवि सफुक्कारं पिबेति, तहा मे विरहग्गि-सधुक्किआ दूरगमणक्खरमवि ण ते सहेउं सक्का। संपइ किं कायव्वं मए 'त्ति ण णज्जइ दुविहा-गएण माणसेण।"

सेराणणेणावि गहिरीहोतेण[1] राउलेण पाउक्कयं— 'ण विम्हरिज्जइ[2] किं तं अणुहविणो ससुरस्स सिक्खा तुमए। जहा—अत्थि लवो पवासो, दुल्लहं पुणरागमणं, सद्धिं चिअ णेअव्वा सहम्मिणी। ण चत्तव्वा एगागिणी एत्थ। परं ण तुम्हेहिं आदेज्ज-वयणस्स गारवं लक्खिअं, मुणिअं, चिंतिअं पुण। संपइ चिंताए किं संपज्जइ ? भज्जा-णयणं आवस्सगं विज्जइ, जइ कहेइ भवं[3], तया अहं गच्छेमि एगागी तं णेउं। को अत्थि अण्णो उवाओ ?"

---

१ गभीरीभवता २ विस्मर्यते ३ भवान्।

अतुच्छं बुद्धिकौशलमवगत्य सर्वेऽपि विस्मय-स्मेराननाः जाताः। अव्वो ! धन्योऽयं राउलः कीदृशो दक्षः ! एककार्ये अनेक-कार्य-साधकः। कथं विप्रतारितं धनं पुनर्हस्तगतं कृतम्। सर्वेषां मुखकमलेषु राउलस्य जय-सौरभं प्रसृतम्। प्रवृद्धधनेषु अतीव धनवृद्धिर्जाता पुनः। अत्यानन्देन क्षणाः इव दिवसाः अतिक्रमन्ति एतेषाम्।

एकदा रत्नपालेन राउलं प्रति सखेदं कथितम्—"राउल ! निपतितोऽस्मि चिन्तासागरे, यतो गन्तव्यमवश्यमस्ति मया श्वसुरालये सधर्मिणीमानेतुम्, परन्तु चिरविरहपीडितौ मे माता पितरौ क्षणमपि नयन-वर्तनीतो न मां दूरयितुमिच्छतः। दुग्धदग्धाः यथा तक्रमपि सफुत्कारं पिबन्ति, तथा मे चिरविरहाग्नि-संधुक्षितौ दूरगमनाक्षरमपि न तौ सोढुं शक्तौ। 'सम्प्रति किं कर्त्तव्यं मया' इति न ज्ञायते दुविधागतेन मानसेन।"

स्मेराननेनाऽपि गभीरीभवता राउलेण प्रादुष्कृतम्—"न स्मर्यते किं अनुभविनः श्वसुरस्य शिक्षा त्वया ? यथा—अस्ति लम्बः प्रवासः, दुर्लभं पुनरागमनम्, सार्धमेव नेतव्या सधर्मिणी, न त्यक्तव्या एकाकिनी अत्र। परं न युष्माभिरादेयवचनस्य गौरवं लक्षितं, ज्ञातं, चिन्तितं पुनः। सम्प्रति चिन्तया किं सम्पद्यते ? भार्यानयनमावश्यकं विद्यते, यदि कथयति भवांस्तदाऽहं गच्छाम्येकाकी तां नेतुम्। कोऽस्ति अन्यः उपायः ?

मुणिऊण राउलस्स भणिइं हित्थो जाओ रयणवालो। कहमेव भणसि राउल ! जत्थ मए च्चिअ गतव्व तत्थ तुहं सपेसण लज्जापय। दत्त मए ससुरस्स सम्मुहं वयणं जं पच्चावलिस्सामि सिग्घमेव सहयरि[1] एंउ। वयण-पालणं अत्थि सप्पुरिसाणं कत्तव्व। पुणो जाए करो गहिओ, जा मे अद्धगिणी जाया, अहमेव जाए एगाहारो, ताए हेउणो मे तत्थ गमण समुइअ। पिअरे[2] विणविअ सिग्घाइसिग्घं गंतु-कामोम्हि अहय। णत्थि अण्णो विगप्पो। इइ पइदेवस्स कत्तव्व-पालण-तप्परत्तिमं परिलक्खिअ अईव आणदिआ जाया राउलरूवा रयणवई। सपइ अहमवि मूलरूवा होमि 'त्ति णिच्छिअ णाए। तक्खण पविट्ठा मज्जण-घरम्मि। उत्तारिओ राउल-वेसो। सद्धिमुव्वट्टणेण विसुद्धणीरेण ण्हाया। कओ झडिल-पदत्ताए जडिआए पओगो। विलुत्तं णरत्तण। पयडिओ[3] पयडिजो[4] णारीभावो। उग्घाडिअ पेडगं परिहिआइ चीणसुअ-वत्थाइ। धारिआणि महग्घाणि अलंकाराणि। एव सज्जिअ-सोलस-सिगारा सक्खं मणुअ-रूवा देवीव सभूआ। अब्भपडलओ चदलेहा विव ण्हाणगिहत्तो इक्कवए गिहुत्तरम्मि पाउब्भूआ सा। आसी तम्मि समयम्मि रयणवालो चंदसालाए। कलहंसीव चलण-विण्णास कुणमाणी सोवाण-मग्गेण झडिति तत्थ ओइण्णा। सेराणणपोम्मा[5] पयडा पोम्मावईव सा जाहे रयणस्स णयण-पहमागया तया सो अच्चत विम्हिओ जाओ। 'कासि तुमं

१ सहचरीम् २ पितृन् ३ प्रकटित. ४ प्रकृतिज ५ स्मेराननपद्मा।

श्रुत्वा राउलस्य भणितिं हित्थो (लज्जितः) जातो रत्नपालः। कथमेवं भणसि राउल ! यत्र मयैव गन्तव्यं तत्र तव सम्प्रेषणं लज्जापदम्। दत्तं मया श्वसुरस्य सम्मुखं वचनं यत् प्रत्यावलिष्ये शीघ्रमेव सहचरीं नेतुम्। वचनपालनमस्ति सत्पुरुषाणां कर्तव्यम्। पुनर्यस्याः करो गृहीतः, या मे अर्धाङ्गिनी जाता, अहमेव यस्याः एकाधारः, तस्याः हेतोः मे तत्र गमनं समुचितम्। पितरौ विज्ञप्य शीघ्रातिशीघ्रं गन्तुकामोऽस्मि अहम्। नास्त्यन्यो विकल्पः। इति पतिदेवस्य कर्तव्य-पालन-तत्परतां परिलक्ष्य अतीवानन्दिता जाता राउलरूपा रत्नवती। सम्प्रत्यहमपि मूलरूपा भवामीति निश्चितं तया। तत्क्षणं प्रविष्टा मज्जनगृहे। उत्तारितो राउल-वेषः। सार्धमुद्वर्तनेन विशुद्धनीरेण स्नाता। कृतो जटिलप्रदत्ताया जटिकायाः प्रयोगः। विलुप्तं नरत्वम्। प्रकटितः प्रकृतिजो नारीभावः। उद्घाटितं पेटकम्। परिहितानि चीनांशुकवस्त्राणि। धारितानि महार्घ्याणि अलङ्काराणि। एवं सज्ज-षोडश-शृङ्गारा साक्षात्मनुजरूपा देवी इव संभूता, अभ्रपटलाच्चन्द्रलेखेव स्नानगृहात् एकपदे गृहचत्वरे प्रादुर्भूता सा। आसीत् तस्मिन् समये रत्नपालः चन्द्रशालायाम्। कलहंसीव चरणविन्यासं कुर्वती सोपानमार्गेण झटिति तत्रावतीर्णा। स्मेरानन-पद्मा प्रकटा पद्मावतीव सा यदा रत्नस्य नयनपथमागता, तदा

विवोढ्ढी ? कुओ पयडीभूआ सुअणु ! किमच्छ पयोअणं ममाहि[1] मयच्छि ?' ससंभमं पुट्ठं रयणेण ।

ईसिहसिएण उज्जलदंतपंति दंसेमाणी पइदेवस्स चलणेसुं णिवडिआ । किं पाणिग्गहिई[2] वि ण उवलक्खिज्जइ अज्जउत्तेण ? अहमेव राउलरूवम्मि लुक्किआ रयणवई पइदेवेण सहसमागया । किं णम्हि ह दिट्ठपुव्वा ? लक्किअं तीए ।

तमसि रयणवई राउलरूव-पडिच्छण्णा ? हो ! ण तक्किआ, ण लक्खिआ, ण चिंतिआ य मए णाममेत्तमवि । खण रयणवालोवि विम्हय-भरिओ जाओ । अहह ! केरिसी कला कलिआ तुह जणएण ? कहमलक्खिआ तुम पट्ठविआ मए सद्धिं । णूण तओ च्चिअ धुत्ताणं आहेवच्च करेइ सो महाणुहावो । पइदेवस्स चरणकमल छिवंती[4] सविब्भम सा विहुमुही[5] हरिसभरुब्भिण्ण-रोमंचेण रयणवालेण कोडीकया, अहरामय पिवंतेण समासणम्मि य णिवेसिआ । वायाणमगोअरं अतुल्लं पइमेलणसुहं अणुहवंती रयणवई सोवालम्भ किमवि वोत्तुमाढत्ता—"दयिअवर ! कहमेगागिणी अबला णिराहारा पेइहरम्मि[6] चत्ता ? किं ण याणह तुम्हे पउत्थपइआए णवोढाए ठिइ । अजाय-संबधबंधा इव ण तत्थ तुब्भेहि कयाइ सलाविआ, ण पेम्ममइअ-वयणेहि पोसिआ, ण उण जहत्थ-ठिईए बोहिआ, हरे ! णीरसीहूअ हिअयेण एमेव उज्झिआ । किं उइओ आसी अज्जउत्ताणं

1 मत्समाशात् 2 पाणिगृहीती भार्या 3 आधिपत्यम् 4 स्पृशन्ती 5 विधुमुखी 6 पितृगृह ।

सोऽत्यन्तं विस्मितो जातः । 'काऽसि त्वं विम्बौष्ठि ! कुतः प्रकटीभूता सुतनु ! किमच्छं प्रयोजनं मत्तो मृगाक्षि !' ससंभ्रमं पृष्टं रत्नेन !

ईषद्धसितेन उज्ज्वलदन्तपङ्क्ति दर्शयन्ती पतिदेवस्य चरणयोः निपतिता । किं पाणिगृहीती अपि नोपलक्ष्यते आर्यपुत्रेणः ? अहमेव राउलरूपे निलीना रत्नवती पतिदेवेन सह समागता । किं नास्म्यहं दृष्टपूर्वा ? तर्कितं तया ।

त्वमसि रत्नवती राउलरूप-प्रतिच्छन्ना !! हो ! न तर्किता, न लक्षिता, न चिन्तिता च मया नाममात्रमपि । क्षणं रत्नपालोऽपि विस्मय-भरितो जातः । अहह ! कीदृशी कला कलिता तव जनकेन ? कथमलक्षिता त्वं प्रस्थापिता मया सार्धम् । नूनं ततः एव धूर्तानामाधिपत्यं करोति स महानुभावः । पतिदेवस्य चरणकमलं स्पृशन्ती सविभ्रमं सा विधुमुखी हर्षभरोद्भिन्नरोमाञ्चेन रत्नपालेन क्रोडीकृता, अधरामृतं पिबता समासने च निवेशिता । वाचामगोचरमतुल्यं पतिमेलनसुखमनुभवन्ती रत्नवती सोपालम्भं किमपि वक्तुमारब्धा—"दयितवर ! कथमेकाकिनी अबला निराधारा पितृगृहे त्यक्ता ? किं न जानीथ यूयं प्रोषित-पतिकायाः नवोढायाः स्थितिम् ? अजात-सम्बन्धवन्धा इव न तत्र युष्माभिः कदापि संलापिता, न प्रेममय-वचनैः पोषिता, न पुनर्यथार्थस्थित्या बोधिता, हरे ! नीरसीभूत-हृदयेन एवमेवोज्झिता । किमुचितः आसीदार्यपुत्राणामेष

एसो ववहारो ? किं कोइ साइज्जइ[1] तारिसं किच्चं धीधणो जणो । मह पिउपाया वि अईव चिंतिआ संजाया किंतु कस्सइ महप्पणो पसाएण एयं कज्जं सपण्णं । राउलरूवम्मि अहमेत्थ समागया । जणणीजणय-गवेसणट्ठं गया । पइग्गाम-णयरं भमंतीए मए किं किं णाणुहूअं । सव्वं मए णिअ-कत्तव्वं मुणिअ कयं । अज्जाहं मूलरूवेण कयकज्जा अज्ज-उत्ताए सम्मुहं उवट्ठिआ" एवं भणमाणी सा चंदमंडलं चकोरीव पिअ-मुहं पेक्खंती आणंद-मग्गा जाया ।

सच्चं भणसि तुमं सुहासिणि ! खलिअं मए पेअसि छड्ढमाणेण तत्थ । अपरिपक्क-वुद्धीए ण किं हवंति ईइसा हु परिणामा, किंतु तुह अणुहविणो जणगस्स अणुग्गहेण सव्वं समुइअं चउरंसं च जायं । इयाणिं तत्थ गमणं ण सुसगमत्थि । जणणी-जणयाण गवेसणट्ठं तु तए जो साहसो कओ सो अबला-बलाइरित्तो । तत्थ जेद्दहा धण्णवाया दिज्जंति तेद्दहा थेवा । पिअरा अवि फुडमुहेहिं पसंसंति राउलस्स सेवाभावं । एवं मुल्लवंता जपइणो जुम्मयाए पिइचरणाण दंसणट्ठं चलिआ । जत्थ जणणीजणआ विराय-माणा आसी, तत्थ एए पसण्णवयणारविंदा समागया । रईए सह पज्जुण्णमिव तीए सद्धिं रयणं विलोइअ पिअरा अच्छेरगं पत्ता, झत्ति पुच्छिउं लग्गा—"का इमिआ दिव्व-रूवधारिआ रमणी तुह सद्धिं अतक्किआ समोइण्णा ? किं काइ आराहिआ देवया पयडं माणुसिं तणुमस्सिआ ? को सवधो इमिआए अम्हकेरो ?" एवं तक्कणा-परेसु तेसु

१ साइज्जइ-अनुजानाति इत्यर्थः ।

व्यवहारः ? किं कोऽपि साइज्जइ । (अनुजानाति) तादृशं कृत्यं धीधनः जनः । मम पितृपादाः अपि अतीव चिन्तिताः संजाताः, किन्तु कस्यापि महात्मनः प्रसादेन एतत् कार्यं सम्पन्नम् । राउलरूपे अहमत्र समागता । जननीजनक-गवेषणार्थं गता । प्रतिग्रामनगरं भ्रमन्त्या मया किं किं नानुभूतम् । सर्वं मया निजकर्त्तव्यं ज्ञात्वा कृतम् । अद्याहं मूलरूपेण कृतकार्या आर्यपुत्राणां सम्मुखमुपस्थिता" एवं भणन्ती सा चन्द्रमण्डलं चकोरीव प्रियमुखं प्रेक्षमाणा आनन्द-मग्ना जाता ।

सत्यं भणसि त्वं सुहासिनि ! स्खलितं मया प्रेयसीं मुञ्चता तत्र । अपरिपक्वबुद्ध्या न किं भवन्ति ईदृशाः खलु परिणामाः, किंतु तव अनुभविनो जनकस्यानुग्रहेण सर्वं समुचितं, चतुरस्रं च जातम् । इदानीं तत्र गमनं न सुशकमस्ति । जननी जनकानां गवेषणार्थं तु त्वया यः साहसः कृतः सोऽबलाबलातिरिक्तः । तत्र यावन्तो धन्यवादाः दीयन्ते तावन्तः स्तोकाः । पितरोऽपि स्फुट-मुखेन प्रशंसन्ति राउलस्य सेवाभावम् । एवमुल्लपन्तौ दम्पती युग्मतया पितृचरणानां दर्शनार्थं चलितौ । यत्र जननीजनकौ विराजमानौ आस्ताम्, तत्र एतौ प्रसन्नवदनारविन्दौ समागतौ । रत्या सह प्रद्युम्नमिव तया सार्धं रत्नं विलोक्य पितरौ आश्चर्यं प्राप्तौ झगिति प्रष्टुं लग्नौ—"केयं दिव्यरूपधारिका रमणी त्वया सार्धमतर्किता समवतीर्णा ? किं काऽपि आराधिता देवता प्रकटं मानुषीं तनुमाश्रिता ? कः सम्बन्धः अनया अस्मदीयः ?" एवं तर्कणापरेषु तेषु सलज्जं रत्नवती

सलज्जं रयणवई सासू-ससुराणं चलणेसुं पणमिआ। मउलिअ-पाणिपल्लवा वोत्तुं पउत्ता—"अहं म्हि किर तत्थभवयाण सुण्हा। तुम्ह पियपुत्तस्स सहम्मिणी रयणवई णाम। विज्जावलेण राउलरूवम्मि गुत्ता पइणा सह समागया। तो तुम्हकेरा हं पुत्तवहू णण्णा[1]।" एवं कहिअ अत्ताए चरणकमलम्मि सहरिसं णिवडिआ। इअ जाणिऊण भाणुमईए जिणदत्तस्स य अच्छरिज्जेण सह उक्कडो आणंदो जाओ।

बहूआए मत्थयं करेण छोवंती अत्ता साहेउं पउत्ता—"अहो! एसा णिवधूआ पुत्तबहूडी[2] रयणवई! ण लक्खिआ अम्हेहिं मणसा वि राउलरूव-गोवाइआ। अबला भुच्चावि दसिअं णाए असाहारणं पउरिसं। अब्भुआ इमिआए समयसूअयआ[3]। अणेगहुत्तं अम्हेहिं चितिअं जं मेसो असत्थुओ अपत्त-सयण-सवधो वि कहं अम्हे अईव सुस्सूसइ, परिअरइ, अणण्णभत्तिभावेण पुण संरक्खेइ'त्ति। पुत्तबहु! तुहं मईए धिईए केवइअं पससणं कुणेमो जं मम्हाणं आणयणे अणेगाइं कट्ठाइं सहिआइं, विवइ-णिण्णगाओ य तीरिआओ। एआरिसि सेवाहिंमुहिं सुण्हं पप्प धण्णा जाया अम्हे" एवं भणमाणीए ताए रयणवई पिट्ठभायम्मि ससिणेहमाहूया, मत्थयम्मि ओसिंघिआ, पुत्त-पोत्तवई होहि'त्ति सुहाए आसीसाए य वड्ढाविआ। जया परिअणम्मि एसा पउत्ती वित्थारं गया तया सच्चोज्ज[4] सव्वेवि ते आगया सुण्हं दट्ठुं सुच्छाहं। रयणाणुरूवं रयणवइं पेक्खिअ सव्वेवि आणंदिआ जाया। सेट्ठिणोऽईव सोहग्गं पसंसता सयणा णिअं-णिअं गिहं

---

१ नान्या २ पुत्रवधूटी ३ समयसूचकता ४ साश्चर्यम्।

श्वश्रूश्वसुरयोः चरणेषु प्रणमिता। मुकुलित-पाणिपल्लवा वक्तुं प्रवृत्ता—"अहमस्मि किल तत्रभवतां स्नुषा युष्माकं प्रियपुत्रस्य सहधर्मिणी रत्नवती नाम। विद्याबलेन राउलरूपे गुप्ता पत्या सह समागता। तस्माद् युष्मदीयाऽहं पुत्रवधूः नान्या" एवं कथयित्वा अत्तायाः (श्वश्र्वाः) चरणकमले सहर्षं निपतिता। इति ज्ञात्वा भानुमत्या जिनदत्तस्य च आश्चर्येण सहोत्कटः आनन्दो जातः। वध्वाः मस्तकं करेण स्पृशन्ती अत्ता (श्वश्रूः) कथयितुं प्रवृत्ता—"अहो! एषा नृपदुहिता पुत्रवधूटी रत्नवती? न लक्षिता अस्माभिः मनसाऽपि राउलरूप-गोपायिता। अबला भूत्वाऽपि दर्शितमनया असाधारणं पौरुषम्। अद्भुताऽस्याः समय-सूचकता। अनेकक्कृत्वोऽस्माभिश्चिन्तितं यदेष असंस्तुतः अप्राप्त-स्वजन-सम्बन्धोऽपि कथमस्मान् अतीव शुश्रूषते, परिचरति, अनन्यभक्तिभावेन पुनः संरक्षतीति। पुत्रवधु! तव मतेः धृतेः कियत् प्रशंसनं कुर्मः यदस्माकं आनयने अनेकानि कष्टानि सोढानि, विपन्निम्नगाश्च तीरिताः। एतादृशीं सेवाभिमुखां स्नुषां प्राप्य धन्याः जाता वयम्। एवं भणन्त्या तया रत्नवती पृष्ठभागे सस्नेहमाहता मस्तके च ओसिंघिता घ्राता) पुत्र-पौत्रवती भव इति शुभया आशिषा च वर्धापिता। यदा परिजने एषा प्रवृत्तिर्विस्तारं गता तदा सचोज्जं (साश्चर्यम्) सर्वेऽपि ते आगताः स्नुषां द्रष्टुं सोत्साहम्। रत्नानुरूपां रत्नवतीं प्रेक्ष्य सर्वेऽपि आनन्दिताः जाताः। श्रेष्ठिनोऽतीव सौभाग्यं प्रशंसन्तः स्वजनाः

पडिगया । विणयेण, विवेगेण, चाउज्जेण,[1] दक्खयाए य सव्वेवि परिअणा गुरुअणा मतमुद्धा, समोहिआ, कीलिआ, वसगा इव य कया णाए। पिअरा पुत्तस्स पुत्तवहूए य महुरववहारेण, सव्वकज्ज-णेउण्णेण य ओहरिअ-भारा[2] भारवाहा इव जाया। रयणवालोवि रयणवईए सद्धिं पंचिदिअ-विसय-सुहाइ अणुहवतो जहासमय धम्मिअं वावहारिअं च कज्जमणुचिट्ठंतो सुहं सुहेण कालं जवेइ ।

अह एगया पुव्वरत्तावरत्तकाले धम्मजागरणं जागरमाणेण जिणदत्त-सेट्ठिणा एआरिसी भावणा भाविआ–"अहो ण मए एगम्मि वि भवम्मि विचित्ता सुहदुहपरंपरा दिट्ठा, अणुहूआ, कायेण फुसिआ य। तहवि कहं ण मे मणो विरत्तो जाओ? ण कहं इंदिअ-विसय-परमुहया संपत्ता? ण कहं सिणेह-सिढिलया जाया परिअणेसु? ण कहं धणाईसु मुत्ति-भावणा परिवड्ढिआ? हा! हा! ण पुणो पच्चावलंति वइक्कंता खणा। ण उणाइ[3] वोलीणं जुव्वणं, लाअण्णं, सरीरबलं च आवट्टइ पच्छा। अरे! तुच्छजीवण-हेउआ एरिसी चिंता! केरिसं धावणं? केद्दहा छल-कवड-पवंचा! किं ण छड्डिअव्वं रकव्वं राइणावि एअं सव्वं? एत्थ का विइगिच्छा? सव्व-साहारणो कयंतस्स णिच्छिओ णिअमो। ण तस्स पुरओ कस्सइ सफलो विणय-प्पओगो बल-प्पओगो वा। ता किणो हं ण अप्पणो हिअं चिंतेमि, आयरेमि य। अव्वो! गअं आउसस्स महग्घं भायतिगं। किं अवसिट्ठं संपइ। तुरिअव्वं मए अप्प-हिअम्मि धम्म-कज्जम्मि पेच्च-

१ चातुर्येण २ अवहृतभारा ३ न पुनः ।

निजं-निजं गृहं प्रतिगताः। विनयेन, विवेकेन, चातुर्येण, दक्षतया च सर्वेऽपि परिजनाः गुरुजनाः मन्त्रमुग्धाः, सम्मोहिताः, कीलिताः, वशगाः इव च कृता अनया। पितरौ पुत्रस्य पुत्रवध्वाश्च मधुर व्यवहारेण, सर्वकार्यनैपुण्येन च अवहृतभारौ भारवाहौ इव जातौ। रत्नपालोऽपि रत्नवत्या सार्धं पञ्चेन्द्रियविषयसुखानि अनुभवन् यथासमयं धार्मिकं व्यावहारिकं च कार्यमनुतिष्ठन् सुखं सुखेन कालं यापयति।

अथैकदा पूर्वरात्रापररात्रकाले धर्मजागरणां जाग्रता जिनदत्त-श्रेष्ठिना एतादृशी भावना भाविता—अहो 'णं' मया एकस्मिन्नपि भवे विचित्रा सुखदुःखपरम्परा दृष्टा, अनुभूता, कायेन स्पृष्टा च; तथापि कथं न मे मनो विरक्तं जातम्? न कथमिन्द्रिय-विषय-पराङ्-मुखता सम्प्राप्ता? न कथं स्नेह-शिथिलता जाता परिजनेषु? न कथं धनादिषु मुक्तिभावना परिवर्धिता? हा! हा! न पुनः प्रत्यावर्तन्ते व्यतिक्रान्ताः क्षणाः। न पुनरतिक्रान्तं यौवनं, लावण्य, शरीरबलं च आवर्तते पश्चात्। अरे! तुच्छजीवनहेतुकी ईदृशी चिन्ता? कीदृशं धावनम्? कियन्तश्छल-कपट-प्रपञ्चाः? किं न मोक्तव्यं रङ्कवद् राज्ञाऽपि एतत् सर्वम्? अत्र का विचिकित्सा? सर्वसाधारणः कृतान्तस्य निश्चितो नियमः। न तस्य पुरतः कस्यापि सफलो विनय-प्रयोगो बल-प्रयोगो वा। ततः कस्मादहं नात्मनो हितं चिन्तयामि, आचरामि न। अव्वो! गतं आयुषो महार्घ्यं भागत्रिकम्।

हिआए, सुहाए, खेमाए य।" एवं भावेमाणो सेट्ठी विरत्ति पत्तो, वेरग्ग लद्धो, भव-बंधण छेत्तु तप्परो य जाओ। भाणुमईए पुरओ सेट्ठिणा णिआ भावणा रक्खिआ। सावि इणं सुहं किच्च साइज्जमाणा पइं अणुगंतु उच्छुआ जाया। आपुच्छिऊण पुत्ताइ-परिअणं च धम्मघोसस्स आयरिअ-पायस्स समीवं सभज्जं पव्वज्जमुवगओ। विविहघोरतवेहिं सरीरं तावयंता सज्झाय-झाणेहिं अप्पाणं भावेंता, अंते संलेहणमणसणमाराहिअ कप्पविमाणवासिणो देवा जाया।

अहण्णया रयणवई आवण्णसत्ता जाया। पसूअं णाए पुत्तरयणं। सुहं सुहेण परिवड्ढिओ सो। कराविअं विज्जा-ज्झयणं जाव कयपाणिग्गहणो विणयी, विवेगी, सव्वकज्ज-कुसलो, गिहत्थासम-धुरंधरो य जाओ।

इओ य समागया अमिअगइ-णामाणो महातवस्सिणो चउणाणिणो आयरिअ-वसहा। मुणिअ मुणीणमागमणं संतुट्ठा जाया णयरी। णिग्गया अणेगे सेट्ठि-गहावइ-सेणावइ-रायाणो वंदिउं मुणिंद-पायकमलं। रयणवई-सहिओ रयण-वालोवि गओ मुणिंद-दंसणट्ठं। वागरिआ गुरुवरेण धम्म-देसणा। जाणाविआ मणुसभवस्स दुल्लहा पत्ती। एस खलु दारं चउग्गइमयस्स संसार-दुग्गस्स। एत्थ खलिएहिं, णरय-णिगोआईसु पडिएहिं, संसारचक्कवालम्मि णडिएहिं, चउसीइलक्खजीवजोणीण कहमंतो णेअव्वो ? हंत ! सत्तर-कोडाकोडीसायरमिआ मोहणिज्ज-कम्मस्स ठिई। तेण मोहिआ जीवा ण परिलक्खंति पच्चक्खमवि सरूवं।

किमवशिष्टं सम्प्रति त्वरितव्यं मया आत्महिते धर्मकार्ये प्रेत्यहिताय, सुखाय, क्षेमाय च। एवं भावयन् श्रेष्ठी विरक्तिं प्राप्तः, वैराग्यं लब्धः, भवबंधनं छेत्तुं तत्परश्चजातः। भानुमत्याः पुरतः श्रेष्ठिना निजा भावना रक्षिता। साऽपि इदं शुभं कृत्यं अनुमोदयन्ती पतिमनुगन्तुं उत्सुका जाता। आपृच्छ्य पुत्रादि-परिजनं जिनदत्तो धर्मघोषस्य आचार्यपादस्य समीपं सभार्यः प्रव्रज्यामुपगतः। विविधघोरतपोभिः शरीरं तापयन्तौ स्वाध्याय-ध्यानैरात्मानं भावयन्तौ अन्ते ससंलेखनमनशनमाराध्य कल्पविमान-वासिनौ देवौ जातौ।

अथान्यदा रत्नवती आपन्न-सत्वा जाता। प्रसूतं तया पुत्ररत्नम्। सुखं सुखेन परिवर्धितः सः। कारायितं विद्याध्ययनं यावत् कृतपाणिग्रहणो विनयी, विवेकी, सवकार्यकुशलो, गृहस्थाश्रमधुरन्धरश्च जातः।

इतश्च समागता अमितगतिनामानो महातपस्विनश्चतुर्ज्ञानिनः आचार्य-वृषभाः। ज्ञात्वामुनीनामागमनं संतुष्टा जाता नगरी। निर्गता अनेके श्रेष्ठि-गाथापति-सेनापति-राजानो वन्दितुं मुनीन्द्र-पादकमलम्। रत्नवती-सहितो रत्नपालोऽपि गतो मुनीन्द्र-दर्शनार्थम्। व्याकृता गुरुवरेण धर्म-देशना। ज्ञापिता मनुष्यभवस्य दुर्लभा प्राप्तिः। एतत् खलु द्वारं चतुर्गतिमयस्य संसार-दुर्गस्य। अत्र स्खलितैर्नरकनिगोदादिषु पतितैः संसार-चक्रवाले नटितैश्चतुरशीति-लक्ष-जीवयोनीनां कथमन्तः नेतव्यः ? हन्त ! सप्तति-कोटी-कोटी-सागरमिता मोहनीय-कर्मणः स्थितिः। तेन मोहिता जीवा न परिलक्षन्ते

मज्जवा इव विवेगविगला जत्थ तत्थ भमंति, अडंति, पवडंति हसंति रुवेंति, पलवंति गायंति, मिलायंति पुणो पुणो। हा ! मुहमिच्छूणमविकह सुहप्पत्ती जाव परवत्थुम्मि तेसिं सुह-गवेसणा, मग्गणा य। अत्थि अणंतसुहसरूवो अत्ता। तत्थ परवत्थुणो संगमो च्चिअ दुक्खकारणं, भंतिकारणं, भमण-कारणं च। तम्हा पढमं जहत्थ-णाणं कायव्वं। णाण-विहूणा किरिआवि अंधवाणपरंपरा विव ण समीचीणं लक्खं भिंदेउं खमा। अहह ! अप्पारामम्मि रमंता मुणिणो केरिस-माणंदाणुहवं कुणंति। अणुऊल-पडिऊलेसुं सुहदुहाईसुं समं भावेमाणा वीअरागा ण कत्थइ खिज्जंति, कीसंति, परितवंति, विमणा दुमणा य हवंति। हंदि ! मुणीणं सव्वओ उव्वेलिओ आणंद-समुद्दो। समता पसरिल्ला संति-लहरी। भव्वा ! सइ[1] अणुहवंतु अप्पुल्लं[2] सुहलवं। लद्धासाया तुम्हे ण तं परिजहिउं सत्ता। खलु अणुहव-गम्मो अयं मग्गो।

सक्खं अमिअ-पाणमिव महुरं मुणिकुंजराणं वयणं सोऊण पफुल्लिआ जाया परिसा, उब्बुद्धं जायं माणसमइ-अरं[3]।

देसणाणंतरं पुट्ठो रयणवालेण णिअ-पुव्वभव-वुत्तंतो जहा किमए एआरिसं दुक्कडं कयं, जेण सोलस-वास-पेरंतं पिउविओगो, धणणासो य जाओ। णाण-बलेण मुणिणा भणिअं—"अण्णाण-वसवएण तुह जीवेण माइप्पदत्तस्स सुपत्त-दाणस्स सकोहं गरिहा कया, सुमिणणो णिंदिआ,

---

१ सकृत् २ आत्मीयम् ३ अतितराम्।

प्रत्यक्षमपि स्वरूपम्। मद्यपा इव विवेक-विकला यत्र तत्र भ्रमन्ति, अटन्ति, प्रपतन्ति, हसन्ति, रुदन्ति, प्रलपन्ति, गायन्ति, म्लायन्ति पुनः पुनः। अहो! सुखमिच्छूनामपि कथं सुखप्राप्तिः यावत् परवस्तुनि तेषां सुखगवेषणा, मार्गणा च। अस्ति अनन्त-सुख-स्वरूपः आत्मा। तत्र परवस्तुनः संगमः एव दुःखकारणं, भ्रान्तिकारणं, भ्रमणकारणं च। तस्मात् प्रथमं यथार्थ-ज्ञानं कर्तव्यम्। ज्ञान-विहीना क्रियाऽपि अन्धबाण-परम्परेव न समीचीनं लक्ष्यं भेत्तु क्षमा। अहह! आत्मारामे रममाणा मुनयः कीदृशमानन्दानुभवं कुर्वन्ति! अनुकूल-प्रतिकूलेषु सुख-दुःखादिषु सम्यग् भावयन्तो वीतरागा न कुत्रापि खिद्यन्ते, क्लिश्यन्ते, परितपन्ति, विमनसो दुर्मनसश्च भवन्ति। हन्दि! मुनीनां सर्वतः उद्वेलितः आनन्दसमुद्रः। समन्तात् प्रसृमरा शान्तिलहरी। भव्याः सकृदनुभवन्तु आत्मीयं सुखलवम्। लब्धास्वादाः यूयं न तत् परिहातुं शक्ताः। खलु अनुभवगम्योऽयं मार्गः।

साक्षात् अमृतपानमिव मधुरं मुनिकुञ्जराणां वचनं श्रुत्वा प्रफुल्लिता जाता परिषत्, उद्बुद्धं जातं मानसमतितराम्। देशनानन्तरं पृष्टो रत्नपालेन निज-पूर्वभव-वृत्तान्तः—यथा किं मया एतादृशं दुष्कृतं कृतं येन षोडशवर्षपर्यन्तं पितृवियोगो, धननाशश्च जातः। ज्ञानबलेन मुनिना भणितम्—"अज्ञानवशंवदेन तव जीवेन मातृ-प्रदत्तस्य सुपात्रदानस्य सक्रोधं गर्हा कृता, सुमुनयो निन्दिताः

तस्स कडुअ फलं तुमए एत्थ भीसणयरं भुत्तं। पच्छा माईए बोहिएण दाणमाहप्प पत्तेण तुमए मुत्ताहलदाणस्स अणुमोअणा कया। धम्मे वि रुई समुप्पण्णा। तप्पभावेण पुणरवि सव्वं पत्तं। आयण्णिअ पुव्वभववुत्ततं विसेसओ वेरग्गं पत्तो रयणवालो सभज्जो। आलित्त[1]-पलित्त-संसाराओ णिक्कासेमि णिअ अप्पाणं सत्तरं। इणमेव पायडं मेहाए फलं जं णिउद्धारम्मि तप्परो होमि 'त्ति विचिंतमाणो णिव्वुइं गओ। समप्पिअ पुत्तम्मि गिहभारं अप्पणो रयणवई-सहिओ भागवइं दिक्खं पवण्णो। कया विमला किरिआ, अमलं झाणं, उज्जलो सज्झाओ, तिव्वो तवो, अप्पमत्तो विहारो य। अणेग-वासाइं संजमपज्जायं पालिऊण बंभदेवलोअं गया एए। तओ चइऊण महाविदेहे वासे सिज्झिस्संति, बुज्झिस्संति, मुच्चिस्संति जाव सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति य।

इअ सिरिचंदणमुणि-विरइआए पिउमिलण-चंदणा-
मुद्दागहण-राउलरूवपरिवट्टण-पिउदिक्खा-
दाण-गिहचायप्पभिइवण्णणेहिं वण्णि-
आए रयणवालकहाए सत्तमो
ऊसासो समत्तो

॥ ७ ॥

---

१ आदीप्त-प्रदीप्त संसारात्।

तस्य कटुकं फलं त्वया अत्र भीषणतरं भुक्तम्। पश्चात् मात्रा बोधितेन दान-माहात्म्यं प्राप्तेन त्वया सुसाधुदानस्य अनुमोदना कृता धर्मेऽपि रुचिः समुत्पन्ना। तत्प्रभावेण पुनरपि सर्वं प्राप्तम्। आकर्ण्य पूर्वभववृत्तान्तं विशेषतो वैराग्यं प्राप्तो रत्नपालः सभार्यः। आदीप्त-प्रदीप्त-संसारात् निष्कासयामि निजमात्मानं सत्वरम्। इदमेव प्रकटं मेधायाः फलं यद् निजोद्धारे तत्परो भवामीति विचिन्तयन् निर्वृतिं गतः। समर्प्य पुत्रे गृहभारं स्वयं रत्नवती-सहितो भागवतीं दीक्षां प्रपन्नः। कृता विमला क्रिया, अमलं ध्यानं, उज्ज्वलः स्वाध्यायः तीव्रं तपः, अप्रमत्तो विहारश्च। अनेकवर्षाणि संयमपर्यायं पालयित्वा ब्रह्मदेवलोकं गतौ एतौ। ततश्च्युत्वा महाविदेहे वर्षे सेत्स्यते, भोत्स्येते, मोक्ष्यतः यावत् सर्वदुःखानामन्तंकरिष्यतश्च।

इति श्रीचन्दनमुनिविरचितायां पितृमिलन-चन्दन-
मुद्राग्रहण-राउलरूपपरिवर्तन-पितृदीक्षादान-
गृहत्याग-प्रभृतिवर्णनैः वर्णितायां
रत्नपाल-कथायां सप्तमः
उच्छ्वासः समाप्तः
॥ ७ ॥

तस्स कडुअ फल तुमए एत्थ भीसणयर भुत्तं । पच्छा माईए बोहिएण दाणमाहप्प पत्तेण तुमए मुसाहुदाणस्स अणुमोअणा कया । धम्मे वि रुई समुप्पण्णा । तप्पभावेण पुणरवि सव्वं पत्त । आयण्णिअ पुव्वभववुत्तंतं विसेसओ वेरग्गं पत्तो रयणवालो सभज्जो । आलित्त¹-पलित्त-समाराओ णिक्कासेमि णिअ अप्पाणं सत्तर । इणमेव पायड मेहाए फल जं णिउध्दारम्मि तप्परो होमि 'त्ति विचिंतमाणो णिव्वुइं गओ । समप्पिअ पुत्तम्मि गिहभार अप्पणो रयणवई-सहिओ भागवइ दिक्खं पवण्णो । कया विमला किरिआ, अमलं झाण, उज्जलो मज्जाओ, तिव्वो तवो, अप्पमत्तो विहारो य । अणेग-वासाइ सजमपज्जायं पालिऊण बंभदेवलोअ गया एए । तओ चइऊण महाविदेहे वासे सिज्झिस्संति, वुज्झिस्संति, मुच्चिस्संति जाव सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति य ।

इअ सिरिचंदणमुणि-विरइआए णिउमिलण-चंदण-
मुद्दागहण-णाउलरूवपरिवट्टण-णिउदिक्खा-
दाण-गिहचायप्पभिइवण्णणेहि वण्णि-
आए रयणवालकहाए सत्तमो
ऊसासो समत्तो
॥ ७ ॥

---

१ आदीप्त-प्रदीप्त समारात् ।

तस्य कटुकं फलं त्वया अत्र भीषणतरं भुक्तम्। पश्चात् मात्रा बोधितेन दान-माहात्म्यं प्राप्तेन त्वया सुसाधुदानस्य अनुमोदना कृता धर्मेऽपि रुचिः समुत्पन्ना। तत्प्रभावेण पुनरपि सर्वं प्राप्तम्। आकर्ण्य पूर्वभववृत्तान्तं विशेषतो वैराग्यं प्राप्तो रत्नपालः सभार्यः। आदीप्त-प्रदीप्त-संसारात् निष्कासयामि निजमात्मानं सत्वरम्। इदमेव प्रकटं मेधायाः फलं यद् निजोद्धारे तत्परो भवामीति विचिन्तयन् निर्वृतिं गतः। समर्प्य पुत्रे गृहभारं स्वयं रत्नवती-सहितो भागवतीं दीक्षां प्रपन्नः। कृता विमला क्रिया, अमलं ध्यानं, उज्ज्वलः स्वाध्यायः तीव्रं तपः, अप्रमत्तो विहारश्च। अनेकवर्षाणि संयमपर्यायं पालयित्वा ब्रह्मदेवलोकं गतौ एतौ। ततश्च्युत्वा महाविदेहे वर्षे सेत्स्यते, भोत्स्येते, मोक्ष्यतः यावत् सर्वदुःखानामन्तंकरिष्यतश्च।

इति श्रीचन्दनमुनिविरचितायां पितृमिलन-चन्दन-
मुद्राग्रहण-राउलरूपपरिवर्तन-पितृदीक्षादान-
गृहत्याग-प्रभृतिवर्णनैः वर्णितायां
रत्नपाल-कथायां सप्तमः
उच्छ्वासः समाप्तः
॥ ७ ॥

कव्वकारगस्स पसत्थी

सोऊण चरिअमेअ, जगवेचित्ती विआणिआ होज्जा ।
चावल्ल लच्छीए सत्थपरो बन्धु-पेम्मो य ॥१॥
तओ धम्मकज्जम्मि अ भव्वाण भावणा थिरा हवइ ।
धम्माओ सव्वाण सुक्खाण सोहणा पत्ती ॥२॥
किं बहुणा धम्मो च्चिअ भव्वेहि सव्वया सयं सेव्वो ।
अज्झत्थमुहुणिआण, तेलुक्के सारभूओ जो ॥३॥
तेरापहस्स पढमो आयरिओ भिक्खुणामगो जाओ ।
धीरो जलहिगहीरो अक्खलिआयारसजुत्तो ॥४॥
पिहू पहो मोक्खस्स य ससारस्स य तहा पुहू मग्गो ।
एगोहवंति ण कया इअ वागरण कय जेण ॥५॥
पावकारण राओ मूलं धम्माणमत्थि जीवदया ।
कह णु मीसीभाव लहंति ते, साहिअ जेण ॥६॥
णाणाविहाणि पुणरवि दारुणकट्ठाणि जेण सहिआणि ।
तहवि ण सम्म मग्गो परिचत्तो जेण दढदिहिणा ॥७॥
भारमलो से सीसो गणवो जाओ बिइज्जओ धीरो ।
रिमिराओ तइओ पुण भूओ चोत्थो जयायरिओ ॥८॥
जाओ पंचमपट्टे मघवगणिदो महाविमलहिअओ ।
छट्ठो माणकलालो, डालिमचंदो उ सत्तमिओ ॥९॥
सिद्धिपयासोणो पुण, महाकिवालू अ कालुगणणाहो ।
जस्स सासणे वुड्ढि-अउल पत्तो गणो एसो ॥१०॥
मंदो मह सारिच्छो[1] जस्साणुग्गहसुहा-मुससित्तो ।
पत्तो सक्खरअ हो ! गुरुमाहप्पो अवत्तव्वो ॥११॥

---

1 मद्दस ।

काव्य कारकस्य प्रशस्तिः

श्रुत्वा चरितमेतद् जगद्वैचित्री विज्ञाता भवेत् ।
चापल्यं लक्ष्म्याः स्वार्थपरं बन्धु-प्रेम च ॥ १ ॥

ततो धर्मकार्ये च भव्यानां भावना स्थिरा भवति ।
धर्मात् सर्वेषां सुखानां शोभना प्राप्तिः ॥ २ ॥
किं बहुना धर्म एव भव्यैः सर्वदा स्वयं सेव्यः ।
अध्यात्म-सुख-निदानं त्रैलोक्ये सारभूतो यः ॥ ३ ॥

तेरापथस्य प्रथम आचार्यो भिक्षुनामको जातः ।
धीरो जलधि-गभीरोऽस्खलिताचार-संयुक्तः ॥ ४ ॥

पृथक् पन्थाः मोक्षस्य च संसारस्य च तथा पृथग् मार्गः ।
एकीभवन्ति न कदा, इति व्याकरणं कृतं येन ॥ ५ ॥

पाप-कारणं रागो, मूलं धर्माणामस्ति जीव-दया ।
कथं नु मिश्रीभावं लभेते ते, कथितं येन ॥ ६ ॥
नाना-विधानि पुनरपि दारुण-कष्टानि येन सोढानि ।
तथापि न सम्यग्मार्गः परित्यक्तो येन दृढधृतिना ॥ ७ ॥
भारमलस्तस्य शिष्यो गणपो जातो द्वितीयको धीरो ।
ऋषिरायस्तृतीयः पुनर्भूतश्चतुर्थो जयाचार्यः ॥ ८ ॥
जातः पञ्चमपट्टे मघवगणेन्द्रो महाविमलहृदयः ।
षष्ठो माणकलालो डालमचन्द्रस्तु साम्प्तमिकः ॥ ९ ॥
सिद्धिपदासीनः पुनर्महाकृपालुश्च कालुगणनाथः ।
यस्य शासने वृद्धिमतुलां प्राप्तो गण एषः ॥१०॥
मन्दो मम सदृक्षो यस्यानुग्रहसुधा-सुसंसिक्तः ।
प्राप्तः साक्षरतामहो ! गुरुमाहात्म्यमवक्तव्यम् ॥११॥

णवमासणस्स णाहो संपइ तुलसी पहाविआयरिओ ।
उज्जमसीलो सुअरं, जुगाणुऊल उवइसतो ॥१२॥
अणुव्वयदोलणओ आहुणिआ जेण सगया विहिआ ।
काउ वत्तालाव उवेंति णाणाविहा लोआ ॥१३॥
तेसिं गुरुचरणाणं अणुओ मुणिकेवलस्स जो पुत्तो ।
धणमुणिणो दीवाए अज्जाए अवरजो भाया ॥१४॥
मुणिचंदणाभिहाणो वट्टइ जो कव्व-कप्पणा-रसिओ ।
एगावण्णमवरिसे पढिआ पाइअ-गिरा जेण ॥१५॥
बालेहि पि सुगेज्झ अप्प-समास, तहा कहामहुरं ।
लिहिअं गज्ज कव्वं पाइअ-भासा-पवेसट्ठं ॥१६॥
गुज्जरभासागेया मोहणविजयेण जा कया रयणा ।
कहाणयं तत्तो च्चिअ साभारं गहिअमेअम्मि ॥१७॥
पढमिल्लेत्थ, पयासे दोसाण सभवो हवे कोइ ।
सब्भावता पुरिसा, दोस-विसुद्धि करिस्संति ॥१८॥
कर[२] कर[२] णह[०] कर[२] वरिसे जयपुरणयरे कया चउम्मासी ।
लाल-मूलमुणि - जुग्ग कुणेइ सेव्व सुभावेणं ॥१९॥
अक्कमणे साणाणं जा जायाऽतक्किया करे पीला ।
तम्मि विरइअ कव्व, कल्लाण सव्वओ हवउ ॥२०॥

इअ कव्वकारगस्स पसत्थी
समत्ति पत्तोऽयं गंथो ।

---

१ सं० २०२२, २ श्वानानाम्—मृगयाश्वानानां अतर्किते आक्रमणे जाते चन्दनमुने करपीडा जाता, बद्धःपक्वपट्टः । तस्मिन्-तथान्तराले काले इद काव्य विरचितम् ।

नवमासनस्य नाथः सम्प्रति तुलसी प्रभाविकाचार्यः ।
उद्यमशीलः सुतरां युगानुकूलमुपदिशन् ॥१२॥

अणुव्रतान्दोलनतः आधुनिका येन संगता विहिताः ।
वक्तुं वार्तालापं उपयन्ति नानाविधा लोकाः ॥१३॥

तेषां गुरुचरणानामनुगो मुनि केवलस्य यः पुत्रः ।
धनमुनेर्दीपाया आर्याया अवरजो भ्राता ॥१४॥

मुनिचन्दनाभिधानो वर्तते यः काव्यकल्पनारसिकः ।
एकपञ्चाशद्वर्षे पठिता प्राकृतगिरा येन ॥१५॥

बालैरपि सुग्राह्यं अल्प-समासं तथा कथामधुरम् ।
लिखितं गद्यं काव्यं प्राकृतभाषा-प्रवेशार्थम् ॥१६॥

गुर्जरभाषागेया मोहनविजयेन या कृता रचना ।
कथानकं तस्मादेव साभारं गृहीतमेतस्मिन् ॥१७॥

प्राथमिकेऽत्र प्रयासे दोषाणां संभवो भवेत् कोऽपि ।
संख्यावन्तः पुरुषा दोष-विशुद्धिं करिष्यन्ति ॥१८॥

२ २ ० २
कर-कर-नभ-कर-वर्षे जयपुर नगरे कृता चतुर्मासी ।
लाल-मूल-मुनियुग्मं करोति सेवां सुभावेन ॥१९॥

आक्रमणे श्वानानां या जाताऽतर्किता करे पीडा ।
तस्मिन् विरचितं काव्यं कल्याणं सर्वतो भवतु ॥२०॥

इति काव्यकारकस्य प्रशस्तिः ।

समाप्तिं प्राप्तोऽयं ग्रन्थः ।



श्री चन्दनमुनि विरचित

प्राकृतभाषा-निबद्ध रत्नपाल-कथा

(हिन्दी रूपान्तर)

मंगलाचरण

(१) मैं भक्तिपूर्वक अर्हन्तदेव का स्मरण करता हूँ। उनमें सहज ही अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतचारित्र और अनंतबल प्रस्फुटित होते हैं।

(२) आठों ही कर्मों का समूल नाश कर स्वभाव में लीन तथा जन्म-मरण से रहित सिद्ध भगवान मुझे सिद्धि प्रदान करें—मुझे मेरा लक्ष्य प्राप्त कराएं।

(३) आचार्य समस्त प्राणियों को सम्यक्त्व और ज्ञान की संप्राप्ति कराकर उनका महान् उपकार करते हैं। कौन उनकी स्तुति नहीं करेगा?

(४) जिनके सान्निध्य से विद्या का विस्तार सुलभ होता है, वे भवतप्ति को उपशान्त करने वाले उपाध्याय मेरे शरणभूत हों।

(५) उन साधुओं के पद-पंकज में कौन प्रणत नहीं होता, जिनके दर्शन मात्र से कोटि-कोटि भव परंपराओं का नाश होता है।

(६) इस प्रकार इन पांच परमेष्ठियों की भावपूजा कर मैं अल्पज्ञ काव्य-कलना मे सहज प्रवृत्त होता हूँ।

(७) जो व्यक्ति पर-पुद्गलो मे आसक्त रहते है, उनके सुख-दुःख की परिभाषा क्या हो सकती है ? ओह ! ससार बडा विचित्र है।

(८) पुद्गलमय ससार की सारी लीला क्षणभगुर है। यहां क्या हँसना ? क्या रोना ? क्या शोक ? और कौन-सा आनन्द है ?

(९) एक ही जीव अपने एक ही जन्म मे किस प्रकार कर्मों की विचित्रता का अनुभव करता है, (किस प्रकार उत्थान और पतन के चक्र से गुजरता है) इसका सम्यग् निदर्शन यह 'रत्नपाल कथा' है।

(१०) यद्यपि यह मेरी काव्य रचना, काव्य की छटा से रहित है, फिर भी यह कथा मधुर और स्वभावत सरस है। क्या अनलकृत बालक भी मनुष्यो के मन को आकर्षित नही करता ?

१

पहला उच्छ्वास



प्राचीन काल में पुरिमताल नामक नगर था। वह प्राकृतिक सौन्दर्य से शोभित और अनेक उद्यानों तथा पर्वतों से परिमंडित था। वहां शूरसेन नाम का राजा राज्य करता था। वह राजनीति और धर्म-नीति में अत्यन्त निपुण, चोर, लंपट और लुटेरों के लिए क्रूर होते हुए भी अत्यधिक सौम्य था। उस उद्यमी राजा ने अपने भुजबल से शत्रुओं को भयभीत कर दिया था।

वहां अनेक इभ्य, श्रेष्ठी तथा गाथापति रहते थे। वे बहुत धनाढ्य, मान और मात्सर्य से रहित थे। वे मितव्ययी थे, किन्तु उनका धन अच्छे कामों में नदी के स्रोत की तरह बहता था। उनकी लज्जालुदृष्टि परस्त्रियों को माता की दृष्टि से देखती थी। वे तत्त्वज्ञ थे। कभी अपराध हो जाने पर तत्काल प्रायश्चित्त स्वीकार करने के लिए उद्यत रहते थे। कल या परसों करने वाला शुभ कार्य हम अभी करलें इस प्रकार वे विशेष जागृत रहते थे। प्रायः वहां के धनाढय व्यक्ति भी दूसरों के दुःख में स्वयं दुःखित होते थे। वे क्षमाशील होते हुए भी धार्मिक पराभव को कभी सहन नहीं करते थे। दूसरे-दूसरे कार्यों का भार आ जाने पर भी वे धर्म-कार्य को प्रधान मानते थे। अहो आश्चर्य! मनुष्य जन्म की उनकी सफलता देखकर देव भी वैसा बनने के लिए स्पर्द्धा करते रहते थे।

इस प्रकार सेठ जिनदत्त के सारी अनुकूलताएँ थीं, किन्तु वह एक चिंता-शल्य से उद्विग्न रहता था। कुलदीपक पुत्र के बिना सारा धन-धान्य भृत्य और नौकरों से परिपूर्ण सुसज्जित और सुमंडित घर भी श्मशान की भाँति परिलक्षित होता था। हा! विधि कितनी निष्ठुर और कृपण है। वह किसी का सर्वांग सुख सह नहीं सकती। सभी प्रकार से सुखी होते हुए भी मनुष्य प्रायः कुछ प्रतिकूलता का अनुभव करता ही है। यह ठीक ही है कि अमृत के स्रोत में कहीं न कहीं कालकूट जहर की कोई सूक्ष्म रेखा रहती है। मनुष्य अल्पज्ञ है, मनुष्य के भाग्य में क्या शुभ-अशुभ लिखा है, वह जान नहीं सकता। जिनदत्त अध्यात्मतत्व का वेत्ता था। वह जानता था कि पुद्गलों की परिणति आपात-भद्र और परिणाम-दारुण होती है। इसलिए वह अन्तर्गत चिन्ताशल्य को बहुत नहीं मानता था। वह प्रतिक्षण नमस्कार महामंत्र का स्मरण करता हुआ, सुख से जीवन बिताता था।

एक बार कौमुदी महोत्सव का समय आया। बहुत सारे पौरजन अनेक प्रकार के वस्त्र और मूल्यवान आभूषणों को धारणकर, अपने-अपने परिवार से परिवृत हो सानन्द यान में या पैदल ही उद्यान की ओर चल पड़े।

भानुमती भी भोजन आदि सभी गृहकार्यों से निवृत्त हो, अपने भवन के वातायन में जा बैठी और चौराहे को देखने लगी। अकस्मात् उसकी दृष्टि स्त्रियों के समूह पर जा पड़ी। वे सब अपने पुत्र-पौत्रों से परिवृत हो अनेक क्रीड़ाओं में संसक्त थीं। वे परस्पर मिलती थीं, हँसती थीं और खेलती थीं तथा बालकों के सम्बन्ध में नाना प्रकार की बातें करतीं थीं। कई स्त्रियां अपने बच्चों की अंगुली पकड़ कर मधुरालाप करती हुईं, उनको धीरे-धीरे चला रही थीं। कई स्त्रियाँ अपने रोते बच्चों को अनेक प्रकार खिलौने देकर उनको सन्तुष्ट कर रही थीं। हमें गोद में उठाओ—इस प्रकार कई बच्चे हठ कर रहे थे। उनकी माताएँ उन्हें गोद में उठाकर, उनके मुखकमल का चुम्बन ले सुख का अनुभव करती थीं। कहीं पर धान्यकण भक्षण में संलग्न कबूतरों के समूह को देखकर कोई अजान बालक माता को विचित्र प्रश्नों से विस्मित बना रहा था। कई माताएँ आगे चलनेवाले किसी जटाधारी को दिखाते हुए अपने बच्चों को शीघ्र ही दौड़ने के लिए कह रही थीं। अनेक स्त्रियाँ नाना प्रकार की मिठाइयाँ खरीद कर बड़े प्रेम से अपने बच्चों के मुँह में दे रही थीं। कई स्त्रियाँ बच्चों के साथ, मन को आह्लाद देने वाली बातें करती हुई अनेक प्रकार के गृह-कार्यों से उत्पन्न मानसिक खेद को कमकर रही थीं। इस प्रकार अनेक बाल-क्रीड़ाओं में रत माताओं को

भूमि पर अवतरित होकर मैं ही एक ऐसी हूँ कि जिसे स्त्रियों की पक्ति में नगण्य स्थान प्राप्त है।"

"प्रियवर! आपके इस वज्र जैसे कठोर हृदय में खेद क्यों नहीं होता? अपना विवाह हुए कितना काल बीत चुका परन्तु भाग्य ने हमें एक भी कुल-दीपक संतान की प्राप्ति नहीं कराई। मैंने कभी स्वप्न में भी संतान की बात नहीं सुनी। अनेक उपाय किये। थोड़े समय तक उनसे आशा का प्रकाश दीखा, किन्तु अन्त में वे भी फेन के बुदबुदों की तरह विलीन हो गए। कुल सूर्य के समान पुत्र बिना अपनी अतुलसंपत्ति की रक्षा कैसे होगी? संपूर्ण पुरजनों में प्रतिष्ठित आपका नाम क्या आगामी वंश-परम्परा में विस्मृत नहीं हो जाएगा?" इस प्रकार गद्‌गद् स्वर में बोलती हुई भानुमती पुनः रोने लगी।

भानुमती के हृदय में प्रज्वलित शोकाग्नि को ज्यों-त्यों बुझाकर जिनदत्त ने कहा—"सुभगे! तू तत्त्वों को जानती है, फिर भी तू निरर्थक चिन्ता के वितान को क्यों पकड़े हुए है? क्या तू नहीं जानती कि भाग्यरेखा अनुल्लंघनीय होती है? प्रत्येक पामर प्राणी को अपने किए हुए कर्मों का भार चाहे-अनचाहे वहन करना ही पड़ता है। हम प्रतिदिन पुत्र-प्राप्ति के लिए कोई न कोई उपाय करते ही रहते हैं फिर भी यदि हमारी आशा फलीभूत नहीं होती है तो इसे अन्तराय कर्म कृत ही जानना चाहिए।"

"अभी तक कुछ भी नहीं बिगड़ा है यदि अपने कष्टों के बादल समूह पुण्य की वायु से प्रताड़ित होकर नष्ट हो जाय तो शीघ्र ही अपना मनोरथों का कल्पवृक्ष फलित और पुष्पित हो सकता है।"

"आशा अमर धन है"—यह प्रसिद्ध लोकोक्ति है। इसलिए हमें हताश नहीं होना चाहिए।

उसी क्षण वहाँ यक्ष और यक्षिणी का युगल प्रादुर्भूत हुआ। रुदन करती हुई भानुमती की अनुकम्पा से प्रेरित होकर यक्षिणी ने आगे चलने वाले यक्ष को अनुरोध कर उसे दर्शन दिए। यक्षिणी ने सहानुभूति पूर्ण मधुर शब्दों से चिन्ता के प्रयोजन की जिज्ञासा की। भानुमती रुदन करते हुए युगल को प्रणाम कर चिन्ता का सम्पूर्ण कारण बताते हुए कहा—"मैं इस पुत्रवन्ध्य शून्यजीवन को चिरकाल नहीं ढो सकती। हमारा यह शुभ दिन है कि हमें अनायास ही आपके दिव्य-दर्शन प्राप्त हुए हैं। निश्चित ही हमारे कष्ट नष्ट हो जाएँगे। मंगलों का आगमन होगा और शुभ भविष्य का उदय होगा।

देव अकथनीय प्रभाव वाले होते हैं। हम पर आप अनुग्रह करें। महानुभाव अनुग्रहशील होते हैं।" इस प्रकार भानुमती विनय-पूर्वक कहती हुई उनके चरणों में गिर पड़ी।

तत्काल कृपालु यक्षाधिपति ने अवधिज्ञान से उनका भविष्य देखा और कुछ म्लान से बनते हुए प्रत्युत्तर में कहा—"श्रेष्ठिवर ! मैं वर देते हुए लज्जित होता हूँ ! सुनो, यदि पुत्र होगा तो लक्ष्मी का नाश होगा। तुम्हें घर-बार छोड़ना होगा, पुत्र भी औरों के हाथों में वृद्धि पाएगा। बोलो, क्या वरदान दूं ? भानुमती का हृदय हर्ष से प्रफुल्लित और मुख-कमल विकसित हो गया। पति के बोलने के पहले ही वह कहने लगी—"आपके वरदान का मैं अभिनन्दन करती हूँ—आप अनुग्रह करें, अनुग्रह करें। यक्षनाथ ! यदि ऐश्वर्य के विनिमय से कुल सूर्य (पुत्र) के दर्शन होते हैं तो कुछ भी चिन्तन करने की आवश्यकता नहीं है। पुत्र से विहीन व्यक्तियों का हृदय प्रतिपल विक्षुब्ध रहता है। उस दरिद्रता से उत्पन्न दुःख को पुत्र का मुख देखकर विस्मृत हो जायेंगे। इसलिए देव ! कृपा करें।"

कृपालु यक्ष ने उसी क्षण 'तथास्तु' कहा। दंपति हाथ जोड़े खड़े रहे। यक्ष युगल तत्क्षण अन्तर्ध्यान हो गया।

कुछ काल बीता ! भानुमती गर्भवती हुई। हर्ष का सागर उमड़ पड़ा। सभी स्वजनों ने यह जाना कि सेठानी भानुमती गर्भवती हुई है। उन्हें आनन्द हुआ। किन्तु अब चिरसंचित ऐश्वर्य प्रतिदिन नष्ट होने लगा। एक ओर से यह समाचार प्राप्त हुआ कि विविध बहुमूल्य पदार्थों से भरे हुए जहाज समुद्र में डूब गए हैं। एक ओर से यह संदेश आया कि कहीं गेहूँ आदि धान्यों के भंडार अकस्मात् अग्नि से जल गए हैं। दूसरे स्थान से यह वृत्तान्त प्राप्त हुआ कि अमुक प्रमुख मुनीम बहुत सम्पत्ति लेकर भाग गया है। इधर व्यापार में सभी वस्तुओं के भाव मन्द हो गए। छः महीनों में सेठ जिनदत्त चारों ओर दरिद्रता से घिर गया। सभी कर्मचारी, भृत्य, व्यापारी और चिर-परिचित व्यक्ति सेठ को छोड़कर दूसरों के अधीन चले गए। इसी प्रकार मित्र, स्वजन, भागीदार और सहचर भी विमुख होगए। ऋण माँगने वाले लोगों ने सेठ की तत्रस्थित स्थावर और जंगम सारी संपत्ति पर अधिकार कर लिया। अदृष्ट भूमिगत धन भी कोई चुरा लेगया। इस प्रकार जिनदत्त निर्धन हो गया। सेठ ने सोचा—"अरे !, यह क्या हुआ ? वंश परंपरा से संचित लक्ष्मी बादलों की तरह कैसे नष्ट हो गई ? विधि का कार्य विचित्र

दरिद्रता से दुःखित अपने पति को देखकर समयज्ञा भानुमती ने कहा—"नाथ ! यह संसार ऐसा ही है। यहाँ की संपूर्ण प्रवृत्ति स्वार्थ-परायण होती है। भाग्य की अनुकूलता में सभी परकीय लोग स्वकीय बन जाते हैं। और प्रतिकूलता में अपने भी पराये बन जाते हैं, और तो क्या, विपरीत परिस्थिति में वस्त्र भी प्रतिकूल हो जाते हैं, तो भी हीन भावना नहीं लानी चाहिए, आशा रूपी रज्जु को नहीं तोड़ना चाहिए, प्रयत्न नहीं छोड़ना चाहिए। कभी प्रयत्न रूपी जल से सिंचित आशावल्ली फलीभूत हो सकती है। मैं सोचती हूँ कि मन्मन नाम का सेठ आपका परमप्रिय बाल साथी है। कदाचित् वह ऐसी विपत्ति में आपका सहायक हो सके। मेरे कहने से उसकी एक बार पुनः परीक्षा करनी चाहिए।"

सेठ जिनदत्त मन्मन की क्लिष्ट कृपणता को जानता था, किन्तु विश्वस्त भार्या से बारबार प्रेरित होकर वह उसके घर की ओर जाने के लिए उत्कंठित हुआ। मार्ग में जाते हुए, ज्यों-ज्यों कृपण मन्मन का घर नजदीक हो रहा था त्यों-त्यों जिनदत्त का अन्तःकरण उद्विग्न बनता जा रहा था। उसने सोचा—"धिक्कार है, धिक्कार है, 'जिनदत्त !' तू जी रहा है। तू अधम से अधम याचना के कार्यों को स्वीकार कर रहा है। क्या याचना से मरण पवित्र नहीं है, अच्छा नहीं है ? वेग से चलते हुए सेठ के चरण वहीं स्तम्भित हो गए। धैर्य का आलम्बन ले उसने पुनः सोचा—'इस आकुलता से बस !! पुरुष पुरुषार्थ के द्वारा निश्चित ही सभी दुःखों पर विजय पा सकता है—इस प्रकार वह सोचता हुआ आगे चला। विषाद से भरे अन्तःकरण से वह ज्यों-त्यों मन्मन सेठ के घर पहुँचा।

खेदखिन्न जिनदत्त को आते देखकर मन्मन विस्मित हुआ। वह तत्काल उठा और ससंभ्रम उसके सामने गया और 'स्वागत' है ऐसा कहता हुआ उसको आसन देकर संतुष्ट किया। उसने उसके आगमन का कारण पूछा और मधुर वचनों से उसे आश्वासन दिया।

जिनदत्त ने विचलित हृदय से अपनी मनोवेदना कह सुनाई। उसने कहा—"मित्रवर ! मेरा वृत्तान्त अकथनीय है। उसे मैं क्या कहूँ ? मैं विपत्ति के भयंकर जाल में गिर पड़ा हूँ। मेरे किए हुए सारे प्रयत्न विफल हो चुके हैं। अन्त में तुम मेरे बालसाथी और मेरी आशा के आलम्बन हो। ऐसा सोचकर तुम्हारे पास आया हूँ। तुम कुछ सामयिक सहायता दो जिससे कि मेरी गर्भवती पत्नी का सप्त-मासिक महोत्सव सुसम्पन्न हो सके। तुम्हारे

दरिद्रता से दुःखित अपने पति को देखकर समयज्ञा भानुमती ने कहा—"नाथ ! यह संसार ऐसा ही है। यहाँ की संपूर्ण प्रवृत्ति स्वार्थ-परायण होती है। भाग्य की अनुकूलता में सभी परकीय लोग स्वकीय बन जाते हैं। और प्रतिकूलता में अपने भी पराये बन जाते हैं, और तो क्या, विपरीत परिस्थिति में वस्त्र भी प्रतिकूल हो जाते हैं, तो भी हीन भावना नहीं लानी चाहिए, आशा रूपी रज्जु को नहीं तोड़ना चाहिए, प्रयत्न नहीं छोड़ना चाहिए। कभी प्रयत्न रूपी जल से सिंचित आशावल्ली फलीभूत हो सकती है। मैं सोचती हूँ कि मन्मन नाम का सेठ आपका परमप्रिय बाल साथी है। कदाचित् वह ऐसी विपत्ति में आपका सहायक हो सके। मेरे कहने से उसकी एक बार पुनः परीक्षा करनी चाहिए।"

सेठ जिनदत्त मन्मन की क्लिष्ट कृपणता को जानता था, किन्तु विश्वस्त भार्या से बारबार प्रेरित होकर वह उसके घर की ओर जाने के लिए उत्कंठित हुआ। मार्ग में जाते हुए, ज्यों-ज्यों कृपण मन्मन का घर नजदीक हो रहा था त्यों-त्यों जिनदत्त का अन्तःकरण उद्विग्न बनता जा रहा था। उसने सोचा—"धिक्कार है, धिक्कार है, 'जिनदत्त !' तू जी रहा है। तू अधम से अधम याचना के कार्यों को स्वीकार कर रहा है। क्या याचना से मरण पवित्र नहीं है, अच्छा नहीं है ? वेग से चलते हुए सेठ के चरण वहीं स्तम्भित हो गए। धैर्य का आलम्बन ले उसने पुनः सोचा—'इस आकुलता से बस !! पुरुष पुरुपार्थ के द्वारा निश्चित ही सभी दुःखों पर विजय पा सकता है—इस प्रकार वह सोचता हुआ आगे चला। विपाद से भरे अन्तःकरण से वह ज्यों-त्यों मन्मन सेठ के घर पहुँचा।

खेदखिन्न जिनदत्त को आते देखकर मन्मन विस्मित हुआ। वह तत्काल उठा और ससंभ्रम उसके सामने गया और 'स्वागत' है ऐसा कहता हुआ उसको आसन देकर संतुष्ट किया। उसने उसके आगमन का कारण पूछा और मधुर वचनों से उसे आश्वासन दिया।

जिनदत्त ने विचलित हृदय से अपनी मनोवेदना कह सुनाई। उसने कहा—"मित्रवर ! मेरा वृत्तान्त अकथनीय है। उसे मैं क्या कहूँ ? मैं विपत्ति के भयंकर जाल में गिर पड़ा हूँ। मेरे किए हुए सारे प्रयत्न विफल हो चुके हैं। अन्त में तुम मेरे बालसाथी और मेरी आशा के आलम्बन हो। ऐसा सोचकर तुम्हारे पास आया हूँ। तुम कुछ सामयिक सहायता दो जिससे कि मेरी गर्भवती पत्नी का सप्त-मासिक महोत्सव सुसम्पन्न हो सके। तुम्हारे

सखे ! यदि तुम विनिमय के बिना कुछ भी देना नहीं चाहते तो मेरी पत्नी का गर्भ (गर्भ में रहे बालक को) रखकर मुझे यथायोग्य धन दो।"

जिनदत्त की बात सुनकर मन्मन तत्काल ही सहर्ष सहमत हो गया। उसने कहा—"मित्र ! तुमने अच्छा निर्णय किया है। पुत्र के विनिमय से जो कुछ तुम चाहो वह शीघ्र ही लो, मैं देने के लिए तैयार हूँ।"

उसी समय एक प्रतिज्ञा पत्र लिखा गया। उसमें लिखा था—'जन्म के अनन्तर मेरा पुत्र मन्मन के घर पर पुत्र रूप में बड़ा होगा। जब वह युवा अवस्था को प्राप्त हो, अच्छी तरह से विद्या का अध्ययन करले, तब सेठ मन्मन उसे धन कमाने के लिए देशान्तर में भेजे। जब वह धन कमाकर अपने घर में लौटे और व्याज सहित सारा ऋण मन्मन को अर्पित करे तब ही वह अपने पिता के घर जा सकेगा।' इस प्रकार दोनों ने सम्मत होकर यह लेख लिखा। इस पर नगर के पाँच प्रमुख व्यक्तियों के साक्षी रूप हस्ताक्षर हुए और उसकी एक प्रति मन्मन ने और दूसरी जिनदत्त ने ली। उसके विनिमय से जिनदत्त ने हजार दीनार (सोने का सिक्का) प्राप्त किए।

इधर धन की चिन्ता से संतप्त भानुमती पति की चिर प्रतीक्षा कर रही थी। "आर्यपुत्र धन लेकर क्यों नहीं आए ? क्या सारी पृथ्वी हमारे लिए दरिद्रता से स्पृष्ट होगई है ? क्या सभी ने कृतज्ञता भुलादी है ? क्या सभी सहचरों ने आँखों की शर्म भी छोड़ दी है ?"

इतने में ही उसने देखा कि म्लान मुख लिए पतिदेव धीरे-धीरे भवन में प्रवेश कर रहे हैं। वह शीघ्र ही उनके सम्मुख गई और अधैर्य से उसने पूछा—"क्या हुआ ?"

अपने अकरणीय कार्य से बाधित होता हुआ, सेठ जिनदत्त मौन रहा। 'मेरे द्वारा विहित कार्य का, यह मातृ हृदया मेरी पत्नी, अनुमोदन करेगी या नहीं' इस आशंका से वह व्याकुल हो उठा। थोड़े समय के पश्चात् उसने अपनी पत्नी के सामने सारा वृत्तान्त ज्यों का त्यों कह डाला और उसे हजार दीनार दे दिए। अवसरज्ञ और विनीत भानुमती 'आप ही प्रमाण हैं'—इस प्रकार कहती हुई मौन हो गई।

●

२

दूसरा उच्छ्वास



प्राय मनुष्य गतानुगतिक होते है। जो मुखिया लोग हैं—जिनका नाम विख्यात है, वे प्रतिकूल भाग्य और सर्वाङ्गीण विपत्ति के समय मे भी उस आडम्बर युक्त कार्य (रूढि) को छोडना नही चाहते जो कि अनुकूल समय मे निर्वहनीय, परपरा से प्रतिष्ठित और क्षणिक गौरव को बढाने वाला है। वे लोग 'कल क्या होगा'—इसका विमर्श नही करते। उनकी गर्वीली आंखे भविष्य मे होने वाले परिणाम को नही देख पाती।

मुखचन्द्र को देखकर परम प्रसन्न हुई। भाग्य ने उसके चिरपरिकल्पित दोहद की पूर्ति की। अनेक मित्र आनन्दित हुए और उन्होंने सेठ से उपहार प्राप्त किया।

जब मन्मन ने जिनदत्त के पुत्रोत्पत्ति की बात सुनी तब उसने पुत्र को लाने के लिए शीघ्र ही अपने सेवक भेजे। वे जिनदत्त के घर आए और बोले—'हम मन्मन के यहाँ से इस नवजात शिशु को लेने के लिए आए हैं।'

उनकी याचना सुनकर सेठ का हृदय सहसा टूट गया। उसने सोचा—'हा! हा! अभी लेने आ गए? इतना अविश्वास? तो भी अपने भाव को छिपाता हुआ उदास मुख से वह बोला—"भद्र! आज ही पुत्र जन्मा है। अभी तक कोई उत्सव नहीं किया है। पुत्र का नाम भी नहीं रखा है। अभी प्रीतिभोज आदि भी नहीं किए हैं। आप अपने स्वामी से कुछ प्रतीक्षा करने की प्रार्थना करें। मैं उनकी वस्तु उनको निश्चित रूप से समर्पित करूँगा, इसमें कोई संदेह नहीं है। किन्तु उस उदारमना महानुभाव को सत्ताईस दिन-रात तक ठहरना होगा।"

सेवक लौट गए। सारी घटित बातें मन्मन को कह सुनाईं। मन्मन का अविश्वस्त मन चिन्ता से व्याकुल हो गया। 'जिनदत्त अपनी भार्या के साथ बालक को लेकर भाग न जाय, इसलिए मैं पहले ही संरक्षण करूं'—ऐसा सोचकर मन्मन ने तत्काल अपने सशस्त्र पुरुषों को बुला भेजा। उन्हें आज्ञा देते हुए कहा—'तुम्हें जिनदत्त के भवन के सामने जागरूकता से रहना है और रात-दिन यह देखना है कि कुछ अनिष्ट घटना घटित न हो जाए और अतीत में निश्चित किए हुए काल के अनुसार बच्चे को लेकर मेरे पास आ जाना है।'

सशस्त्र पुरुष शीघ्र ही वहां आ गए और भवन के आगे जागरूकता से बैठ गए। 'कौन बाहर आ रहा है, कौन अन्दर प्रवेश कर रहा है—इस बात को वे सलक्ष्य और सावधानी से देख रहे थे। सेठ ने बालक का अपूर्व जन्म-महोत्सव सम्पन्न किया। इस अवसर पर उसे अनेक शुभसंदेश प्राप्त हुए। अनेक स्वजन वहाँ सम्मिलित हुए। अपनी प्रतिष्ठा के अनुरूप सेठ ने प्रीति-भोज आदि कार्य किए और यथोचित दान दिया। बालक की भुआ ने बालक का शुभनाम 'रत्नपाल' रखा। परम प्रेम से पोषित कौटुम्बिक जन बालक को शुभ आशीर्वाद देते हुए अपने-अपने स्थान पर लौट गए।

क्षणों की तरह अलक्षित ही सत्ताईस रात-दिन बीत गए। अपने परम प्रिय पुत्र के दर्शन में बाधा उपस्थित करने वाला प्रातःकाल उदित हुआ।

से तथा आंसुओं को बहाती हुई भानुमती म्लानहृदय और दुःखित मन से अन्त में पुत्र को समर्पित करती हुई बोली—'भव्य ! यह पुत्र हमारे हृदय का टुकड़ा, नयन की ज्योति, कृपण का धन और जीवन का सर्वस्व है। इस पर अनेक आशाएँ हैं। एक क्षण के लिए भी इसे दूर करने के लिए मन नहीं होता, किन्तु भवितव्यता की बात अकथनीय होती है। भाग्य की रेखा अनुल्लंघनीय होती है। इसलिए विधिवत् इसकी सम्यक् सुरक्षा करें, कल्पवृक्ष की तरह इसकी सतत सेवा करें और धर्म की भांति इसका प्रतिपल पालन करें। और अधिक क्या कहूँ, इसका एक भी बाल बांका न हो—ऐसा आप प्रयत्न करें।' इस प्रकार बहुत कुछ बोलती हुई भानुमती ने बालक रत्नपाल को जोर से छाती से लगाया और सस्नेह उसके मुख का चुम्बन लिया। उस बालक को आंसुओं से सींचती हुई, अनेक शुभ आशीर्वादों से परितुष्ट करती हुई उसने अपने हाथों से उन भृत्यों के हाथों में उसे समर्पित कर दिया।

देव द्वारा प्रदत्त उस हंसते हुए सुकुमार बालक को लेकर वे पुरुष शीघ्र ही मन्मन के पास आए। उन्होंने बालक की माँ भानुमती के अभिप्राय को ज्यों का त्यों निपुणता से प्रकट करते हुए अपने स्वामी मन्मन के हाथों में बालक को सौंप दिया।

अनेक सामुद्रिक लक्षणों से युक्त तथा अनुकूल ग्रहबल को प्राप्त, उज्ज्वल भविष्य वाले उस बालक को देखकर मन्मन श्रेष्ठी बहुत प्रसन्न हुआ। उसने अपनी बांझ भार्या की गोद में उस देवार्पित पुत्र रूपी भेंट को रखते हुए कहा—'किसने इस कल्पवृक्ष को बोया और सींचा है और कहां आकर यह फलित हुआ है ? यह किसने जाना था कि यह वंशभास्कर अपने घर को प्रकाशित करेगा ? कौन जानता था कि शुभ फल देने वाला भाग्य कब कैसे अतर्कित रूप से शुभ फल दे देता है ! निश्चित रूप से यह जान लेना चाहिए कि यह बालक हमारा ही है, दरिद्रता से अभिभूत जिनदत्त का नहीं है। कब सोलह वर्ष पूरे होंगे ? कब यह पुत्र युवा होकर प्रस्थान करेगा ? कब यह व्याज सहित धन कमाकर मुझे देगा ? यह सारी बातें बादलों के चित्र की तरह कल्पना से ही मनोहर हैं। कौन जिएगा, कौन मरेगा—यह कौन जान सकता है ? सुभगे ! इसको अपना औरस पुत्र समझकर इसका तू पालन कर। इसके लालन-पालन में तनिक भी न्यूनता का अनुभव मतकर।

आश्चर्य है कि मन्मन का क्षुद्र, तुच्छ और कृपण मन भी बालक के प्रबल पुण्य से उदार, प्रेम युक्त और अनुकूल हो गया। बालक को गोद में उठाकर

से तथा आंसुओं को बहाती हुई भानुमती म्लानहृदय और दुःखित मन से अन्त में पुत्र को समर्पित करती हुई बोली—'भव्य ! यह पुत्र हमारे हृदय का टुकड़ा, नयन की ज्योति, कृपण का धन और जीवन का सर्वस्व है। इस पर अनेक आशाएँ हैं। एक क्षण के लिए भी इसे दूर करने के लिए मन नहीं होता, किन्तु भवितव्यता की बात अकथनीय होती है। भाग्य की रेखा अनुल्लंघनीय होती है। इसलिए विधिवत् इसकी सम्यक् सुरक्षा करें, कल्पवृक्ष की तरह इसकी सतत सेवा करें और धर्म की भांति इसका प्रतिपल पालन करें। और अधिक क्या कहूँ, इसका एक भी बाल बांका न हो—ऐसा आप प्रयत्न करें।' इस प्रकार बहुत कुछ बोलती हुई भानुमती ने बालक रत्नपाल को जोर से छाती से लगाया और सस्नेह उसके मुख का चुम्बन लिया। उस बालक को आंसुओं से सींचती हुई, अनेक शुभ आशीर्वादों से परितुष्ट करती हुई उसने अपने हाथों से उन भृत्यों के हाथों में उसे समर्पित कर दिया।

देव द्वारा प्रदत्त उस हँसते हुए सुकुमार बालक को लेकर वे पुरुष शीघ्र ही मन्मन के पास आए। उन्होंने बालक की माँ भानुमती के अभिप्राय को ज्यों का त्यों निपुणता से प्रकट करते हुए अपने स्वामी मन्मन के हाथों में बालक को सौंप दिया।

अनेक सामुद्रिक लक्षणों से युक्त तथा अनुकूल ग्रहबल को प्राप्त, उज्ज्वल भविष्य वाले उस बालक को देखकर मन्मन श्रेष्ठी बहुत प्रसन्न हुआ। उसने अपनी बांझ भार्या की गोद में उस देवार्पित पुत्र रूपी भेंट को रखते हुए कहा—'किसने इस कल्पवृक्ष को बोया और सींचा है और कहां आकर यह फलित हुआ है ? यह किसने जाना था कि यह वंशभास्कर अपने घर को प्रकाशित करेगा ? कौन जानता था कि शुभ फल देने वाला भाग्य कब कैसे अतर्कित रूप से शुभ फल दे देता है ! निश्चित रूप से यह जान लेना चाहिए कि यह बालक हमारा ही है, दरिद्रता से अभिभूत जिनदत्त का नहीं है। कब सोलह वर्ष पूरे होंगे ? कब यह पुत्र युवा होकर प्रस्थान करेगा ? कब यह ब्याज सहित धन कमाकर मुझे देगा ? यह सारी बातें बादलों के चित्र की तरह कल्पना से ही मनोहर है। कौन जिएगा, कौन मरेगा—यह कौन जान सकता है ? सुभगे ! इसको अपना औरस पुत्र समझकर इसका तू पालन कर। इसके लालन-पालन में तनिक भी न्यूनता का अनुभव मतकर।

आश्चर्य है कि मन्मन का क्षुद्र, तुच्छ और कृपण मन भी बालक के प्रबल पुण्य से उदार, प्रेम युक्त और अनुकूल हो गया। बालक को गोद में उठाकर

पर रखी हुई पोटली को एक ओर रख दिया। 'आगे कहां जाना है, क्या करना है'—इस प्रकार वे दोनों विचार करने लगे।

इतने में ही एक स्त्री ने अपने झरोखे से देखा कि कोई अपरिचित पथिक घर की वेदिका पर बैठे बातचीत कर रहे हैं। तत्काल वह वहां आई और आंखों से अस्नेह दिखाती हुई वज्र की भांति कठोर वाणी में बोली 'आप बिना जान पहचान के इस घर की वेदिका पर कैसे बैठे हैं ? जो परिचित नहीं है, उन्हें हम स्थान नहीं दे सकते। इसलिए आप अपने किसी परिचित व्यक्ति के घर शीघ्र ही चले जाइए।'

जिनदत्त ने सद्भावना से कहा—'बहन ! हम पथिक हैं। मध्याह्न वेला में विश्राम का यह उपयुक्त स्थान देखकर हम थोड़े समय के लिए यहाँ ठहरें हैं। क्योंकि मनुष्य मनुष्य का ही आश्रय चाहता है। हम स्वयं अपराह्न में आगे चले जायेंगे। अभी तुम अपने मन को उदार कर हमें न उठाओ।'

उस स्त्री ने अपने अहंकार से उसका प्रतिरोध करते हुए कहा—'मानवता का उपदेश बहुत हो चुका। अनेक चोर अपना वेश बदलकर, मीठे बोलते हुए लोगों को लूटने के लिए यहाँ घूमते रहते हैं। इसलिए आप कोई दूसरा स्थान देखें, यहाँ एक क्षण भर के लिए भी न ठहरें।'

इस प्रकार गृहस्वामिनी द्वारा अपमानित होकर उन दोनों ने झट से अपनी पोटली उठाई और आगे चल पड़े। हाय ! जिनका भाग्य-दरिद्रता के कारण मंद हो चुका है, उन व्यक्तियों के दुःख को कौन पूछता है ? आपत्ति में अपने भी पराये हो जाते हैं, तब अपरिचित व्यक्तियों की बात ही क्या ? संसार ऐसा ही है। यहां की सारी लीला बादलों की छाया की तरह चंचल है। यहाँ गाढ स्नेह में भी अप्रीति का प्रादुर्भाव होता है, दिव्य आलोक में भी अन्धकार की रेखा अन्तर्हित रहती हैं और मधुर आलाप में भी कटु उक्ति का प्रसंग रहता है। धिक्कार है, धिक्कार है, तब भी संसारी व्यक्तियों की आखें क्यों बंद रहती हैं ? मनुष्य को पग-पग पर ऐसे सद्यस्क अनुभव पराभूत करते रहते हैं फिर भी उसमें आन्तरिक वैराग्य परिस्फुरित क्यों नहीं होता ? ओह ! अज्ञान का आवरण घना होता हैं। यह सब कुछ प्रत्यक्ष है फिर भी मोह से धृष्ट मति उसे ग्रहण नहीं करती।

भानुमती को संबोधित करते हुए सेठ जिनदत्त ने कहा—'भार्ये ! अपने दिन अभी अनुकूल नहीं हैं। इसलिए इस प्रकार के, पहले कभी अनुभव में न आने वाले प्रसंग आ रहे हैं। फिर भी हमें विमन या दुर्मन नहीं होना है।

यहा हमारे चिरपालित धर्म की परीक्षा हो रही है। आज से आगे हम किसी की शरण नही लेंगे। जहा-कही हम स्वतन्त्र जीवन यापित करेंगे। धन चला गया, इसका दु:ख नही है, किन्तु स्वाभिमान रूप अपना धन न खो जाय—इसकी चिन्ता है। उस ताडित, तिरस्कृत कुत्ते के जीवन से क्या ? जहा मनुष्यो के गुणो का नाम मात्र भी मूल्याकन नही है।' 'आर्यपुत्र'! आप ही मेरे लिए प्रमाण है'—यो कहती हुई भानुमती मौन हो गई।

उन दोनो ने मध्याह्न दिन का आतप तालाब की पाल पर रहे एक वट-वृक्ष के नीचे बिताया। अपराह्न मे वे पुन: दक्षिण दिशा की ओर चल पड़े। एक मुहूर्त रात बीत जाने पर उन्हे एक सुरक्षित वननिकुज मिला। वहा वे विश्राम के लिए बैठ गए। उन्होंने वन के फलो को खाकर अपना पेट भरा और कदलीदल की शय्या बिछाकर सो गए। पुत्र के विरह के कारण उनकी नीद नष्ट हो चुकी थी। कदाचित् आखे बद होती तो भी वे प्रत्यक्षत: पुत्र को देखते हुए बडबडाते ?—'पुत्र! माता की गोद के सुख से वचित तू मत रो! आशा से समीप वह समय भी दूर नही है जब कि हमारा चिरप्रतीक्षित मिलाप होगा। यह क्रूर काल समय के विपाक मे बुद्बुदे की तरह विलीन हो जाएगा। सभी प्रतिकूल सयोग स्वय नष्ट हो जायेगे' इस प्रकार कहते हुए, कल्पना करते हुए जब जागते थे तब पुत्र को सामने न देखते हुए, 'यह सारा स्वप्न था'—ऐसा मानकर विधि को उपालभ देते। इस प्रकार वे करवट बदलते हुए ज्यो-त्यो रात बिताई। प्रभात हुआ। उन दोनो ने प्रतिदिन किए जाने वाले प्रात:कालीन सामायिक आदि आवश्यक अनुष्ठान श्रद्धा और भक्ति से सपन्न किए। सत्पुरुषो का यही लक्षण है कि वे आपत्काल मे भी धार्मिक कृत्यो को नही छोडते। क्या अग्नि परीक्षा मे उत्तीर्ण स्वर्ण देदीप्यमान नही होता ?

सूर्य के उदित होने पर वे आगे चले। इस प्रकार वे निरन्तर प्रयाण करते हुए लम्बे मार्ग को लाघ गए। मार्ग मे अनेक कष्टो को सहते हुए अनेक भीषण वन, अटवी, पर्वत, खाई और नदियो को ज्यो-त्यो पार करते हुए अपने पुत्र के विषय मे अनेक कल्पना करते हुए वसन्तपुर नगर मे आए। वह दक्षिणापथ का प्रमुख नगर था। वह अनेक प्रकार के व्यापारो के लिए प्रसिद्ध, रम्य और दर्शनीय था। दोनो ने यह भली-भाति परामर्श कर लिया कि उन्हे कहा जाना है ? क्या करना है और आजीविका कैसे चलानी है ? 'किसी दूसरे के आश्रय से जीवन नही बिताना है'—इस पूर्व निश्चय के अनुसार वे नगर मे

नहीं गए। नगर के वाहिर भाग में एक सुरम्य स्थान को देखकर उन्होंने वहां एक झोंपड़ी वनाई। उसे मिट्टी और गोवर से लीप कर सव कुछ व्यवस्थित किया और सुखपूर्वक वहीं रहने लगें। आजीविका के निमित्त सेठ ने एक कुठार खरीदा। वह जंगल में जाकर लकड़ियों का गट्ठर लाता और नगर में उसे वेच आता। उससे जो कुछ (धन) मिलता, समयज्ञ भानुमती आय के अनुरूप व्यय करती हुई गार्हस्थ्य का पूर्ण संतोप के साथ संचालन करने लगी। देशान्तर में उन्हें कोई नहीं पहिचानता था। वे ऐसे कार्य को विना लाज-शर्म के करते हुए अपना समय विता रहे थे।

सेठ मन्मन ने जव यह सुना कि जिनदत्त अपनी भार्या के साथ किसी अलक्षित जनापवाद से लज्जित होकर दुर्भाग्य से प्रताडित, विना कुछ कहे ही सहसा रात्रि में भाग गया है, तव उसका कृपण मन प्रमुदित हो उठा। 'ओह! अच्छा हुआ, वहुत अच्छा हुआ। अनायास ही मेरी मनोभावना फलवती हो गई। अव वेचारा कर्जदार जिनदत्त दातव्य धन और उसके व्याज के भार से विक्षुब्ध होकर पुनः नहीं लौटेगा। अव यह कल्पना केवल आकाश-कुसुम की भांति है कि यह जिनदत्त लौटकर अपने साहूकारों का ऋण व्याज सहित चुकायेगा और अपने पुत्र को अपने घर ले जायेगा। अतः अव यह निस्सन्देह हो गया है कि रत्नपाल मेरे घर का दीपक है। भाग्य की कृपा से अपूरणीय क्षति पूरी हो गई। भाग्य की दुर्भर खाई समतल हो गई। निश्चित ही महान् कष्टों से संचित मेरे ऐश्वर्य का यही भविष्य में स्वामी होगा।' इस प्रकार कल्पना-मधुर भविष्य का चिन्तन करता हुआ निर्दय मन्मन वालक की रक्षा के लिए अनेक यत्न कर रहा था। प्रतिदिन वढ़ता हुआ, एक गोद से दूसरी गोद में जाता हुआ वह वालक वहुत प्रिय प्रतिभासित होने लगा। मन्मन ने वालक को संतुष्ट करने के लिए अनेक खिलौने मंगाये। उसे आकर्षक वस्त्रों से अलंकृत किया। उसने उसके हाथों में वलय, गले में मोतियों की माला और कानों में वहुमूल्य कुण्डल पहनाकर उसे सज्जित किया। 'इसे नजर न लग जाए'—इसलिए ललाट और वांहों पर कज्जल की टीकियां लगाईं। और अधिक क्या कहें उस वच्चे के पालन में नाम मात्र की भी कमी नहीं रहने दी।

नहीं गए। नगर के वाहिर भाग में एक सुरम्य स्थान को देखकर उन्होंने वहां एक झोंपड़ी वनाई। उसे मिट्टी और गोवर से लीप कर सव कुछ व्यवस्थित किया और सुखपूर्वक वही रहने लगें। आजीविका के निमित्त सेठ ने एक कुठार खरीदा। वह जंगल में जाकर लकड़ियां का गट्ठर लाता और नगर में उसे वेच आता। उससे जो कुछ (धन) मिलता, समयज्ञ भानुमती आय के अनुरूप व्यय करती हुई गार्हस्थ्य का पूर्ण संतोष के साथ संचालन करने लगी। देशान्तर में उन्हें कोई नहीं पहिचानता था। वे ऐसे कार्य को विना लाज-शर्म के करते हुए अपना समय विता रहे थे।

सेठ मन्मन ने जव यह सुना कि जिनदत्त अपनी भार्या के साथ किसी अलक्षित जनापवाद से लज्जित होकर दुर्भाग्य से प्रताडित, विना कुछ कहे ही सहसा रात्रि में भाग गया है, तव उसका कृपण मन प्रमुदित हो उठा। 'ओह! अच्छा हुआ, वहुत अच्छा हुआ। अनायास ही मेरी मनोभावना फलवती हो गई। अव वेचारा कर्जदार जिनदत्त दातव्य धन और उसके व्याज के भार से विक्षुब्ध होकर पुनः नहीं लौटेगा। अव यह कल्पना केवल आकाश-कुसुम की भांति है कि यह जिनदत्त लौटकर अपने साहूकारों का ऋण व्याज सहित चुकायेगा और अपने पुत्र को अपने घर ले जायेगा। अतः अव यह निस्सन्देह हो गया है कि रत्नपाल मेरे घर का दीपक है। भाग्य की कृपा से अपूरणीय क्षति पूरी हो गई। भाग्य की दुर्भर खाई समतल हो गई। निश्चित ही महान् कष्टों से संचित मेरे ऐश्वर्य का यही भविष्य में स्वामी होगा।' इस प्रकार कल्पना-मधुर भविष्य का चिन्तन करता हुआ निर्दय मन्मन वालक की रक्षा के लिए अनेक यत्न कर रहा था। प्रतिदिन वढ़ता हुआ, एक गोद से दूसरी गोद में जाता हुआ वह वालक वहुत प्रिय प्रतिभासित होने लगा। मन्मन ने वालक को संतुष्ट करने के लिए अनेक खिलौने मंगाये। उसे आकर्षक वस्त्रों से अलंकृत किया। उसने उसके हाथों में वलय, गले में मोतियों की माला और कानों में वहुमूल्य कुण्डल पहनाकर उसे सज्जित किया। 'इसे नजर न लग जाए'—इसलिए ललाट और वांहों पर कज्जल की टीकियां लगाईं। और अधिक क्या कहें उस वच्चे के पालन में नाम मात्र की भी कमी नहीं रहने दी।

३

तीसरा उच्छ्वास



समस्त प्राणीलोक के ताप का निवारक, अनेक प्रकार के वृक्ष, लता, पुष्प, फल और गुल्म तथा विचित्र प्रकार के तृण और वनस्पतियों का उत्पादक, निर्जन प्रदेश का एक मात्र आधार और कृषिको द्वारा अनिमिष दृष्टि से देखा जाने वाला तथा चिर-प्रतीक्षित वर्षा-काल का आगमन हुआ। उस समय आकाश मे मेघमाला उठी। वह भ्रमर और महिष को तरह कृष्ण होती हुई भी नयनाभिराम थी, धूलि के ढेरों को उठाती हुई भी नीरज थी, अन्धकार फैलाती हुई भी मन को प्रकाशित करती थी, चञ्चल प्रकाश वाली होती हुई भी भविष्य के उज्ज्वल प्रकाश को लक्षित करती थी, कर्णभेदी गर्जना करती हुई भी कर्णप्रिय थी, प्राचीन पवन से प्रेरित होती हुई भी वह नवीन थी। 'मैं अभी सबको सतुष्ट कर दू' मानो ऐसा सोचकर धाराप्रवाह से बरसने लगी। चारो ओर आकाश और भूतल जल से प्लावित हो गया। हमे संग्रह रुचिकर नही है—इस प्रकार सोचते हुए मानो पनाले मूसलाधार रूप से नीचे गिरने लगे। नगर की गलियो ने विविध नदियो का रूप धारण कर लिया था। सूखे कुओ मे भी ऊपर तक पानी भर गया। जलराशि धारण करने मे असमर्थ तुच्छ तालाबो मे पानी छलक कर आगे बहने लगा। जल से आप्लावित नदियो ने अपने तट को विशाल बना लिया। ताप का नामोनिशान मिट

गया ! चारों ओर से उस समय मधुर लगने वाली मेंढकों की टर्-टर् सुनाई देने लगी। अपने जीवन-धन पानी को पाकर चिरमूर्च्छित वनराजी खिल उठी। कृषकों ने अपने बैलों के साथ कृषि के उपकरणों की पूजा की ! वे नक्षत्रों के बलाबल को जानकर, शुभ-शकुनों को पाकर, बीजों का वपन करने के लिए अपने-अपने खेतों की ओर चल पड़े। अहो ! चारों ओर सर्वाङ्गीण सौन्दर्य फैल गया।

इधर जिनदत्त प्रातःकालिक धर्मानुष्ठान से निवृत्त होकर अपने कन्धे पर कुठार ले काठ का भारा लाने के लिए कठियारों के साथ वन की ओर चल पड़ा ! किन्तु ऐसे वर्षाकाल में सूखा काष्ठ मिलना सुलभ नहीं था ! जिनदत्त जहां देखता था वहां सारी पृथ्वी हरियाली से अंकुरित दीख पड़ती थी ! सूखे और टेढ़े वृक्षों पर भी नए अंकुर शोभित हो रहे थे। आश्चर्य ! सूखे वृक्षों के लिए कोई अवकाश नहीं था। जिनदत्त बारहव्रती श्रावक था, अतः हरे वृक्षों के छेदन का उसे त्याग था ! उसने बहुत गवेषणा की, किन्तु उसे सूखा काष्ठ कहीं नहीं मिला। 'अब मुझे क्या करना चाहिए'—इस प्रकार वह चिन्तित हो गया। उसने सोचा 'यदि मैं व्रतों की रक्षा करता हूं तो आजीविका सुरक्षित नहीं रहती'। दूसरे कठियारों ने उससे स्पष्ट कहा—"तू भोला है, क्या तू यह नहीं जानता कि अब वर्षाकाल है। नियम के परिपालन से पेट का परिपालन आवश्यक और उचित होता है। 'आपत्काल में कोई मर्यादा नहीं होती।' यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है। इसलिए अज्ञान अवस्था में स्वीकृत और सुखी अवस्था में पालनीय तू अपनी प्रतिज्ञा को छोड़। वे लोग धार्मिक नियमों का पालन करें, जो धनाढ्य और विपुल ऐश्वर्य संपन्न हैं और जिन्हें कोई धनार्जन की चिन्ता नहीं है। तेरे जैसे व्यक्तियों के लिए धर्म-स्थान में प्रविष्ट होने का अवकाश ही कहां है ? इसलिए तू काट, हरित काष्ठ समूह को काट।"

धर्म-निष्ठ सेठ जिनदत्त को उनका अनुचित कथन नहीं रुचा। विवेक-पूर्ण और गम्भीर उत्तर देते हुए उसने कहा—'तुमने धर्म का तत्व नहीं जाना है। धर्म के आचरण में धनवान और गरीब का कोई पक्षपात नहीं है। तत्त्वज्ञ गरीब व्यक्ति भी बहुत बड़ा धार्मिक हो सकता है, और अतत्त्वज्ञ, धनी भी धर्म करने में समर्थ नहीं हो पाता। कसौटी पर कसे गए सुवर्ण की तरह धर्म भी आपत्ति में ही परखा जाता है। चारों ओर घूमता हुआ कुत्ता भी अपना पेट भरता है। वहां आश्चर्य ही क्या है ? मनुष्य की यही महानता है कि वह प्राणों से भी ज्यादा माहात्म्य अनुत्तर श्रेष्ठ धर्म को देता है। जब मैं कठोर

धनदत्त अकस्मात् सामने मिला। उसका मुख-कमल विकसित था। किंतु उसका अन्तःकरण अत्यंत कलुषित था ! काष्ठ-भार से सुगन्धि फूट रही थी। धनदत्त को यह देखकर अत्यंत विस्मय हुआ। उसने सोचा—'ओह ! इस अज्ञानी व्यक्ति के सिर पर यह अमरचंदन कहां से आया ? क्या घुणाक्षर के न्याय से ही तो इसे प्राप्त नहीं हुआ है ? क्या मूर्ख ब्राह्मण को कभी चिंतामणि प्राप्त नहीं हुआ था ? कभी-कभी प्रकृति भी कुतूहल तत्परा बन जाती है। मैं इसकी मूर्खता का अतुल्य लाभ लूं। जो व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से फूटती हुई सुगंध को भी नहीं पहचानता उस मूढ़ को, 'यह चंदन है' इसका ज्ञान कहां से हो सकता है'—ऐसा सोचकर वह रोमाञ्चित हो उठा ! वह धूर्त प्रेमपूर्वक जिनदत्त से कहने लगा—"भाई ! क्या यह ईंधन बेचना है ? अगर बेचना है तो उचित मूल्य बता। सज्जन की यह प्रणाली है कि वे अपने मुंह से मिथ्या बात नहीं कहते। एक बार कहकर पुनः नहीं नकारते। मुख की आकृति से तू भी भद्र पुरुष दीख रहा है। इसलिए यथेष्ट मूल्य को बता, मैं भी उसे नहीं बदलूंगा।" सभ्य पुरुष की भांति दीखने वाले धनदत्त की सुन्दर बातों को सुनकर ऋजुहृदय और वञ्चना के रहस्य से अज्ञात, अपने आशय से दूसरे के आशय को आंकने वाला सेठ जिनदत्त आनंदित हुआ और कहने लगा—'सेठ जी ! आपका कहना ठीक है। मैं निरर्थक बात नहीं करूंगा। निश्चित ही मुझे यह काष्ठ भार बेचना है ! अन्यथा हम जैसे व्यक्तियों का गृहस्थाश्रम कैसे चल सकता है ? हम प्रतिदिन नया कुआं खोद कर पानी पीते हैं ? आप जैसे व्यक्तियों की भांति हमें अपना खजाना भरने का अवसर नहीं आता। इस काष्ठ भार का मूल्य केवल ढाई आने मात्र है। इससे ज्यादा या कम नहीं होगा, यदि आपको लेना है तो········।"

अमरचंदन की पहचान से अज्ञात सरलमतिवाले जिनदत्त की बात सुनकर वह कुशल ठग धनदत्त बहुत प्रसन्न हुआ। उसने कहा—अच्छा, अच्छा भाई ! तू ने उचित मूल्य मांगा है। मैंने भी इतना ही अनुमान किया था। हमें भी तेरे जैसे कठिन परिश्रम करने वालों का यथार्थ मूल्यांकन करना चाहिए, अन्यथा अपने पसीने की बूंदों से सिक्त परिश्रम की अवमानना होती है। हाय ! कितना अन्धकार है ? जो व्यक्ति सतत परिश्रम करते हैं, अपने शारीरिक सुख की अवगणना करते हुए शीत और ताप आदि के क्लेश सहते हैं वे भूखे, प्यासे और बेघरबार रहते हैं तथा उन्हें विद्याभ्यास का अवसर ही प्राप्त नहीं होता, वे रोगी और नग्न रहते हैं, वे उपेक्षित होते हैं। वे घृणा की दृष्टि से देखे जाते हैं। इससे विपरीत जो व्यक्ति दूसरों के श्रम का लाभ

उन्हें अपनी पूर्व अवस्था का स्मरण होता तब-तब अपने किए हुए पापों के परिणामों का चिन्तन कर वे अपने मन को प्रसन्न करते थे। धर्म ही एकमात्र शरण है—ऐसा जानकर वे मिथ्या चिन्ता नहीं करते थे! परन्तु एक भी ऐसा दिन, प्रहर या मुहूर्त नहीं बीतता था जिसमें कि उनको अपने प्रिय पुत्र की स्मृति ताजी नहीं होती। वहां के समाचार पाने के लिए उनका हृदय प्रतिपल उत्सुक रहता था। परन्तु दूर देशान्तर में अपने चिरंजीवी पुत्र के तनिक भी समाचार प्राप्त नहीं होते थे।

इधर अत्यन्त सुख में लालित-पालित बालक रत्नपाल चलने में क्षम हुआ। वह अपने साथियों के साथ बाल-क्रीड़ाओं से खेलता हुआ क्षण में रूठता था, हंसता था, रोता हुआ भूमि पर लोट जाता था, वह अपने पड़ौसी बालकों के साथ मिलता-झगड़ता हुआ उस कृपण मन्मन के हृदय को विकसित, प्रसन्न, एवं आनन्दित करता था। अनेक आधि-व्याधियों से संरक्षित एवं संगोपित वह आठ वर्ष का हुआ। तब मन्मन ने उसको अनुभवी गुरु के समीप पढ़ने के लिए पाठशाला में भेजा। वह बालक विनय और विवेक से संपन्न था। अपनी चपलमेधा से विद्या अध्ययन करता हुआ वह अनेक विद्याओं में पारंगत होगया। वह अध्यापक महोदय के इंगित आकार के अनुरूप वर्त्तन करता हुआ उनका विशेष कृपापात्र बना। वह विद्या के भार से भारी था, किन्तु नम्रता आदि गुणों से उसकी सर्वत्र प्रशंसा होने लगी। मन्मन ने भी उसको गृहकार्य, लेनदेन तथा दुकान के व्यापार से परिचित कराया और उसको उसमें संलग्न कर दिया! बारह वर्ष का होता हुआ भी वह बालक बड़े व्यक्तियों की तरह कार्य में निपुण हो गया। दुकान में बैठा व्यापार करता हुआ सबके साथ मधुर व्यवहार करता था, इसलिए वह सबको बहुत भाता था। अनेक ग्राहक उसके वार्तालाप से संतुष्ट होकर वहीं बैठे रहते थे। 'बालक होता हुआ भी कितना दक्ष है, इस प्रकार उसकी प्रशंसा करते हुए उसे छाती से लगाकर पुलकित हो जाते थे। किन्तु विविध गृह-कार्य में कुशल होने पर भी उसे अभी तक 'मैं कौन हूं'—यह ज्ञात नहीं हुआ। मन्मन ने भी चारों ओर ऐसा अनुकूल वातावरण पैदा किया कि जिससे इस विषय में उसका मन तनिक भी संदेह-युक्त नहीं हुआ। वह जानता था कि मन्मन ही मेरा पिता है और उसकी पत्नी ही मेरी जन्मदात्री मां है। उसने कभी कोई विपरीतता नहीं देखी। किन्तु अत्यन्त गोपित रहस्य भी तृणराशि (घास) से आच्छन्न स्फुलिंग की भांति जब तब प्रगट होता ही है। यह निश्चित तत्त्व है कि जो है, वह है ही, उसका नास्तित्व कैसे हो सकता है?

सोचा—यह अविचारित वाक्य रूपी पाषाणों को फेंककर मुझे क्यों उपालंभ दे रहा है और क्यों मेरा तिरस्कार कर रहा है ? इसने 'क्रीतदास' कहकर मुझे क्यों दूषित और कलंकित किया ? क्या मुझे जन्म देने वाले माता-पिता दूसरे हैं ? क्या वस्तुतः मन्मन मेरे पिता नहीं है ? अच्छा जब तक मैं रहस्य को स्पष्ट रूप से जान न लूँ तब तक मुझे इसे कुछ भी उत्तर नहीं देना चाहिए। ऐसा सोचकर रत्नपाल तत्काल ही वहां से उठा। उसके मन में अनेक विकल्प झलने लगे। वह मौन रहा और रहस्य की गवेषणा में तत्पर होकर वहां से चला। मार्ग में एक बूढ़ा व्यापारी दूकान पर बैठा दीखा। विमनस्क रत्नपाल अतीत के रहस्य को प्रकट कराने के लिए अत्यन्त उत्सुक होकर उस बूढ़े के समीप आया।

हिम से दग्ध कमल की तरह रत्नपाल के म्लान मुख को देखकर, उसके कारण की गवेषणा करते हुए बूढ़े ने पूछा—'वत्स ! आज तू गंभीर चिंता से विह्वल क्यों दीख रहा है ? प्रतिदिन प्रफुल्लित रहने वाला तेरा मुख-कमल आज मुझे भयभीत और लज्जित क्यों प्रतीत हो रहा है ? तु मुझे बता शीघ्र बता, ताकि मैं तेरे दुःख का कुछ प्रतिकार कर सकूँ।"

दीर्घ और उष्ण निःश्वास छोड़ते हुए रत्नपाल ने सारा वृत्तान्त सही-सही सुनाया, और किस प्रकार उस ग्राहक ने 'क्रीतदास' शब्द से उसकी भर्त्सना की—यह भी कह डाला। "यहां क्या रहस्य हैं ? ऐसी कौन-सी गुप्त बात है ? हे तात। मैं ये सारी बातें यथार्थ रूप से जानना चाहता हूँ !"

रत्नपाल का प्रश्न सुनकर वह वृद्ध कुछ मुस्कराया, सारा अनुभूत अतीत उसके प्रत्यक्ष परिस्फुरित हो उठा। यह गोपनीय बात अवक्तव्य है इस प्रकार कुछ कह कर वह मूक की तरह बैठ गया। प्रत्युत्तर को सुनने के लिए उत्सुक और विलम्ब को सहने में असमर्थ बालक के मुख को देखकर उस स्थविर ने निपुणता से थोड़ा रहस्योद्घाटन करते हुए कहा—'पुत्र ! यह संसार रूप महा समुद्र विचित्र है। यहाँ प्राणियों के लिए कौन-सा अघटित घटित नहीं होता ? तब तक ही मनुष्य उद्धत होता है, जब तक कि वह अतीत को प्रत्यक्ष नहीं कर लेता। आर्य ! जगत की दीखने वाली सारी लीला मृग-तृष्णा के अतिरिक्त कुछ नहीं है। यहाँ आशा केवल आकाश तुल्य ही है। भद्र ! रहस्योद्घाटन मत करो! तेरा वृत्तान्त कहने में मेरी जीभ लड़खड़ाती है तो भी यदि तेरी तीव्र जिज्ञासा है तो में तुझसे अज्ञात तेरे चरित्र की बात थोड़ी-सी बता दूँ। सुन, तेरा पिता जिनदत्त नागरिकों से माननीय और बहुत धनाढ्य था। तेरी माता

इधर मन्मन भी मध्यान्ह की भोजन वेला जानकर 'पुत्र रत्नपाल बहुत देर तक भूखा न रह जाए'—ऐसा सोचकर शीघ्र ही घर आ गया। किन्तु उसे अपने नयनों का चन्द्र पुत्र रत्नपाल नहीं दीखा। 'क्या ऋण लेने के लिए गया हुआ वह अभी तक नहीं लौटा ? भार्ये ! तेरी गोद में क्रीड़ा करने वाला पुत्र अभी क्यों नहीं आया ? तू पुत्र की चिंता से निरपेक्ष होकर दूसरे कार्यों में कैसे रत हैं ?' इस प्रकार मन्मन ने उच्च स्वर से अपनी पत्नी को पूछा।

पत्नी ने साश्चर्य कहा—'अभी-अभी मैंने उसे आते हुए देखा था। परन्तु बाद में वह चपल कहा गया—इसका मैंने ध्यान नहीं दिया।"

'वह कहाँ छुप गया है'—ऐसा सोचकर मन्मन विस्मय और खेद की दृष्टि से उसे ऊपर नीचे ढूँढ़ने लगा। कृपण मन्मन ने शुष्क मुखकमल वाले रोते हुए, कंधे को नीचे किए हुए भूमि पर बैठे अपने पुत्र को देखा।

उसने कहा—'अरे ! यह क्या ? यह क्या ? पुत्र ! किस दुर्भाग्य ने तुझे पीड़ित किया है जिसके कारण रो रहा है ? किस मदान्ध ने तेरा अपराध किया है ? जो तेरी अवमानना करता है, क्या उसे अपना जीवन अप्रिय है ? तू प्रतिदिन हँसमुख रहता है, आज विमन और दुर्मन क्यों है ? क्या तुझे इच्छित वस्तु नहीं मिली ? क्या आज रूखे स्वभाववाली तेरी मां ने तुझे डांटा है ? अथवा ऋण न चुकाने वाले ग्राहक ने तेरा पराभव किया है ? बोल वत्स, बोल ! तेरा व्याकुल पिता तुझसे यथार्थवृत्तान्त पूछ रहा है। मैं उसका शीघ्र ही प्रतीकार करूँगा।' इस प्रकार आश्वासन देते हुए मन्मन ने भुजाओं से पकड़ कर अपने पुत्र को उठाया और गोद में ले लिया ! उसके मस्तक को सूँघता हुआ आंसुओं से गीले उसके मुख को पोंछने लगा।

इस प्रकार मन्मन ने रत्नपाल से साग्रह पूछा। तब वह यथार्थ बात प्रकट करने के लिए प्रेरित हुआ और उसने गद्‌गद् भाषा में यथा ज्ञात रहस्य स्पष्ट रूप से कह सुनाया। उसने कहा—'श्रेष्ठीप्रवर ! आप मेरे पिता के समान पूजनीय हैं, किन्तु मुझे पैदा करने वाले वास्तविक पिता नहीं है। सारा रहस्य आज मैंने जान लिया है। स्नेह रूपी अंकुर के लिए मेघ के समान महामना तथा सात्त्विक वृत्ति वाले जिनदत्त मेरे पिता हैं ! प्रेम की नदी भानुमती प्रत्यक्ष रूप में मुझे जन्म देने वाली मेरी माता है। हाय ! हाय ! दरिद्रता रूपी दावानल से दग्ध वे धन के बदले में मुझे तुम्हारे घर में छोड़ कर अज्ञात रूप से कहीं चले गए हैं ! आज यदि मेरे माता-पिता आकर मुझे कहे 'चलो पुत्र'—तो मैं

तत्क्षण बिना कुछ देर किए निःसन्देह रूप से उनके साथ अपने घर चला जाऊँ। ओह! दूसरे के घर में रहने का सुख भी क्या सुख है? अपनी झोपडी चाहे वह टूटी-फूटी हो, फिर भी वह अपनी है और दूसरे का घर चाहे वह कितना ही भव्य प्रासाद क्यों न हो, आखिर दूसरे का ही है। इस प्रकार कहता हुआ रत्नपाल जोर से रोने लगा।

रत्नपाल की अकल्पित, अतर्कित और अप्रत्याशित बातों को सुनकर मन्मन ने किसी असहनीय और अतुल वेदना का अनुभव किया। उसके हृदय की धडकन तेज हो गई। आँखें विस्फारित हो गई। उसकी लम्बी और दृढ आशा हिमखण्ड की तरह पिघल गई। उसने सोचा—अरे! इसे कौन नागरिक धूर्त मिल गया जो कि मेरा जन्म जन्मान्तर का शत्रु था? हाय! उस दुष्ट ने सुघटित और सुमण्डित मेरे वंश-प्रासाद को भूमिसात् कर दिया! हे पिशुन! मेरे कल्पना के कल्पतरु को उखाड कर तेरे हाथ क्या लगा? हाय! हाय! चुगलखोरों का स्वभाव विचित्र होता है। वे दुष्ट अकारण ही दूसरों के दुःख से स्वयं सुख का अनुभव करते हैं और दूसरों के नाश से सन्तुष्ट होते हैं! अरे! इसका लालन पालन निरर्थक हो गया। ओह! क्या पराये पुत्र से घर बसाया जा सकता है? इस प्रकार बहुत विकल्प करता हुआ वह मन्मन कोई उपाय ढूँढते हुए बोला—'पुत्र! किस पर-सुख दुर्बल दुष्ट ने तुझे व्यर्थ ही भ्रान्त कर निरर्थक आशंकाओं में डाल दिया है? जिनदत्त कौन है? भानुमती कौन है? किस द्रोही ने ये कपोल-कल्पित नाम प्रस्तुत किए है। भ्रान्त मत हो, शीघ्र चल और मेरे साथ भोजन कर! देख, अनेक व्यंजनों से संयुक्त यह सरस भोजन शीतल हो रहा है! तेरी माता तेरी प्रतीक्षा कर रही है। वह तुझे न देख कर पागल सी हो रही है।"

रोग असाध्य हो गया है। इसकी आशा अब प्रत्यक्ष रूप से निराशा में बदल गई है।

'पुत्र ! मैं शीघ्र ही सारा प्रबन्ध करूँगा ! अभी तुझे भोजन करना चाहिए'—ऐसा कहते हुए मन्मन ने पुत्र को भोजन करने के लिए उठाया ! उन दोनों ने ज्यों त्यों सरस और ताजा भोजन भी बिना स्वाद खाया। बाद में मन्मन ने अपने वाणिज्य-कुशल पुरुषों को बुलाकर उन्हें क्या करना है—सारा कह सुनाया ! जहाज तैयार किया और उसे तत्र सुलभ विक्रयणीय पदार्थों से भरा गया ! शुभ तिथि, करण और योग से संयुक्त शुभ मुहूर्त में प्रस्थान करने का निश्चय किया ! निश्चित समय आने पर सबके सामने जनक-स्थानीय मन्मन को विनय सहित प्रणाम करते हुए रत्नपाल ने कहा—'मेरे लिए किया हुआ पूज्य पिताजी का ऋण चुकाने के लिए आज मैं देशान्तर जा रहा हूं ! आज तक मैं यहां बहुत आनन्द से रहा और यहां मेरा लालन-पालन अपने पुत्र की भांति बहुत ही स्नेह से हुआ और मुझे सर्वाङ्गीण सुख मिला ! इन महानुभावों का आज भी वैसा ही प्रेम है तो भी मुझे अपना कर्त्तव्य करना चाहिए। मैं अब प्रवास में जा रहा हूं। जहाज पर जितना भी माल बेचने के लिए रखा गया है, वह सारा सेठ जी का है, मेरा कुछ भी नहीं है। देशान्तर में जाकर माल बेचने पर जो भी लाभ होगा, उससे पूज्य पिताजी द्वारा लिए गए ऋण को व्याज सहित दूंगा और साथ-साथ जहाज में रखे गए सामान का मूल्य भी अर्पित करूँगा ! प्रस्थान काल में जो कुछ भी मुझे सेठ से पारितोषिक रूप में प्राप्त होगा, उसका लाभ मैं स्वयं लूँगा, सेठ को वह नहीं लौटाऊँगा," यह सुनकर महान् कंजूस मन्मन ने सोचा—इसे मैं क्या दूँ ? अन्त में अति तुच्छता दिखाते हुए उस कंजूस ने उस समय में प्रचलित एक छोटा सिक्का 'मेंमुंदी' रत्नपाल को भेंट स्वरूप दिया ! इस अति तुच्छ दान के कारण सभी दर्शकों के मन में सेठ के प्रति हीनता के भाव आए ! धिक्कार है, कंजूस के निर्दय हृदय और निर्लज्ज दान को ! चिरकाल तक पोषित अपने पुत्र के साथ भी उसका कैसा व्यवहार है ? तो भी समयज्ञ रत्नपाल ने उस भेंट को आनन्द से स्वीकार किया, उसे माथे पर चढ़ाया और सुरक्षित रख दिया। उसने कहा—"आपकी कृपा से यह लघु दीखने वाला दान भी मेरे बहुत लाभ का हेतु बनेगा ! क्या वट वृक्ष का छोटा बीज विस्तार को नहीं पाता ?"

४

चौथा उच्छ्वास



प्रकृति का यह नियम त्रैलोक्य-विदित है कि जिस व्यक्ति की जैसी शुभ-अशुभ भावना होती है, वैसा ही उसे परिणाम मिलता है। जो प्रतिदिन रोग का चिन्तन करते रहते है, वे रोगी हो जाते है और जो आरोग्य की कल्पना करते है, वे स्वस्थ बन जाते है। वे मनुष्य कभी ऊँचे पद को प्राप्त नही कर सकते जिनके मन मे सदा निराशा, दौर्बल्य और अपने आप मे अविश्वास परिस्फुरित होता रहता है। '*हमारे जैसे व्यक्तियो के दिन बीत गए, अब तो* हमे ज्यो-त्यो समय बिताना है। भविष्य मे जब कोई अनुकूल अवसर प्राप्त होगा, तब कुछ करने की सोचेगे'—इस प्रकार जो व्यक्ति निरंतर अपनी असमर्थता का अनुभव करते है वे कभी अपने प्रयोजन को पूरा नही कर पाते, उनका मनोरथ कभी फलित नही होता और उनके स्वप्न कभी साकार नही होते। जिनके विचार उदार है, कल्पनाएँ कल्याणकारी है, जो सर्वाङ्गीण हित सोचते है और जिनका चित्त निर्मल है, वे सर्वत्र सुखी होते है, सुख उनके सम्मुख रहता है। आपत्ति मे भी उनका आशारूपी निर्झर नही सूखता। *भयानक रात्रि मे भी उन्हे प्रभात दीखता है। उन्हे स्वत* दूसरो की अकल्पित सहायता प्राप्त होती है। इसलिए उत्साह सभी सफलताओ का मूल, कल्प-

नाओं की क्रियान्विति के लिए कल्पवृक्ष, कामनाओं की पूर्ति के लिए कामकुंभ और इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिए चिन्तामणि के समान है।

अनुकूल वातावरणों से प्रेरित होकर रत्नपाल ने मन्मन के घर से देशान्तर के लिए प्रस्थान किया। उस समय उसका आन्तरिक उत्साह बढ़ रहा था। अनेक साथी उसे घेरे हुए थे। गुरुजनों के आशीर्वाद को पा वह आश्वस्त था। स्तुतिकार मंगलमय वचनों से उसकी स्तुति कर रहे थे। उस समय वह स्वतः समुपस्थित शुभ शकुनों से वर्धापित हो रहा था। रास्ते में एक मालिन माथे पर फूलों की टोकरी लिए सामने मिली। 'देशान्तर जाने वालों के लिए यह अति शुभ शकुन है—ऐसा सोचकर रत्नपाल ने मन्मन द्वारा अर्पित लघु-मुद्रा को देकर तत्काल फूलों की टोकरी ले ली। उसमें दाड़िम और धातकी के ताजे सुगन्धित फूल थे। ये शुभ हैं—ऐसा सोचकर विवेकी रत्नपाल ने उन्हें सुरक्षित रख लिया। परमेष्ठिपंचक का स्मरण करता हुआ अनेक मुनीमों के साथ गुरुजनों को प्रणाम करता हुआ जब वह नौका पर चढ़ने लगा तब एक अनुभवी स्थविर ने आकर कहा—'पुत्र ! जहां इच्छा हो वहाँ जाना। पूरे लाभ को प्राप्त करना। परन्तु 'कालकूट' द्वीप में कभी मत जाना, क्योंकि वहाँ जाने वाले वहाँ के धूर्त-शिरोमणियों से ठगे जाते हैं।' अच्छा ! कहकर रत्नपाल ने उसकी बात स्वीकार की। नाविकों ने नौका चलाई। ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ी त्यों-त्यों वह गहरे पानी में चलती गई। ऊपर आकाश था, चारों ओर पानी पानी दीख रहा था। क्या सारी भूमि जल-जलाकार हो गई है ? ओह ! तत्वज्ञों के लिए सागर की स्थिति दर्शनीय होती है। 'सीमा का उल्लंघन न हो जाए'—इस प्रकार शंकित होकर आगे बढ़ने वाली लहरें मानों पुनः पीछे सरक जाती थीं। 'महान् व्यक्तियों को शक्ति का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए'—इस बात को व्यक्त करता हुआ महान् सामर्थ्यशाली और क्षण भर में सारे संसार को जलमग्न कर देने में समर्थ समुद्र मर्यादा में रहता है। इसीलिए आगमकारों ने तीर्थंकरों के लिए 'सागर की तरह गम्भीर' ऐसी उपमा दी है। 'दान देने से दानवीरों के धन में न्यूनता नहीं आती। समुद्र बड़े-बड़े बादलों के शून्य उदर को सतत भरता हुआ भी कभी रिक्त नहीं होता' यह दिखाते हुए मानो वह ऊँची उछलती हुई लहरों से शोभित होता है। समुद्र इस बात का साक्षी है कि वे ही व्यक्ति महामूल्य रत्नों और मुक्ताओं को पा सकते हैं जो निडर हो गहरे जल में जाने में समर्थ होते हैं और अपने प्राणों को हाथ में लेकर चलते हैं। जो व्यक्ति डरपोक हृदय वाले हैं और जो केवल सतह पर ही चलने वाले हैं वे इन रत्नों

होकर दुर्भाग्यवश मैं कालकूट द्वीप में आ पहुँचा। वंचना के जाल से अजान मैंने यह सोचा कि—'मेरे पास एक महा मूल्यवान रत्नकरण्डक है। यह सामुद्रिक यात्रा बहुत लम्बी और सदा कुशंकाओं से व्याप्त है। अतः उस रत्नकरण्डक को साथ में रखना अच्छा नहीं है। इसलिए नगर में जाऊँ और ऐसे प्रख्यात सत्य हरिश्चन्द्र और पूर्ण नीतिमान् मनुष्य की गवेपणा करूँ, जिसके पास इस रत्नकरण्डक को धरोहर के रूप में रख सकूँ और पुनः लौटते समय अपनी निधि को सुरक्षित पा सकूँ ऐसा सोचकर मैं अपने रत्नकरण्डक को लेकर नगर में गया और वैसे सत्यवादी हरिश्चन्द्र की खोज करने लगा। मुझे नया प्रवासी जानकर एक किराने के व्यापारी ने, पूर्व परिचित की भाँति, 'स्वागत-स्वागत' कहा, मुस्कराता हुआ सामने आया, गले मिला और मेरा कुशल पूछने लगा। उसे भद्र पुरुप समझकर मैं उसकी दुकान पर गया उसने मुझे ऊँचे आसन पर विठाया और मैं उसके साथ सप्रेम बातचीत करने लगा। 'सारा सफेद-सफेद दूध होता है'—ऐसा विश्वास कर मैंने उससे अपनी बहुमूल्य वस्तु रखने के लिए प्रार्थना की और उसे वह दिखलाई। वह धूर्त शिरोमणि मेरी वस्तु रखने के लिए मन से तत्पर था किन्तु अपने आपको अनन्यसत्यवादी सिद्ध करते हुए सत्य से धवलित ललित वाणी से कहा—'बन्धुवर! क्या आपने निधि रखने के लिए कहा? ऐसी बात आप पुनः न कहें। किसी की वस्तु अपने पास रखने की मैंने पहले ही सौगन्ध कर रखी है। एकबार मैंने अपने समान सारे जगत को भद्र स्वभाव वाला समझकर किसी एक महानुभाव की धरोहर रखी, परन्तु उसके अति कटु परिणाम से ज्यों-त्यों पार पाया है। उसके बाद इस प्रकार के कार्य को न करने की मैंने प्रतिज्ञा कर ली है। अतः आप कृपा कर अन्यत्र जाइए। धरोहर न रखने की प्रतिज्ञा के कारण मैं इसे किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं कर सकता। उसकी उत्कृष्ट सत्यनिष्ठ दृष्टि का अनुभव कर मैंने अपना धन वहीं रखने के लिए उससे अनुरोध किया। उस समय एक बालिका घी खरीदने के लिए वहां आई। उस वंचक शिरोमणि ने मुझे प्रभावित करने के लिए एक मायापूर्ण व्यवहार प्रगट किया। उसने एक गुना पैसा लेकर उस लड़की को दुगुना घी दिया। घी लेकर कन्या चली गई। आश्चर्य से मैंने उससे कहा 'ओह! तुम व्यापारी हो? क्या तुम व्यापार वृत्ति को जानते हो? अरे! एक गुना पैसा लेकर तुमने दुगना घी दिया, यह कार्य कैसे अच्छा हो सकता है? इससे व्यापारी नाम भी दूपित होता है और

दुकानदार की नैया मानो समुद्र के बीच डूब गई। पीछे से उसने बहुत पुकारा किन्तु मैंने कुछ भी स्वीकार नहीं किया। 'यह धूर्त शिरोमणि है' ऐसा स्पष्ट अनुभव करता हुआ उसके (लड़की के) घर पहुंचा। उसने भी सम्मान-पूर्वक कुशल प्रश्न पूछे और सानुनय अपनी जिज्ञासा प्रगट करते हुए कहा—'क्या मेरे योग्य कोई सेवा है ?' मैंने भी धन दिखाते हुए अपना अभिप्राय उसे बताया। यद्यपि बहुमूल्यवान द्रव्य को देखकर उसे पाने के लिए उसका अन्तःकरण बहुत आतुर हो उठा, फिर भी उपरितन भाव से वह पूर्व व्यापारी की तरह निपुणता पूर्वक लेने से इन्कार करता रहा। जैसे-जैसे वह प्रतिषेध करता रहा वैसे-वैसे ही मैं धन को वहीं रखने की भरसक चेष्टा करता रहा। उसी बीच एक ब्राह्मण भिक्षाटन करता—'स्वस्ति कल्याणम्'—इस प्रकार बोलता हुआ उसके मकान में आया। गृहस्वामी ने अपनी पत्नी से कहा—ब्राह्मण को एक सेर चावल दो'—भार्या ने सम्मान सहित विप्र को दान दिया।

दान लेकर चलते हुए ब्राह्मण ने सोचा—आश्चर्य ! यह नई बात कैसे हुई जहाँ मुट्ठी भर आटा भी दुर्लभ है, वहाँ ऐसी दानशीलता ! कृपणता से कर्कश यह पत्नी झूठे हाथ से कुत्ते को भी नहीं दुत्कारती, पीसती हुई भी धान्य के कणों को चबाती रहती है, वहाँ चावलों का दान ? कोई ठगों का जाल है—ऐसा अनुसंधान करते हुए उसने पीछे मुड़कर देखा। उसे मैं दिखाई दिया। उसने सोचा—'इस प्रवासी को ठगने के लिए यह दानशीलता दिखाई है। मैं भी अवसर का लाभ क्यों न उठा लूँ'—यह निश्चय कर उसने अपनी पगड़ी में एक छोटा सा तृण डाला और तत्क्षण वहाँ से मुड़ गया। उदास मुख से वह कहने लगा - 'ओह। महान् अपराध, अभूतपूर्व दोष, अक्षम्य त्रुटि हो गई। भ्राता ? मैं अत्यन्त दुःखी हूँ। हाय ! जब मैं दान लेने के लिए झुका तब छप्पर का एक तृण आपकी बिना आज्ञा से मेरी पगड़ी में लग गया। कुछ आगे जाने के बाद मेरा हाथ उस तृण पर पड़ा। उस समय मेरा हृदय कांप उठा। मैंने सोचा—हा ! हा ! मैंने अज्ञान अवस्था में यह क्या अनर्थ कर डाला ? आज तक मैंने किसी का बिना दिया हुआ नहीं लिया। आज प्रतिज्ञा का भंग हो गया।' यह तृण तुच्छ है, क्या यह भी चोरी है ? छोटा अपराध कुछ भी नहीं है।'—ऐसा सोचकर यदि मैं उसकी उपेक्षा करूँ तो मेरी वृत्ति अर्नगल हो जाए और तब मैं दूसरों के सोने के अपहरण को भी दोष-रहित मानने लग जाऊँ। ओह ! ब्राह्मण का सारा क्रिया-कलाप विलुप्त हो जाए। हम भिक्षुकों का केवल भिक्षा लेना ही अधिकार है। भिक्षा से

चाहिए। तपस्या से विहीन कोई भी साधना सफल नहीं होती ऐसा कहकर वह खीर आदि पदार्थों को वहीं छोड़कर चला गया। यह सुनकर मैं स्तंभित, विस्मित और उसके गुण से रंजित हो गया। मैंने सोचा—'ऐसा वैराग्य ! विचित्र अनासक्ति, अद्‌भुत विरक्ति ! मुझे अपना द्रव्य निःसंशय इसे ही सौंपना चाहिए। तत्काल उसके पीछे-पीछे चलते हुए मैंने नगर के बहिर्भाग में स्थित मठ में महन्तजी के दर्शन किए। वैराग्यमय वार्तालाप चला। मैंने अपने धरोहर रखने के लिए उनसे प्रार्थना की। 'हमारा इनसे क्या प्रयोजन'—ऐसा कहकर उसने निषेध किया। अन्त में बहुत आग्रह करने पर उसने मेरी प्रार्थना स्वीकार की। 'यहां कोई भय नहीं है'—इस प्रकार मैं निश्चिन्त होकर समुद्र में आगे चला।

पीछे से धन के महान् लोभी महन्त ने सभी शिष्यों को अलग कर दिया। मठ के मुख्य द्वार को भी बदल दिया। सभी वृक्षों को काट डाला। अपनी एक आंख फोड़ डाली। सारी लीला ही बदल दी।

कुछ समय के बाद जब मैं अपनी धरोहर लेने की इच्छा से यहां आया तब कुछ भी परिचित नहीं मिला। महन्त ने मेरे साथ बात भी नहीं की। उसने कहा—'तू भूल गया है, यहां स्वप्न में भी ऐसी घटना घटित नहीं हुई।' इस प्रकार वह अपनी यथार्थ घटना सुनाता हुआ रत्नपाल से कहने लगा—

कुमार ! उसके बाद से मैं यहां-वहां घूमता हूं, परन्तु कोई भी मेरी बात नहीं सुनता। 'अस्तु' मेरा कहने का यही तात्पर्य है कि तुम्हें यहां बहुत दक्षता से बर्ताव करना चाहिए, अन्यथा तुम्हारा कुशल नहीं है—ऐसा मानना चाहिए। संक्षेप में ऐसा निवेदन कर—'मुझे कोई देख न ले'—ऐसा सोचकर वह तत्काल वहां से चला गया।

रत्नपाल ने स्थविर के अनुभवी शब्दों को याद किया। हाय ! विधि का विधान अज्ञात होता है। मैं अनिच्छित स्थान पर आ गया। 'अब क्या करना चाहिए ?' यह सोचकर कुमार चिन्तित हो उठा।

●

का प्रथम प्रयास विचित्र होता है"—इस प्रकार कुमार शंकित हो गया। अथवा क्या यह सारा रहस्य 'अन्धवर्तकीयन्याय' से घटित हो रहा हो ? मुझे इसका उत्तर दक्षता से देना चाहिए, ताकि मेरा सामयिक कृत्य विनष्ट न हो। कुछ सोचकर रत्नपाल ने कहा—"रोगों का आक्रमण भीषण हो सकता है। उनका प्रतिकार अनेक औषधोपचार से हो सकता है। पुष्पों के लिए आपका प्रश्न भी उचित है। किन्तु हम यहाँ के मनुष्यों से अपरिचित हैं। इसलिए हम कैसे जानें कि आपकी याचना यथार्थ है ? यदि स्वयं राजमन्त्री यहाँ आकर सारा वृत्तान्त उचित रूप से बताएं और हमारा मन विश्वस्त करें तो संभव हैं कि यथेप्सित वस्तु प्राप्त हो सकती है।

रत्नपाल की युक्ति-युक्त बात सुनकर दोनों राजपुरुष प्रसन्न हो गए। शीघ्र ही हम महामात्य को पुष्प लेने भेजेंगे—इस प्रकार कहते हुए दोनों नगर दिशा की ओर सहसा दौड़ पड़े।

भाग्यशाली कुमार रत्नपाल अनेक विध कल्पना करता हुआ, अपने अदृष्ट भविष्य की गवेषणा करता हुआ वहीं ठहर गया।

इधर मन्त्री कई सभ्य नागरिकों के साथ उसके पास आया। उसकी आँखों में अमृत बरस रहा था। आपस में 'जयजिनेन्द्र' की विधि सम्पन्न हुई। कुशलपृच्छा के पश्चात कहां से आना हुआ—आदि परिचयात्मक प्रश्नोत्तर हुए। धृतिशील प्रधान ने कुमार को राजा की दुःसह अक्षि-वेदना से परिचित कराया। उसने कहा—हमने अनेक उपचार किए, परन्तु रोग का उपशमन नहीं हुआ, पीड़ा बढ़ती ही गई। एक कोई अनुभवी वैद्य आया। उसने निदान किया और वह यथार्थ स्थिति पर पहुंचा। उसने औषध प्रस्तुत करते हुए कहा कि यह दाड़िम और धातकी पुष्पों के साथ प्रयुक्त होती है। संयोगवश बहुत ढूंढने पर भी कहीं नहीं मिले। रोगी के लिए वेदना को क्षणमात्र तक सहना भी कठिन था, परन्तु अशक्य और निरुपाय अनुष्ठान के लिए क्या किया जा सकता था ? अचानक ही हमने यह सुना कि कोई सामुद्रिक व्यापारी समुद्र तट पर रुका हुआ है। पीड़ित व्यक्तियों के मन में चारों ओर से आशा की लहरें उमड़ती ही रहती हैं। अतः उन्होंने सोचा संभव है कि आगन्तुक व्यक्ति के पास वह वस्तु हो ? इसलिए हमारे आदमी आपके पास आए। मैं भी उन्हें प्राप्त करने आपके पास आया हूँ। आप इच्छानुसार मूल्य लें और हमें वह जीवनदायक अमूल्य वस्तु दें। वस्तु मूल्यवान् नहीं होती, मूल्यवान् होता है समय। यदि आपके पास वह वस्तु हो तो

कृपाकर शीघ्र ही हमें प्रदान करें। निःसन्देह ही रोग से मुक्त होकर राजा आपके शुभ भविष्य का हेतु बनेगा!" मंत्री की निश्छल वाणी सुनकर रत्नपाल का अन्तःकरण विश्वस्त हुआ। उसने सोचा—"आश्चर्य है कि इतनी तुच्छ वस्तु भी भाग्यवश अतुल लाभदायक सिद्ध हो रही है। अथवा विमल भाग्य कैसे, कब, कहां प्रतिफलित होता है—यह अगम्य और रहस्यमय है। मेरे पास व्यर्थ ही पड़े हुए वे फूल मैं इन्हें दे दूं"—ऐसा सोचकर कुमार ने उदारता दिखाते हुए मधुर वचनों में कहा—"मंत्रीप्रवर! आपने जिस वस्तु की बहुत खोज की है, वह अनायास ही मेरे साथ है। इससे अधिक अच्छा और क्या हो सकता है कि मेरी वस्तु नृपति के काम आए। आपने कैसे कहा कि इच्छानुसार मूल्य ले लें? हमारे जैसों के लिए तो आपके कृपा-कटाक्ष में ही मूल्य निहित है। आप क्षण भर ठहरें, मुझे भी आपके साथ फूलों के उपहार के मिष से राजा के दर्शनों का लाभ मिल सकेगा।

मंत्री ने कहा— बहुत अच्छा, आप शीघ्र ही तैयार हो जाएं। राजा बहुत आतुरता से प्रतीक्षा कर रहे हैं। 'अभी आया'—कहकर रत्नपाल वहां से चला गया। तत्काल उसने राजसभा-योग्य वेश धारण किया और अनेक अलंकार पहने। उसने राजा को भेंट करने के लिए अनेक विशिष्ट वस्तुएं अपने साथ लीं और पुष्पकरण्डक को सज्जित किया। वह अपने अनेक व्यक्तियों को साथ ले अमात्य के साथ राजा को देखने के लिए चल पड़ा। राजा को भी यह वृत्तान्त प्राप्त हुआ कि एक सामुद्रिक बाल व्यापारी उन फूलों को लेकर मुझे देखने आ रहा है। राजा उससे मिलने के लिए आतुर हो उठा और वह उसके आगमन का मार्ग देखने लगा। इतने में ही उसने देखा कि जिनदत्त का पुत्र रत्नपाल प्रसन्नता से मन्त्री के साथ आ रहा है। उसने राजा को सविनय प्रणाम किया। औपचारिक वार्तालाप हुआ। कुमार ने दूसरी महामूल्यवान् वस्तुओं के साथ-साथ पुष्प भेंट किए। राजा प्रसन्न हुआ। वैद्य ने औषधि का प्रयोग किया। उसकी अस्खलित और सुखद प्रतिक्रिया हुई। राजा को अभूत-पूर्व सुख का अनुभव हुआ। 'इसने मुझे जीवन दान दिया है'—ऐसा सोचकर राजा रत्नपाल पर प्रसन्न हुआ। उसने रत्नपाल के लिए उचित व्यवस्था की और रहने के लिए विशाल भवन दिया। उसकी सारी वस्तुओं को ठीक स्थान पर रखवा दिया। और उसे राजसभा में स्थान दे दिया। राजा उसे कृपा दृष्टि से देखने लगा। धीरे-धीरे कुमार वहां की स्थिति से परिचित हो गया। उसने वहां व्यापार प्रारंभ

किया और अपनी वस्तुओं को बहुत लाभ में बेचने लगा। उसे अकल्पित लाभ हुआ। छह महीने बीते। उसने वहां से उचित भावों में सुलभता से प्राप्त नई वस्तुएँ खरीदीं। और शीघ्र ही अपने देश की ओर जाने की चेष्टा की, किन्तु विधि क्या क्या नई घटनाएँ घटित करती हैं, यह भव्य लोग सुनें।

उस राजा के एक लड़की थी उसका नाम रत्नवती था। वह बड़ी समयज्ञा और विचार-दक्षा थी। वह अनेक प्रकार के शिल्प और कलाओं की ज्ञाता, सप्तस्वरों से साधने योग्य गान्धर्व विद्या में निपुण, अनेक भाषा विज्ञान में जिसकी काव्य-कला विकसित थी। साक्षात् सरस्वती, सुन्दर वर्ण और रूप से युक्त, अनुपमेय आकृति और अद्भुत आकर्षणों वाली, सर्वाङ्ग सुन्दरी, मधुर आलाप करने में दक्ष एवं सभी गुणों से युक्त थी। जब वह यौवन को प्राप्त हुई तब वह माता पिता के चिन्ता का कारण बन गई। राजा ने उसके लिए बहुत बारीकी से अनेक कुमारों को देखा किन्तु उसे कुल, रूप, शील, विद्या और यथेष्ट गुणों की प्राप्ति उनमें नहीं मिली। जिस किसी अयोग्य व्यक्ति को राजा अपनी पुत्री देना नहीं चाहता था। जब से राजा ने सर्वगुण-संपन्न सरूप, विनयशील और विवेकी रत्नपाल को देखा तब उसके हृदय में रत्नपाल ने राजकुमारी के वर के रूप में स्थान प्राप्त कर लिया था। उसने सोचा—प्रेम के अमृत से स्नात मेरी पुत्री के योग्य यह रत्नपाल है। मैंने रूप और गुण में सुन्दर ऐसा दूसरा व्यक्ति नहीं देखा है। परन्तु यह प्रवासी है। क्या यह इसके साथ विवाह करना स्वीकार कर लेगा? इस चिन्ता से आकुल तूल की शय्या पर सोते हुए भी राजा को रात भर नींद नहीं आती थी। राजा ने अपनी भावना मंत्री के समक्ष रखी। उसने भी 'आपका चिंतन उचित है'—यह कहकर राजा का अनुमोदन किया। उसने आगे कहा—हमें प्रयत्न करना चाहिए, संभव है सफलता मिल जाए। एक बार राजा ने प्रसन्न वातावरण में कुमार को एकान्त में बुला भेजा। कुशल पृच्छा के पश्चात् राजा ने बहुत दक्षता से अपनी मनोभावना उसके समक्ष रखी और यह आशा व्यक्त की कि हमारी भावना निष्फल नहीं जाएगी। राजा ने कहा—भीषण रोग से मुक्ति दिलाने वाले कुमार के प्रति हम क्या प्रत्युपकार कर सकते हैं?

स्वप्न में भी अकल्पित, अदृष्ट और अविमृष्ट राजा की प्रार्थना को सुनकर कुमार अत्यन्त विस्मित और चिन्तित हो गया। उसका हृदय-समुद्र

राजा कृष्णायन ने तत्काल राजकुल के ज्योतिषी को बुला भेजा और पुत्री के विवाह के लिए तात्कालिक शुभलग्न पूछा ! ज्योतिषी ने पंचांग देखकर, अंगुलियों के पर्वों पर कुछ गिनते हुए तथा चन्द्र-सूर्य आदि स्वरों को ग्रहण करते हुए पक्ष के मध्य का एक शुभ दिन विवाह के लिए बताया। राजा ने विवाह के योग्य सारी सामग्री एकत्रित की। बाजे बजने लगे। सौभाग्यवती स्त्रियों ने मधुर स्वरों से मंगलगीत गाए। विवाह का प्राथमिक कृत्य प्रारम्भ हुआ। तोरण आदि की मनोहर रचना हुई, द्वारों पर अनेक मांगलिक पुष्पों के ढेर किए गए। सभी नागरिकों को यह ज्ञात हो गया कि रत्नपाल रत्नवती से विवाह करेगा। उन्होंने भी यथास्थान विविध प्रकार के कौतुक, मंगल आदि किए। विवाह का समय समीप आ गया। रत्नपाल के शरीर का उबटन किया गया। उसने वर के योग्य वस्त्र धारण किए। वह घोड़े पर चढ़ा हुआ अत्यन्त दीप्त हो रहा था। प्रत्येक चौराहे पर लोग वरयात्रा को बधाइयां दे रहे थे। वरयात्रा राजा के महलों में पहुँची। विवाह की सभी विधियों का निर्वाह हुआ। अपने सलज्ज नयनों से पति के मुख-चन्द्र को देखती हुई रत्नवती चकोरी की भांति मनमें अनुपमित सुख का अनुभव कर रही थी। राजा ने दहेज में अपरिमित सुवर्ण और रत्नराशि तथा अनेक विचित्र देशों से प्राप्त वस्तुएँ दीं। तदन्तर अपनी पुत्री को उसे समर्पित किया। भानुमती का पुत्र रत्नपाल अपने श्वसुर द्वारा प्रदत्त प्रासाद में अपनी नवोढ़ा के साथ आया। विवाह हो जाने पर भी रत्नपाल के अन्तःकरण में आन्तरिक शांति का अनुभव नहीं हो रहा था। उसने सोचा—'जब तक मैं अपने दुःखी माता-पिता के हृदय को शान्त न कर दूँ तब तक राजकुमारी के साथ मेरे विवाह से क्या प्रयोजन ? जहाँ आवश्यक कर्त्तव्य का निर्वाह नहीं; वहां सुख-क्रीड़ा से क्या करना है ?' ऐसा सोचकर उस विवेकी सुपुत्र ने उपने मनमें यह निश्चित प्रतिज्ञा की, कि जब तक मैं अपने पूज्य माता-पिता को न देख लूँ तब तक अपनी प्रियतमा के साथ गृहस्थाश्रम के सुख का भोग नहीं करूँगा।"

नव प्रियतम का संगम पाने को उत्कंठित अपनी नवभार्या रत्नवती से रत्नपाल ने कहा—'प्रियतमे ! हमारे कुल की यह मर्यादा है कि जब तक नव विवाहित पति अपनी वधू के साथ कुलदेवता की पूजा नहीं कर लेता तब तक वह पंचेन्द्रियजन्य सुख-क्रीड़ा में प्रवृत्त नहीं हो सकता। लज्जावती रत्नवती ने 'आर्यपुत्र ही प्रमाण है'—ऐसा कहकर प्रसन्नता से पति के

हमारी इच्छा है। एकाकी जाने की इच्छा तो नितान्त हास्यास्पद है। तुमने यह नहीं सोचा कि प्रोसित पतिका युवती पत्नी की क्या दशा होती है ? मेघ के साथ ही बिजली की शोभा है। पति के साथ ही सच्चरित्रा पत्नी की शोभा होती है। कृषक के बिना खेती और माली के बिना पुष्प-वाटिका की तरह पति के बिना दूसरों के आश्रित स्त्री की शोभा नहीं होती। स्वच्छन्द रूप से पिता के घर बहुत काल तक रहने वाली कन्याएँ आँखों में कांटों की भांति चुभने लगती हैं। इसलिए तुम्हें अपनी भार्या के साथ ही जाना है, ऐसा हमारा अभिमत है। इससे हमारे कर्तव्य का भार भी हल्का हो जायेगा। अन्यथा निरन्तर चिन्तातुर हृदय से आप वहाँ और हम यहाँ रहेंगे।' इस प्रकार अच्छी तरह से कहने पर भी रत्नपाल अपनी पत्नी को साथ ले जाने को तैयार नहीं हुआ।

राजा और रानी उसे रोकने में असमर्थ रहे। समस्या का प्रतिकार नहीं हुआ। अब हमें क्या करना चाहिए ? यह सोच दोनों चिन्तित हो गए। इतने में ही कोई एक अपरिचित प्रौढ़ जटाधारी व्यक्ति जो विविध यंत्र, मंत्र और तंत्र का ज्ञाता था, वहां आया। राजा और रानी ने सविनय वन्दन किया और उसकी यथोचित पूजा की। वह बहुत प्रसन्न हुआ। राजा के उद्विग्न और म्लान मुखकमल को देखकर तत्काल उसने कहा—नरेश ! आज आपका मुख हिम से आहत कमल की भांति (म्लान) दिख रहा है ? क्या आपके मन में कोई ऐसा अन्तःशल्य विद्यमान है ? यदि कहने योग्य हो तो आप उसे प्रगट करें, जिससे कि मेरे जैसा व्यक्ति उसका कोई प्रतिकार ढूंढ सके।"

राजा ने सखेद कहा—'भगवन् ! कहने से क्या होगा ? कोई उपाय नहीं दीख रहा है। हाय ! असंगत हो रहा है।'

जटाधारी योगी ने पुनः जिज्ञासा की कि—यदि गुप्त न हो तो मेरी सुनने की इच्छा है।'

'महात्माओं के समक्ष क्या गोपनीय हैं'—ऐसा सोचकर राजा ने अपने जामाता के एकाकीगमन की उत्सुकता बताते हुए सारा वृत्तान्त कह सुनाया। 'यहां बल प्रयोग उचित नहीं है। इसके साथ मैं अपनी पुत्री को कैसे भेज सकता हूं—यह बड़ी चिन्ता है।'

दिलाने के लिए हम तुम्हारे साथ एक महान् दक्ष बालयोगी को भेजेंगे। वह रत्नवती का बालसाथी है। वह तुम्हें समय-समय पर ससुराल की स्मृति और पुनः आने की प्रेरणा देता रहेगा। इससे हमारा मन भी पूरा भरा हुआ और आश्वस्त रहेगा।'

स्वीकारात्मक स्वर से बोलते हुए रत्नपाल ने कहा—'हां यह बहुत अच्छा है। आपने अच्छी योजना बनाई है। इसमें किसी को कोई बाधा नहीं हो सकती।'

इधर वह योगी वहां आया। उसकी मुखच्छवि अद्भुत और विमोहक थी। उसके इंगित और आकार (शारीरिक चेष्टाओं और हावभावों) से उसका चातुर्य साक्षात् परिलक्षित हो रहा था। बालक होते हुए भी उसके नेत्र-कमल प्रशान्त थे और उसके होंठ कुछ हिल रहे थे। मानों कि वह कुछ जप रहा हो उसके गले में रुद्राक्ष की माला थी। सबने उसे ससम्मान वन्दन किया और उसे उचित आसन पर बिठाया। उसे देखकर रत्नपाल रोमाञ्चित हो उठा और उसका मुँह विस्मय से प्रफुल्लित हो गया। अरे! इस कोमल बाल-काल में भी इसे वैराग्य कैसे हो गया? धन्य है इसके माता-पिता, कुल में ऐसे वंशोद्धारक और भविष्यद् योगी पुत्र का जन्म हुआ।'

रत्नपाल ने पूछा—'भदन्त! क्रीड़ा योग्य और जगत् के व्यवहार से अजान इस बाल्यकाल में आपकी विरक्ति का कारण क्या है? यह आश्चर्य होता है कि—आपने बन्धुजनों का स्नेह कैसे तोड़ दिया? अहा! यह लोकोत्तर कार्य है!

यदि मनुष्य जागरूक होकर देखता है तो इस संसार में पग-पग पर वैराग्य है। क्या संसारी प्राणी यह नहीं जानता कि—'यहां की कौनसी वस्तु स्थिर है?' जो व्यक्ति ऐसा कहते हैं कि—प्रभात में या सांयकाल धर्म का आचरण करेंगे'—उनका कथन मूर्खतापूर्ण है। क्या आगम का उद्घोष नहीं सुना है?

—'जिस व्यक्ति की मृत्यु के साथ मित्रता है, जो यह मानता है कि मृत्यु आने पर मैं पलायन कर जाऊँगा और जो यह जानता है कि मैं नहीं मरूँगा'—वही व्यक्ति धर्म को भविष्य के लिए छोड़ सकता है—इस प्रकार कहता हुआ योगी आँखें बन्दकर ध्यान में लीन हो गया। शान्त रस को बहाने वाली उसकी मुख मुद्रा को देखकर रत्नपाल प्रभावित हुआ।

के चित्त को निपुणता से अपने अनुकूल करना। अपने पति का कठोर और सरोप शब्द भी समय पर धैर्य से सहन करना। अन्यथा चिड़चिड़े स्वभाव वाले व्यक्तियों का गृहस्थाश्रम नहीं चल सकता। पुत्री ! तू दूसरों के मन को तब ही जीत सकेगी, जबकि तू अपने मन पर विजय पा लेगी। वस्त्र अलंकार युक्त रूप और लावण्य का दीखने वाला आकर्षण तो एकबार और क्षणिक होता है। परन्तु मधुर व्यवहार का प्रभाव अटल और नित्य परिवर्द्धित होता रहता है और सबको वह समान रूप से आकृष्ट करता है। बेटो ! यह जीवन संग्राम है। यहाँ अनेक अनुकूल और प्रतिकूल उपक्रम होते रहते हैं। उसमें शुभ भावनाओं से भावित और रोचित धार्मिक भावना ही सामयिक शांति देने में क्षम है। इसलिए दुःखी व्यक्ति की तरह सुखी व्यक्ति को भी धर्म की आराधना करनी चाहिए। धर्म से सिक्त समता की लता विकसित होती है और वह नित्य कल्याणकारी फल देती है। इसलिए धार्मिक व्यक्ति सदा सुखी रहता है।' इस प्रकार अनेक सुवचनों से रत्नवती को बहुत शिक्षा देती हुई उसे अपने अनुभवों से बोधित किया और छाती से चिपका लिया स्वयं रोती हुई, दूसरों को रुलाती हुई रत्नवती प्रस्थान के लिए तत्पर हो गई। इधर जामाता रत्नपाल सज-धजकर श्वसुर पक्षवालों का आशीर्वाद लेने के लिए उपस्थित हुआ। सास ने जामाता को आशीर्वाद दिया। 'आपका कार्य सिद्ध हो आपका पथ निर्विघ्न हो'—सभी ने रोमांचित होकर सप्रेम कहा। राउल भी वहां आगया। अन्तरंग में वह विरह से खिन्न हो रहा था, किन्तु बाह्यभाव से आनन्दित होता हुआ, निस्संकोच वह रत्नपाल के समकक्ष बैठ गया। सास ने कहा—'जामात ! राउल हमारी पुत्री का अनन्य सहचर है। रत्नवती की भांति इसकी सुरक्षा आपको करनी है, ज्यादा क्या कहें। यह हमें बहुत प्रिय है'—यह कहती हुई रानी रोने लगी।

'आप तनिक भी चिन्ता न करें ! यह मेरी सही प्रतिज्ञा है कि मैं इसको सभी अनुकूलताएँ दूँगा। यह अब आपका ही क्या हमारा भी है'—ऐसा कहते हुए रत्नपाल ने मित्र की तरह राउल का सहजभाव से आलिंगन किया। हाथी पर आरूढ़ हुए। नगर के बीचों-बीच होती हुई, बहुत आडम्बर के साथ उनकी प्रवास-यात्रा निकली। समुद्र तट तक राजा आदि सभी राजवर्गीय लोग उन्हें पहुँचाने आए। राजा ने अतुल संपत्ति दी। उसे नाव पर रखा गया। राउल ने भी रूप परिवर्तन करने वाली दो जड़िया तथा अन्य

आवश्यक वस्तुओ से भरी एक पेटी साथ मे ली। राजा आदि को रत्नपाल ने प्रणाम किया। वह पच नमस्कारमत्र का स्मरण करता हुआ, राउल के साथ नौका मे बैठ गया। सभी ने शुभ मगल शब्द कहे और शुभ मुहुर्त्त मे नौका वहा से चल पडी। अनुकूल हवा से प्रेरित होकर नौका त्वरित गति से चली और अदृश्य हो गई राजा आदि सभी परिजन अपनी पुत्री के विरह से उद्विग्न होते हुए भी इच्छित कार्य के सम्पादन मे प्रसन्नता का अनुभव करते हुए अपने-अपने स्थान पर चले गए।

इधर नौका मे बैठा हुआ राउल पैतृकपक्ष के विरह से क्षुब्ध हो गया और वह अतुल आकुलता का अनुभव करता हुआ भक्तिगान के मिष से आंसू बहाने लगा। ज्यो त्यो अपने भावो का गोपन करते हुए उसने अनेक सूक्ति, पद्य और गाथाओ के द्वारा विरह रस की गभीरता को दिखाते हुए सबके मन को गद्-गद् कर दिया।

६

छठा उच्छ्वास

●

विश्व की विचित्रता का वर्णन नहीं किया जा सकता। भव की भावना की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यहां क्या सुख है, क्या दुःख है ? क्या प्रिय है, क्या अप्रिय है ? कौन अपना है, कौन पराया है ? जहां भी गुड़ की डली दीख पड़ती है, वहां मक्खियों का समूह बिना निमंत्रण दिए ही एकत्रित हो जाता है। पानी से भरे तालाब में सभी दिशाओं से पक्षी स्वयं आ जाते हैं। अहो ! संसार स्वार्थप्रधान है; परमार्थ प्रधान नहीं। अरे, धवल दीखने वाला कार्य भी अन्तर की अभिलाषा से कुछ मलिन बना रहता है। धन्य हैं वे कुछ एक व्यक्ति जो परमार्थ भाव से जगत् की निष्काम सेवा करते हैं।

'अतुल समृद्धि का अर्जन कर रत्नपाल समुद्र तट पर आया है'। यह सुनकर नागरिक तथा उसके बन्धु-जन वे सभी एकत्रित होकर प्रसन्न मुद्रा में रत्नपाल की अगवानी के लिए समुद्र तट पर जहाज के निकट आ पहुँचे। जय-विजय शब्दों में उसे बधाईयां देते हुए वे प्रिय वचनों से सम्बोधित करते हुए कहने लगे—'पुत्र ! प्रतिदिन मेघ की तरह हम तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे थे। तुम जिनदत्त के कुलीन पुत्र हो। पिताजी का नाम तुमने उज्ज्वल किया है। मन्मन अन्दर से दुःखी था—किन्तु व्यवहार के लिए वह भी वहां आया। रत्नपाल ने भी सम्मुख आए हुए सभी व्यक्तियों को प्रसन्नता से

उसने सोचा—'हाय । वे मेरे कारण कहां कष्ट भोग रहे हैं ? मेरी इस विपुल सम्पत्ति से क्या लाभ ? जब तक कि मैं अपने माता पिता के दर्शन नहीं कर लूं ।'

बन्धुओं ने कहा—'सुपुत्र ! तू अपने आपको संभाल ! शीघ्र ही वे तुझे मिल जायेंगे । हम उनकी खोज करवायेंगे । भाग्य की अनुकूलता से उनका वृत्तान्त हमें प्राप्त होगा । अब तू यहा के अस्त-व्यस्त कार्य को ठीक कर जिससे तेरे पिता का नाम उज्ज्वल हो सके ।' रत्नपाल ने उनका कथन स्वीकार किया । सभी बन्धुजनों और मित्रों के साथ प्रीतिभोजन संपन्न हुआ । जिनदत्त के पास रहने वाले अनेक भृत्य कर्मकर, गुमास्ते और मित्रजन मिल जुल कर आए और अपना-अपना परिचय देते हुए बोले—'श्रेष्ठिकुमार ! महावृक्ष के नष्ट हो जाने पर घोंसलों में संस्थित पक्षियों के बच्चों की जो दशा होती है, वही दशा, जिनदत्त श्रेष्ठि का आश्रय न रहने से हमारी हो रही है । अब हम आशा करते हैं कि तुम अपने पिता की भांति हमें आश्रय देने वाले होगे ।' रत्नपाल ने सबकी प्रार्थनाएं सुनी, उनकी मांग को जानकर उन्हें यथायोग्य कार्य देकर उनको संतुष्ट और हर्षित किया । अब मेरा प्राथमिक क्या कर्त्तव्य है ? इस प्रकार कतिपय प्रौढ़जनों से रत्नपाल ने पूछा, और उनके कथनानुसार कार्य करते हुए उनका सम्मान किया ।

इसके बाद नगर के प्रमुख व्यक्तियों के साथ रत्नपाल राजा के पास गया और उपहार प्रस्तुत करते हुए कहा—'नरदेव ! जिनदत्त श्रेष्ठि से जो कोई लोग ऋण मांगते हैं वे मुझसे व्याज सहित अपना-अपना धन शीघ्र ले जांए और जो लोग सेठ के कर्जदार हैं वे सब शीघ्र ही मुझे धन लाकर समर्पित करें ।

राजा ने तत्काल ही नगर में यह घोषणा कर दी कि—'जिनदत्त सेठ से सम्बन्धित जो धन लोग मांगते हैं, वे अपना धन ले जाएं 'और जिन्हें अपनी रकम वापस लौटानी है वे रत्नपाल को सारी रकम दे जाएं ।'

तत्काल उचित व्यवस्था हो गई । कर्ज मांगने वालों को सारा धन मिल गया और जो कर्जदार थे उन्होंने अपनी-अपनी रकम रत्नपाल को लौटा दी । जो क्षेत्र, वस्तु, दुकान, मकान आदि दूसरों के हाथ चले गए थे, वे सब पुनः रत्नपाल ने अपने आधीन कर लिए । नगर में इसकी कीर्त्ति फैल गई ।' अहो ! रत्नपाल बालक होता हुआ भी कितना बुद्धिमान् है जिसने सारे अव्यवस्थित कार्य को सुव्यवस्थित कर दिया । राज़ल ने भी वहां की सारी

सुखी गृहस्थ घर से निकलता है ? गृहस्थ अनेक ऊनी वस्त्र पहनकर विशिष्ट शक्तिदायक औषधों से मिश्रित मिष्ठान्न खाकर, स्त्री और पुत्र से परिवारित होकर, अग्नि के पास बैठकर हेमन्त ऋतु के दिनों को बिताता है, वहां निस्पृह जटी, श्रमण और तापस, फटे वस्त्र पहनने वाला या नग्न व्यक्ति सानन्द वृक्षमूल में रहकर ध्यान करता है, परमेष्ठी का स्मरण करता है, क्षुधा को सहता है और सुखपूर्वक शीतकाल को व्यतीत करता है। इसी प्रकार उष्णकाल भी भोगियों के लिए अनुकूल नहीं है। ग्रीष्मऋतु में सूर्य बहुत तेज किरणों से तपता है। सारी धरती अग्नि के समान हो जाती है। उस समय सारा वातावरण तप्त हो जाता है और असहनीय वायु चलती है। बार-बार पोंछने पर भी पसीना नहीं सूखता। प्यास से आकुल होठ, तालु और कंठ पानी पीने पर भी, 'कभी पानी पिया ही नहीं, 'ऐसा अनुभव करते हैं। उस ऋतु में जिस पुण्यवान् व्यक्ति के पास समग्र भोग सामग्री है, जो अनेक प्रकार के शीतल पेय पीता है और वातानुकूलित गृह में रहता है, वह घर को क्यों छोड़ेगा ? ऐसे समय में भी मुनि जहां कहीं स्थित होकर, जो कुछ ठंडा या गरम भोजन खाता हुआ, ऊष्ण जल पीता हुआ, बिना बिछौने भूमि पर सोता हुआ भी परम प्रसन्न दीखता है। जो योगी प्रतिपल परमपद का स्मरण करता है वह ग्रीष्मकाल की तप्ति का अनुभव कैसे करेगा ? जिसके लिए सभी बाहरी पदार्थ बाह्य हैं, उसके लिए सुख दुःख की क्या कल्पना हो सकती है ? अहो ! मुनि का मार्ग विचित्र होता है। इसी प्रकार वर्षाकाल भी गृहस्थों के लिए सुखावह नहीं होता। जब मेघ बरसते हैं तब सूर्य प्रच्छन्न हो जाता है और घना अंधकार छा जाता है। हृदय को कम्पित करती हुई बिजली चमकती है। मेघ का गर्जन कर्ण-विवर को भेद डालता है। रास्ते कीचड़मय हो जाते हैं। नदियां वेग से बहने लगती हैं। मेघ में छिपा हुआ सूर्य भी कदाचित् आन्तरिक घाम का अनुभव करता है। ऐसे समय में पत्नी से विरहित कौन व्यक्ति सुख से रह सकता है ? भाग्य से परवश प्रवासी होने वाला कोई भी व्यक्ति अपने घर का रात-दिन स्मरण करता रहता है। प्रवासी पति की मानिनी पत्नी पपीहा के 'पिउ-पिउ 'शब्द से अपने पति का स्मरण करती हुई उत्कृष्ट अन्तर्वेदना का अनुभव करती है। उस पावस काल में भी पानी-भोजन का प्रत्याख्यान कर गिरि कन्दराओं में रहने वाले, शरीर और मन की समस्त चिन्ताओं से रहित, अक्षुण्ण ब्रह्मचर्य से परिवर्धित तेज वाले, ध्यान में लीन मुनि अलक्षित और अतर्क्य सुख का अनुभव करते हुए समय बिताते हैं। अतः मुनियों के लिए सभी ऋतुएं अनुकूल होती हैं।

उसने भीतर ही भीतर रोते हुए राउल का गाढ़ आलिंगन किया। और विरह व्यथित नेत्रों से उसे देखता हुआ लिखित चित्र की भांति वहां स्थिर हो गया। उसने राउल को त्वरित गति से जाते हुए देखा और क्षण भर के बाद राउल एक वृक्ष की ओट में अन्तर्धान हो गया।

रत्नपाल ने सोचा—'जिसकी मैंने स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी, वह कैसे घटित हुआ ? ओह ! बालक होते हुए भी इसका सौजन्य कितना उत्तम है ? इसकी कैसी अद्भुत निर्भयता है ? इसकी बुद्धि की स्फुरणा और परोपकारनिष्ठा कैसी है। ओह ! इसका उत्साह और महात्म्य अनन्य है। इसका स्वभाव मधुर है और सदा मुस्कराता रहता है। ओह ! यह किसकी संतान है ? मानता हूँ कि यह बालकमुनि महान् कुलीन है। मुझे धिक्कार है, मुझे धिक्कार है ! इस प्रकार के सुखोचित और सुकुमार शरीर वाला यह मेरे लिए गांव-गांव में भटकेगा, जो कुछ मिलेगा उसे खाएगा, जहां कहीं स्थान मिलने पर विश्राम करेगा, उसी काम में वह तन्मय होकर अनेक कष्टों को सहन करेगा। अज्ञानी व्यक्तियों द्वारा तिरस्कृत होने पर भी समभाव से भावित होगा।' इस प्रकार अनेक विकल्प करता हुआ, चिंता करता हुआ, संमूढ हृदय से रत्नपाल घर आया। प्रत्येक कार्य में तथा भोजन के सयय में राउल का प्रतिपल स्मरण करता हुआ रत्नपाल एक-एक दिन को अंगुली के पैरवों पर गिनता हुआ ज्यों-त्यों समय बिताने लगा।

इधर राउल तेज गति से मार्ग चला जा रहा था। बीच में जो भी गांव, नगर, खेट आदि आते, वह वहां सूक्ष्मरूप से खोज करता, लोगों से पूछता, तर्क करता और रत्नपाल के माता-पिता के नाम बताता, उनका संकेत देता। कुछ भी संकेत न मिलने पर आगे बढ़ जाता। आलस्य से वह कहीं भी समय को व्यर्थ नहीं गवांता था, न विश्राम करता और न निश्चिन्तता से सोता ही था। वह अपरिचित गांवों और नगरों में एकान्त में बैठकर वीणा बजाता हुआ कर्ण के लिए अमृत तुल्य और मधुर वैराग्यमय गीतों से जनता को आकृष्ट करता था। उस बालयोगी की अद्भुत रूप संपदा को देखकर जनता सम्मोहित हो जाती और अनेक वस्तुओं का दान कर उसे सम्मानित करती, उसका सत्कार करती और घर पर आने के लिए निमंत्रित करती। किन्तु राउल के मन में कोई पिपासा नहीं थी। वह कुछ भी स्वीकार नहीं करता। वह भिक्षाचर्या से आटा दाल आदि द्रव्य लाता और अपने हाथों से रसोई बनाकर एक बार भोजन करता था। फिर जब लोगों से परिचय हो

योगीजन बड़े या छोटे—सब पर समान दृष्टि वाले होते हैं। उनके मन में कहां जाना चाहिए, कहां नहीं, कहां रहना चाहिए, कहां नहीं - इस प्रकार के विकल्प नहीं उठते अतः मैं इस बालमुनि को भिक्षा के लिए निमंत्रित करूं'—ऐसा सोचकर वह राउल के भोजन योग्य कुछ पदार्थ लेकर उसके पास गई और विनय से प्रणाम करती हुई बोली—'बालयोगीश्वर! आपने बड़ी कृपा की। हम जैसे मन्दभाग्य आपके पवित्र दर्शनों से कृतकृत्य हुए हैं। यद्यपि आपका स्वागत करने योग्य कोई विशिष्ट वस्तु नहीं है, तो भी मुनियों के लिए भक्ति ही विशिष्ट वस्तु है'—यह सोचकर मैं कुछ रूखी-सूखी वस्तु लाई हूं, आप कृपा कर उसे ग्रहण करें। मुने! यदि हम पुरिमतालपुर में होते तो आपकी असाधारण भक्ति—शुश्रुषा करते। परन्तु क्या, अभी जो है'—इस प्रकार कहती हुई भानुमती की आँखें डबडबा आईं, और अपनी गीली आँखें पोंछती हुई मौन हो गई।

प्रेम की पिंडलिका, वात्सल्य की पंक्ति, सरलता की प्रतिमूर्ति, कृपा की पात्र और प्रकृति से सौम्य सास भानुमती को राउल ने देखा। राउल ने उसे देखकर अनुभव किया कि वह पुत्र के वियोग से कृश होने पर भी कर्त्तव्य के पालन में पुष्ट, दारिद्र्य रूपी दावानल से दग्ध होने पर भी भावना से दान देने में उत्सुक, स्वभाव से मधुर और धर्मिष्ठ है। उसने सोचा—'ओह! धन चला गया परन्तु दानशीलता नहीं गई, मानवता नष्ट नहीं हुई। धूल से मटमैला हो जाने पर भी क्या रत्न की महामूल्यवत्ता कम होती है? भूमि पर गिरजाने पर क्या मेघ का पानी कड़ुवा हो जाता है? पत्र, पुष्प फल से विहीन होकर भी क्या आम नीम हो जाता है? निश्चित ही यह गुणरूपी रत्नों की खान है, इसलिए यहां रत्न उत्पन्न हुआ है। निश्चित ही अग्नि से तप कर सोना दीप्त होता है। घिसे जाने पर ही चन्दन की महक फूटती है।' इस प्रकार सोचता हुआ राउल पहले की तरह वीणा बजाता हुआ मौन हो गया।

प्रत्युत्तर की प्रतीक्षा करते हुए भानुमती ने पूछा—'आप जवाब क्यों नहीं दे रहे हैं? आप इस भक्ति भरी भिक्षा को क्यों नहीं ले रहे हैं? यह भिक्षा सूखी होने पर भी प्रेम से स्निग्ध है, निकृष्ट होने पर भी भक्ति विशिष्ट होने से मिष्ट है।

माता जी! भिक्षा अभी मुझे नहीं चाहिए। तुम्हारी असाधारण भक्ति को देखकर मुझे वह अवश्य ग्रहण करनी चाहिए, किन्तु प्रभु की भक्ति के रसपान से मेरा मन तृप्त है, थोड़ी भी भूख प्यास नहीं है। मुनियों के लिए

भोजन की क्या चिन्ता है ? जहा वे जाते है वहा अनेक दाता भिक्षा लिए उनकी प्रतीक्षा मे खडे रहते है। मा, मै कुछ समय पूर्व ही पुरिमतालपुर से प्रस्थान कर अनेक गाव, नगर, पुर और पत्तनो मे घूमता हुआ यहा आया हूं। सुन्दर स्थान देखकर मै तुम्हारी झोपडी की वेदिका पर विश्राम करने बैठा हूं। प्रभु के गुणगान से मुझे आध्यात्मिक विश्रान्ति प्राप्त हुई है। तेरे भक्ति भरे निमत्रण मे बहुत सतुष्ट हुआ हूं—' राउल ने निरपेक्ष भाव मे कहा।

पुरिमताल का नाम सुनकर भानुमती का हृदय किसी अचिन्त्य आशा की रेखा से स्पृष्ट हुआ। उसने तत्क्षण पूछा—'क्या आप पुरिमताल मे आए हैं ?

राउल ने कहा—'हा वहीं से।'

भानुमती ने उत्सुकता से पूछा—'क्या आप वहा के विशिष्ट व्यक्तियो को जानते है ?'

राउल—'क्यो नही, वहा मै बहुत काल रह चुका हूं अत वहा के प्रमुख व्यक्तियो से परिचित हूं।'

भानुमती—'तब तो आप मम्मन सेठ को अवश्य जानते होगे ?'

राउल—'हा, वह नगरप्रसिद्ध धनाढ्य कृपण है। भानुमती का हृदय-कमल हर्ष मे विकसित हो गया। उसने पूछा—क्या आप उसके पुत्र-स्थानीय रत्नपाल को जानते है ? नई भाव-भगिमा दिखाते हुए राउल ने कहा—'ओह ! आप उस रत्न को कैसे जानती हैं ? वही मेरा परम प्रिय अनन्य मित्र है। मा ! मै उसके साथ छह महीने तक रहा हूं।'

अत्यन्त उत्सुकता से भानुमती ने पूछा—क्या यह सही है ? आप उसे जानते है ? इस प्रकार कहती हुई वह उसके पास आकर बैठ गई।

राउल ने कहा—'हमारे जैसे योगियो के लिए कौनसा रहस्य अज्ञात रहता है ? उसका सारा घटित घटनाचक्र मुझे ज्ञात है। वह मम्मन का पुत्र नही है, किन्तु वह सेठ जिनदत्त का कुलदीप और भानुमती का अगज है। दुर्भाग्य से पीडित उसके माता-पिता सताईस दिन का होने पर उसे मम्मन के घर धरोहर के रूप में रख कर किसी अज्ञात दिशा की ओर चले गए है।'

चिरकाल के बाद पुत्र के वृत्तान्त को सुनकर बहुत उत्सुकता से भानुमती ने पूछा—राउल, उसके आगे क्या हुआ ?

पुत्र की विरहाग्नि से तप्त माता के हृदय को पुत्र के कुशल क्षेम के समाचार रूपी जलधारा से शांत करते हुए राउल ने कहा—'मम्मन ने रत्नपाल का पुत्र की तरह पालन किया और पढ़ाया। जब वह बारह वर्ष का हुआ तब अपने एक कर्जदार के मार्मिक शब्दों से आहत होता हुआ वह अपने वृत्तान्त से अवगत हुआ।

एकटक देखती हुई मां ने कहा—बाद में, बादमें क्या हुआ ?

राउल—जैसे सिंह के बच्चे की तरह वह अपने स्वरूप को जानकर तत्क्षण विदेश जाने के लिए तत्पर हो गया। मम्मन के बहुत अनुरोध करने पर भी वह नहीं रुका। अन्त में वह नौका को विक्रेय वस्तुओं से भरकर समुद्र यात्रा के लिए निकल पड़ा।

(मन ही मन में) ओह ! उस दूध मुंहे बच्चे ने ऐसा साहस किया ? भानुमती का शरीर रोमांचित हो उठा। वह बोली—'अच्छा, ऐसा दुष्कर कार्य उसने किया ? उसके आगे भी कोई समाचार है ?

राउल—'क्यों नहीं ? सुनो ! आज तक का वृत्तान्त। वह कालकूट नामक द्वीप में गया। पुण्यों के संयोग से राजा निरोग हो गया। माल के बिकने पर उसे अतुल लाभ हुआ। उसकी राजपुत्री रत्नवती से विवाह हुआ।

आश्चर्य से भानुमती ने कहा—'राउल क्या कह रहे हो ? क्या वह इतना भाग्यशाली है कि राजा का जमाई हो गया ?'

राउल—हां मां, यह सत्य है। वह महान् भाग्यवान प्रगट हुआ है। क्या तुम यह जनश्रुति नहीं जानती कि पुरुष का भाग्य कौन जान सकता है ?

भानुमती की आंखें हर्ष से गीली हो गई। उसने पूछा—'क्या वह वहीं रह रहा है या अपने नगर को लौट आया है ?

राउल—'मां क्या पूछ रही हो ? वह माता-पिता के विना वहां कैसे रह सकता है ? वह वहां से शीघ्र ही लौट कर सकुशल अपने नगर में आ गया उसने अपना सारा ऋण चुका डाला और तत्काल मम्मन के घर से निकला और पूर्ण ठाट-वाट के साथ अपने घर आ गया। अब वह प्रतिपल माता-पिता के दर्शनों के लिए उत्सुक है।'

रोते-रोते भानुमती ने कहा—'मैं ही पुत्र विरहिणी और अभागिनी भानुमती रत्नपाल की जननी हूं। आज का दिन धन्य है कि मुझे प्रिय पुत्र के यथार्थ समाचार सुनने को मिले। योगीन्द्र ! मैंने पुत्र के वियोग में कौन-कौन

जिनदत्त ने राउल को भिक्षा लेने के लिए बहुत निमंत्रण किया परन्तु उसने स्वीकार नहीं किया। वहां से उठकर जाते हुए उसने कहा—'सायं या प्रातःकाल मैं यहां पुनः आऊँगा। वहां से चन्दन को ठगने वाले धनदत्त को ढूंढ़ने के लिए नगर में गया। वह एक चौराहे पर बैठा और इतने मधुर स्वरों से वीणा बजाई कि नगरवासी लोग स्वयं आकृष्ट हुए और मृग-समूह की भांति नाद से मोहित होकर बहुत सारे लोग राउल के चारों ओर एकत्रित हो गए। उन्होंने उसे अनेक चीजें स्वीकार करने के लिए कहा, किन्तु राउल ने कुछ भी ग्रहण नहीं किया। अपनी निस्पृहता के कारण उसने जनता के मन में बहुत बड़ा स्थान पा लिया। वह अपने हाथ से सात्विक भोजन बनाता और उसी में संतुष्ट रहता। जहां कहीं एकान्त में रात बिताता और चतुराई से धूर्त धनदत्त के घर से परिचित हो गया।

इधर भवितव्यतावश राजा के शरीर में दाघज्वर का रोग उत्पन्न हो गया। किए गए सारे उपाय निष्फल हुए। वेदना से पीडित राजा बहुत पीड़ा का अनुभव कर रहा था। तब एक श्रद्धालु व्यक्ति ने राजा से निवेदन किया—'आप ऐसी वेदना का अनुभव क्यों कर रहे हैं ? यहां एक योगी आया है। उसका नाम राउल है। वह यंत्र, मंत्र, तंत्र और औषधियों में निपुण है। उसके आशीर्वाद से आपका रोग मिट जाएगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसलिए उसे यहां निमंत्रित करना चाहिए। वह कृपालु है, अवश्य कृपा करेगा। उसी समय दुःखी राजा ने मंत्री के साथ ससम्मान यह प्रार्थना भेजी कि योगिराज दर्शन देने के लिए राजमन्दिर में आयें। राउल ने कहा—'क्या हानि है ? राजा को मैं अवश्य दर्शन दूंगा। प्रभु की कृपा से सब ठीक होगा।' इतना कहकर तत्काल वह वहां से उठा और लोगों से घिरा हुआ वह अपने लय में लीन, होठों से उपांशु जाप करता हुआ राजमहल में आ पहुँचा। राजा ने योगी को सविनय प्रणाम किया और आसन दिया। राजा ने कहा—'योगीश्वर ! आपके दर्शन से आज मैं कृतार्थ हुआ हूं। दाघज्वर की तीव्र अनुभूति हो रही है। चिकित्सा करते-करते सभी चिकित्सक हार गए। अब मैं आपकी शरण में हूं। अनुगृह करें।'

योगिराज राउल ने प्रसन्नता से कहा—'राजन्! सब कुछ कल्याण करने में ईश्वर समर्थ है जिसके स्मरण मात्र से आन्तरिक रोग भी नष्ट हो जाते हैं, वहां बाहरी रोगों की बात ही क्या है ? मनुष्य अपने ही अज्ञान से रोगी होता है। प्राकृतिक नियमों का खण्डन करना ही रोगों को आमंत्रण देना है। वास्तव में इन्द्रियों की आसक्ति ही अनेक रोगों की जननी है। यदि वह आसक्ति

मेरे पर कृपाकर कुछ ग्रहण करें। क्योंकि वास्तव में महान् व्यक्तियों को दिया गया दान, खेतों में बीज की भांति, शत—सहस्र गुणित-फलित होता है। मुनियों को दान देने वाले दाता स्वयं अनुगृहीत होते हैं। इसलिए आप करुणा कर कुछ लेने की कृपा करें।

राजा के विनय पर ध्यान न देते हुए राउल ने उपदेश की भाषा में कहा—'राजन्! मुनियों को क्या चाहिए? जिनकी निराशा ही आशा है और अकिंचनता ही धन है। अहो! याचनाशील योगी भी जगत् में क्या मांगे? उसे अन्न और पानी भिक्षा से प्राप्त हो जाते हैं। उनका शयन स्थान भूमि है। उनका मकान वृक्ष का मूल है। उनके परिजन सारे मनुष्य हैं। उपवास उनके चिकित्सक हैं। राजन्! थोड़े से त्याग से भी बहुत प्राप्त होता है। योगी आशा रूपी एक जाल को तोड़कर तीन लोकों की समृद्धि को पा लेता है। क्या यह अतिलाभ का व्यापार नहीं है? तो भी तुम्हारी भक्ति पूर्ण प्रार्थना को अपने खजाने में जमा रखता हूं। जब आवश्यकता होगी तब तुमसे कुछ मांगूंगा।" इतना कहकर राउल वहां से उठ खड़ा हुआ। राउल की निस्पृह वृत्ति को देखकर सभी विस्मित हुए। सारे नगर में यह आश्चर्य चर्चा फैल गई कि—'राउल विचित्र शक्तियों से संपन्न है।' इसने क्षण भर में राजा की तीव्र वेदना को नष्ट कर दिया। अब राउल का माहात्म्य सर्व विदित हो गया।

एकबार संध्या की वेला में अकेला राउल धनदत्त के घर के सामने आया और धीरे-धीरे वीणा बजाने लगा। संध्या की बेला में वीणा की ध्वनि सुन कर आंखों के आगे राउल को खड़े देखकर धनदत्त जी भार्या भयभीत होगई। वह कांपती हुई तत्काल बाहर आई और राउल से बोली—'राउल! तुम यहां विकाल वेला में क्यों आए? जो चाहे वह ले लो और यहां से आगे अन्यत्र चले जाओ। तुम राजा के द्वारा सम्मानित और पूजित हो। मैं अबला स्त्री अभी अकेली हूं। तुम्हारा यहां ठहरना बिल्कुल उचित नहीं है। जब इस बालक के पिता घर पर आएं तब तुम यहां पुनः लौट आना। तब तुम्हारी उचित सेवा भक्ति हो सकेगी।'

अपने कार्य में दक्ष राउल ने गंभीर होकर कहा—बहिन! अकेली स्त्री के घर पर आने का मेरा परम धर्म नहीं है, किन्तु भविष्य में होने वाले अशुभ की आशंका से तथा परोपकार-बुद्धि से मैंने यहां आने का साहस किया है। ओह! बहुत अनिष्ट होने वाला है।

दीर्घ निश्वास छोड़ती हुई-पति को एक ओर लेजाकर टूटे-फूटे शब्दों में बोली—'आर्य पुत्र ! आप शीघ्र ही घर चलें। अपने सिर पर विपत्ति की घटा नाच रही है दूसरों को ज्ञात न हो, गुप्त बात है। यहाँ मैं उसे प्रकट नहीं कर सकती।'

सेठ का धैर्य विचलित हो गया, वह तत्क्षण अपनी पत्नी के साथ चल पड़ा। अनेक संकल्प-विकल्पों को संजोता हुआ, वह दौड़कर घर पहुँचा। पत्नी ने घर के द्वार दृढ़ता से बंद कर डाले और राउल द्वारा कथित बात कहते हुए बोली—'पतिदेव ! चन्दन अपने पास विद्यमान था। राजा के द्वारा मांगे जाने पर भी आपने उसे क्यों नहीं दिया ? ऐसे समय में तो वह चीज स्वयं देने योग्य थी। यह सच है कि अति लोभ का सर्वत्र वर्जन करना चाहिए।

पत्नी के मुँह से राउल द्वारा कथित सारी बात सुनकर वह सेठ अत्यन्त उत्रस्त हो गया। उसने सोचा – 'यदि प्रातःकाल होते ही राजपुरुष आकर घर की छानबीन करेंगे और प्रचुर चन्दन का खजाना देखेंगे तो मेरी क्या दुर्दशा होगी ? हाय ! अति लोभ ने सारा नाश कर डाला। मैंने व्यर्थ ही भद्र गरीब जिनदत्त को धोखा दिया। व्यर्थ में संपादित धन व्यर्थ ही चला जाएगा और वह भी मेरी सारी संपत्ति के साथ। ओह ! समय थोड़ा है। मुझे अब क्या करना चाहिए ?

अन्त में दोनों भयभीत पति-पत्नी ने रात में अपने हाथों से सारा बहु-मूल्य चन्दन लेकर घर के पीछे एकान्त स्थान में गर्हित वस्तु की तरह फेंक दिया। उसका मन प्रचण्ड भय से खण्डित हो चुका था। उसने चन्दन का एक भी टुकड़ा घर में नहीं रखा और भय से त्रस्त होकर उसने अतीत में उस चन्दन के बेचने से जो धन प्राप्त हुआ था, उसे भी वहीं फेंक दिया। जहां चन्दन पड़ा था, उस स्थान को गोबर से लीप दिया ताकि गोशीर्ष चन्दन की तनिक भी सुगन्ध न आए। पश्चात् धनदत्त पश्चिम रात्रि में, घर के द्वार बन्द कर अपनी पत्नी को साथ ले उद्विग्न होता हुआ अन्यत्र दौड़ गया। कपट कला की परिणति विचित्र होती है। इसलिए नीतिकारों ने यह ठीक ही कहा है कि 'माया भय है।'

सूर्योदय से पूर्व राउल वहां गुप्त रूप से आया। चारों ओर घूमते हुए उसने घर के पीछे फेंकी हुई चन्दन राशि को देखा और बहुत प्रसन्न हुआ। उसने सोचा—'ओह ! मेरी माया सफल हुई। कांटे से कांटा निकल गया। पापी को उचित प्रतिफल मिला। उसने तत्काल सारा धन बटोकर छुपा लिया।

पश्चात वह अवसर को पाकर राजा के पास पहुँचा । राजा ने उसका सम्मान किया और आसन दिया । राजा ने बहुत बहुत आग्रह पूर्वक पूछा—'आपको क्या चाहिए ?' राउल ने कहा—'राजन् ! मैं यहा से लौट जाना चाहता हूँ । ऐसे सकुल नगर मे मुनियो का मन नही लगता । भावावेश मे गृहस्थ लोग मुनियो को भी गृहस्थी के प्रपच मे घसीट लेते है । मुनियो के लिए ससर्ग का त्याग बहुत आवश्यक है । जैसे गृहस्थ मुनियो के ससर्ग मे वैराग्य को प्राप्त करते है, वैसे ही मुनि गृहस्थो के अधिक ससर्ग मे सयम मे शिथिल हो जाते है । इसलिए मैने यह निश्चय किया है कि घने जगल के किसी एकान्त स्थान मे मुनियो के निवास योग्य मठ की स्थापना करनी चाहिए । दानशील नागरिको ने मठ के योग्य काठ दिया है और वह काठ एकत्रित पडा है । इसलिए उनको ले जाने के लिए गाडिया चाहिए । दूसरे नागरिक गाडिया देने के लिए अत्यत आग्रह कर रहे है किन्तु मै आपसे वचन बद्ध हूँ कि राजा से ही याचना करनी है' यही चिन्तन कर यहा आया हूँ ।

राउल को जाने के लिए तत्पर देखकर राजा खिन्न हो गया । मेरा परम उपकारी जा रहा है, यह उचित नही, यह सोचकर राजा ने कहा—योगीश्वर ! जाने की यह कैसी शीघ्रता ? आपको यहा आए थोडे ही दिन हुए है । जो नि सग है, उनको आसग की कैसे शका ? हमारे जैसे पापी और मन्दभाग्य व्यक्ति भी आपकी सगति से अपनी आत्मा को पवित्र करते है, इसलिए मुनि जगम तीर्थ होते है । गाडियो के लिए क्या मागना ? आपको जितनी जितनी गाडियो की आवश्यकता हो ले जाइए । यह कौनसा बडा दान है ? आप कृपा कर दूसरी कोई चीज ले । अभी आपका जाना उचित नही है ।'

राउल ने कहा—'मुनि इच्छा-प्रधान होते है । आग्रह-प्रधान नही । पवन का क्या आना और क्या जाना ? हमारे उपदेश का प्रतिपालन ही हमारे दर्शन हैं । बाद मे भी क्या पुन॰ आने की सभावना नही है ? यह कहकर तत्काल राउल वहा से उठा, राजा को आशीर्वाद से सतुष्ट कर वहा से चल पडा । राजा ने उत्तम बैलो से युक्त अनेक शकट राउल को भेट दिए । राउल ने नृप से शकट लेकर जहा चन्दन का ढेर था, वहा आ पहुँचा । गाडियो मे गोशीर्ष चन्दन भरा और नगर से कुछ दूर जाकर उन सभी गाडियो को पुरिमताल के मार्ग पर लगा दिया । इस प्रकार सारा कार्य व्यवस्थित कर राउल जिनदत्त-भानुमती के पास आकर बोला—'मै आज पुरिमतालपुर जा रहा हूँ । यहा रहते बहुत दिन बीत गए । आपकी क्या इच्छा है ?'

जिनदत्त ने तत्काल ही उत्तर देते हुए कहा—'जिस दिन से तुम्हारे मुख से पुत्र का मंगल संवाद सुना है, उसी दिन से पुत्र को देखने की प्रबल उत्कण्ठा उत्पन्न हो गई है। और उसके विना कहीं भी चैन नहीं पड़ता रहा है। हम प्रतिपल तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं, तुम्हारे साथ जाने के लिए हमने सारा सामान बांध रखा है, और सभी कार्य सम्पन्न कर लिए हैं।'

राउल ने कहा—'शीघ्रता करें। विरक्त चित्तवाले योगी किसकी प्रतीक्षा करते हैं? मैं तो अभी जा रहा हूँ'—यह कहकर राउल ने अपने पैर आगे वढ़ाए।

सेठ जिनदत्त ने अपने कन्धों पर भार उठाया। नमस्कार मंत्र स्मरण किया और राउल के पीछे-पीछे चलने लगा। भानुमती सेठ के पीछे चलने लगी। सभी शीघ्र ही गाड़ियों के पास आ गए। और शकट संचालित किये।

राउल ने सहज भाव से कहा—'सेठ! आप यह व्यर्थ ही इतना भार क्यों ढो रहे हैं? आप वूढ़े हैं। गाड़ियों में इस भार की क्या गणना है? आप निःशंक रूप से यह भार गाड़ी में रखदें।'

सरलमति सेठ ने कहा—'राउल! यह भार दुर्वह नहीं है। यह मैं सुख-पूर्वक ढो सकता हूं।'

'तो भी शकट का संयोग होने पर भार को ढोते जाना अच्छा नहीं है'—यह कहते हुए राउल ने सेठ के कंधों पर से अपने हाथ से भार की पोटली उतारी और गाड़ी में सुरक्षित रख दी।

भानुमती के हाथ में भी कोई हल्की वस्तु थी। आग्रह होने पर उसने भी उसको गाड़ी में रख दिया।' थोड़ी दूर जाने पर राउल ने पुनः कहा—'एक गाड़ी में खाली स्थान है। आप उसमें क्यों नहीं वैठ जाते? वूढ़े व्यक्तियों के लिए पद यात्रा सुशक्य नहीं है, इसलिए कृपाकर आप वैठें।'

सेठ ने आभार प्रदर्शित करते हुए कहा—'योगीन्द्र! आपकी सेवा से हम लज्जित हो रहे हैं। हम जैसे गृहस्थों का यह कर्त्तव्य है कि वे साधुओं की सेवा करें। वहां प्रत्युत हम आपकी सेवा ले रहे हैं। यह उचित नहीं है। इस लिए हम गाड़ी में नहीं वैठेंगे।

सवसे पहला कार्य यह है कि आप जैसे वृद्ध व्यक्तियों की सेवा की जाए। हम जैसे वालकों को नहीं। आपको गाड़ी में वैठना ही पड़ेगा। नहीं, नहीं करते हुए भी राउल ने उनको पूर्ण आग्रह से छायायुक्त गाड़ी में विठा दिया।

उन्होने सोचा—'यह राउल कैसा महानुभाव है कि निष्कारण ही हम पर उपकार कर रहा है। यह गुरुजनो की तरह हमारी सेवा कैसे कर रहा है? अथवा मनस्वी व्यक्तियो का यह प्रकृति सिद्ध स्वभाव है। आश्चर्य है नीर क्यो पिपासा शात करता है? अन्न क्यो भूख शात करता है? सूर्य क्यो प्रकाश फैलाता है? चन्द्रमा क्यो शीतलता प्रदान करता है? अर्थात् यह उनका प्रकृति-जन्य स्वभाव है।'

उन्होने राउल को गाडी पर चढने का बहुत अनुरोध किया। तो भी वह गाडी पर नहीं बैठा। वह भिक्षाचर्या से स्वय भोजन लाता अपने हाथ से पकाता और दोनो को पहले भोजन कराकर फिर स्वय एकबार भोजन करता। इस प्रकार सुखपूर्वक रास्ता कटता गया और वे पुरिमताल की ओर शीघ्र गति से बढने लगे। अहो! कैसा पौरुष है!



७

सातवां उच्छ्वास



रत्नपाल ने सोचा—'प्रायः छह महीने बीत चुके हैं। आज तक राउल क्यों नहीं आया? क्या मेरे माता-पिता नहीं मिले? क्या जाते-जाते वह कहीं रास्ते में भटक तो नहीं गया? क्या वह किसी नगर की जनता की अत्यन्त भक्ति से मोहित होकर वहीं ठहर गया? या वह कहीं प्राकृतिक शोभा से संपन्न किसी पहाड़ की गुफा में ध्यान करने लग गया? हां! जानते हुए भी मैंने भूल कर डाली। मैंने अजान राउल को देशान्तर क्यों भेज दिया?

नहीं, नहीं, वह अत्यन्त कार्य-कुशल, इंगित और आकार को जानने वाला समयज्ञ, उद्यमी, उत्साही, सत्यप्रतिज्ञ, योगी और महात्मा है। इसलिए मैं दक्षिणपथ की ओर जाऊं और आने वाले पथिकों की प्रतीक्षा करूं। संभव है कि उनसे राउल के समाचार प्राप्त हो जाएं।' ऐसा चिन्तन कर रत्नपाल अत्यन्त उत्सुकता से प्रतिदिन दक्षिण दिशा की ओर जाने लगा। वह राउल के मिलने की आशा से दूर से आने वाले पथिकों को देखता, प्रतीक्षा करता, और निरीक्षण करता। वह उस दिशा से आने वाले पथिकों को रोक-रोककर राउल की वेशभूषा, आकृति और वचन माधुर्य का वर्णन कर पूछता कि क्या किसी ने इस प्रकार के बालयोगी को देखा है? वह उनसे

सेठ जिनदत्त का सम्मान करते हुए कहा—'आपके विना सारा स्थान शून्य सा लग रहा था।' सारे वातावरण में वर्णनातीत आनन्द व्याप्त था। अन्त में सभी व्यक्तियों के साथ जिनदत्त की नगर-प्रवेश यात्रा वहुत धूमधाम से निकली। एक खुले हुए यान में तीनों वैठ गए। सवसे आगे पुत्र वैठा था, उसके पीछे माता-पिता वैठे थे। अनेक प्रकार के वाजे वज रहे थे। जय-जय-कार के नारों से आकाश गूंज उठा। हजारों नागरिक साथ थे। जिनदत्त ने नगर में प्रवेश किया। वे सोलह वर्ष बाद सकुशल अपने घर लौट आए। सेठ के घर में अभूतपूर्व मेला लग गया। वहुत आडम्वर से प्रीतिभोज संपन्न हुआ। पूर्व परिचित नौकर, दास, दासियां, गुमास्ते आदि स्वयं आकर मिले। सारा कार्य सुव्यवस्थित हो गया। जैसे निर्धन व्यक्ति धन को, अंधा व्यक्ति आंख को और भूखा व्यक्ति भोजन को प्राप्त कर सुख का अनुभव करता है वैसे ही पुत्र को पाकर दोनों नितान्त सुखी हो गए। वे क्षणभर के लिए भी पुत्र को अलग करना नहीं चाहते थे। शयन, भोजन और पान आदि के विपय में माता भानुमती अपने युवा पुत्र को भी छोटे शिशु की भांति मानती और उसी प्रकार उसके साथ व्यवहार करती थी।

इधर गोशीर्ष चन्दन को वेचकर राउल अतुल धन और मोती आदि लेकर आया। सेठ के समक्ष रत्नपाल की ओर देखते हुए राउल ने कहा—'श्रेष्ठि नन्दन! अपने पूज्य पिता द्वारा अर्जित यह अतुल धन लीजिए'—ऐसे कहते हुए राउल ने उसके आगे सारा धन रख दिया। उसको देखकर आश्चर्य से हँसते हुए जिनदत्त ने कहा—'राउल! यह धन राशि कहां से लाए? कठिहारे का काम करने वाला मैं इतना धन कैसे संचित कर सकता था? व्यर्थ ही मेरी गौरवगाथा मत गाओ, मैं परदेश से कुछ भी नई वस्तु नहीं लाया हूं।'

हँसते हुए उस राउल ने जोर से गर्जते हुए कहा—'यह सारा आपका है, दूसरे का कुछ भी नहीं है। मैं योगी हूं। मैं व्यर्थ ही प्रलाप नहीं करता। श्रेष्ठिप्रवर! आपने वारह वर्ष तक जो सूखा काठ वेचा था, वह सारा गोशीर्ष चन्दन था। वह धूर्त सव जानता था, किन्तु उसने रहस्य प्रकट नहीं किया। मैंने वह जान लिया। पश्चात् किसी छल के द्वारा मैंने विक्रीत मूल्य के साथ सारा चन्दन वापिस ले लिया।' इस प्रकार राउल ने सारा वृत्तान्त यथार्थ रूप से कह सुनाया। राउल विपुल वुद्धि-कौशल का धनी है'—यह देख सव विस्मित हो गए। ओह! धन्य है राउल; यह कितना दक्ष है! यह एक कार्य के साथ-साथ अनेक कार्य करता है। कैसे इसने ठगे हुए धन को पुनः ले लिया?

सभी के मुह पर राउल का जय-सौरभ महकने लगा। इस प्रकार बढ़ते हुए धन मे पुन अधिक वृद्धि हुई। अत्यन्त आनन्द से इनके दिन क्षण की तरह बीतने लगे।

एक दिन रत्नपाल ने राउल से सखेद कहा—'राउल! मैं चिन्ता के सागर मे गिर पड़ा हूँ। मुझे अपनी पत्नी को लाने के लिए ससुरालय अवश्य ही जाना चाहिए, परन्तु चिर-विरह से पीडित मेरे माता-पिता मुझे क्षण भर के लिए भी आँखों से ओझल करना नही चाहते। दूध से जले जैसे छाछ को भी फूँक-फूँक कर पीते है, उसी प्रकार मेरे विरहाग्नि से दग्ध मेरे माता-पिता मेरे दूर जाने की बात भी नही सह सकते। 'मुझे अब क्या करना चाहिए ?'—यह महान् दुविधा मे पड़ा मेरा मन नही जान सकता।

प्रसन्न वदन राउल ने गभीर होकर कहा—'क्या आपको अपने अनुभवी श्वसुर की शिक्षा याद नही है ? उन्होंने कहा था—प्रवास लम्बा है। पुनः यहा लौट आना दुर्लभ है। अपनी पत्नी को साथ मे ही ले जाओ। उसे अकेली यहा मत छोडो, किन्तु आपने उनके आदेय वचनो की गुरुता नही जानी और न चिन्तन ही किया। अब चिन्ता करने से क्या होगा ? पत्नी को लाना आवश्यक है। यदि आप कहे तो मैं उसको लाने के लिए अकेला जाऊँ। दूसरा क्या उपाय हो सकता है ?'

राउल की बात सुनकर रत्नपाल लज्जित हुआ और बोला—'राउल ! यह कैसे कह रहे हो ? जहा मुझे जाना चाहिए, वहा तुमको भेजना लज्जास्पद है। मैंने अपने श्वसुर के सम्मुख यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं शीघ्र ही अपनी सहचरी को लेने वापिस आऊँगा। अपने वचन का पालन करना सत्पुरुषो का कर्त्तव्य है। पुन जिसका हाथ मैंने पकड़ा है, जो मेरी अर्द्धांगिनी बनी है और जिसका आधार एक मात्र मैं ही हूँ, उसके लिए मेरा वहा जाना समुचित है। माता-पिता से विनयपूर्वक आज्ञा-प्राप्त कर मैं शीघ्रातिशीघ्र जाने का इच्छुक हूँ। दूसरा कोई विकल्प नही है।''

आभूषण धारण किए। इस प्रकार उसने सोलह शृंगार किए और वह साक्षात् मनुष्य रूप में देवी की तरह दीखने लगी। जैसे बादलों से चन्द्र की रेखा प्रगट होती है, वैसे ही वह स्नानागार से सहसा घर के आंगन में प्रकट हुई। उस समय रत्नपाल ऊपर के कमरे में था। वह रत्नवती कलहंसी की भांति चरण न्यास करती हुई, सोपान मार्ग से शीघ्र ही ऊपर चली गई। जब वह लक्ष्मी की तरह विकसित मुखारविन्द वाली रत्नपाल को दीखी, तब वह अत्यन्त विस्मित हुआ। उसने पूछा—'अरे बिम्बोष्ठी ! तू कौन है ? सुतनु ! तू कहां से प्रकट हो गई ? मृगाक्षी ! मेरे से तेरा क्या प्रयोजन है ?'

मुस्कराहट से अपनी उज्ज्वल दंत-पंक्ति को दिखाती हुई वह रत्नवती पतिदेव के चरणों में गिर पड़ी। और बोली —"आर्यपुत्र ! आपने अपनी परिणेता को भी नहीं पहचाना ? मैं ही आपके साथ राउल रूप में आई हुई रत्नवती हूँ। क्या मैं वही नहीं हूँ जिसको आपने वहां देखा था ?"

"तू राउल के रूप में छिपी हुई रत्नवती है ? अहो ! मैंने यह कभी नहीं सोचा, पहचाना और चिन्तन किया कि ऐसे हो सकता है ?" क्षणभर के लिए रत्नपाल भी विस्मय से भर गया। "ओह ! तुम्हारे पिता ने कैसी कला रची है ? बिना कुछ परिचित कराए मेरे साथ उसने तुमको कैसे भेज दिया ? इसीलिए वह महानुभाव धूर्तों का आधिपत्य कर रहा है।" रत्नवती ने पतिदेव के चरण छुए। वह चन्द्रमुखी हर्ष से रोमांचित हो उठी। रत्नपाल ने उसे गोद में उठा लिया और अधरामृत का पान करते हुए अपने पास बिठा लिया। रत्नवती अपने पति के मिलन से अवर्णनीय सुख का अनुभव करती हुई उपालंभ की भाषा में बोली—'पतिदेव ! आपने मुझे अबला और निराधार को अकेली ही पिता के घर क्यों छोड़ दिया ? क्या आप नई वधू, जिसका पति प्रवासी हो चुका है की स्थिति नहीं जानते ? आपने मेरे साथ वहां कभी भी संलाप नहीं किया, मानो कि कोई संबंध हुआ ही न हो। आपने न मुझे प्रेममय वचनों से पुष्ट ही किया और न यथार्थ की जानकारी ही दी। अरे ! नीरस हृदय ! आपने मुझे यों ही छोड़ दिया ! क्या आर्यपुत्र का यह व्यवहार उचित था ? क्या कोई भी बुद्धिमान ऐसे कृत्य का अनुमोदन करेगा ? मेरे पिता भी बहुत चिन्तित हुए किन्तु किसी महात्मा की कृपा से यह कार्य सम्पन्न हुआ। मैं यहां राउल के रूप में आई, माता-पिता की खोज में गई। प्रत्येक गांव और नगर में घूमते हुए मैंने क्या-क्या अनुभव नहीं किया ? सब कुछ मैंने अपना कर्त्तव्य समझकर किया है। आज मैं कृतकार्य होकर मूल रूप में आर्यपुत्र के सम्मुख उपस्थित हुई हूँ।' इस प्रकार कहती हुई रत्नवती,

चन्द्रमडल को निहारती हुई चकोरी की भाति, प्रिय पति के मुख को देखती हुई आनन्द मे लीन हो गई।

रत्नपाल ने कहा— 'हा ! तुम सत्य कह रही हो, मैंने तुमको वहा रख कर भूल की है। अपरिपक्व बुद्धि के कारण क्या ऐसे परिणाम नही आते ? किन्तु तुम्हारे अनुभवी पिता के अनुग्रह से सब कुछ सुन्दर, समुचित और अच्छा हो गया। वहा जाना अभी सभव नही होता। मेरे माता-पिता की खोज मे तुमने जो साहस दिखाया है, वह अबला के बल से अतिरिक्त है। उसके लिए जितने धन्यवाद दिए जाए, वे सभी थोडे है। माता-पिता भी राउल के सेवा-भाव की प्रशसा करते है'—'इस प्रकार बात-चीत करते हुए दोनो माता-पिता के दर्शन करने के लिए चल पडे। ये दोनो प्रसन्न बदन से, जहा माता-पिता बैठे थे, वहा आए। रति के साथ कामदेव की तरह रत्नवती के साथ रत्नपाल को देखकर माता-पिता को आश्चर्य हुआ। उन्होने पूछा—"यह रूपवती स्त्री कौन है, जो तुम्हारे साथ सहसा अवतीर्ण हुई ? क्या कोई आराधिता देवी मनुष्य शरीर धारण कर प्रकट हुई है ? इसके साथ हमारा क्या सबध है ?' इस प्रकार वे तर्क-वितर्क कर रहे थे। इतने मे ही रत्नवती ने अपने सासु-श्वसुर के चरण छुए। हाथ जोडकर वह बोली—'मै आपकी पुत्र-वधू आपके प्रिय पुत्र की पत्नी रत्नवती हूँ। विद्याबल से राउल के रूप मे, मै पति के साथ आई। मै ही आपकी पुत्रवधू हूँ, दूसरी नही !" इस प्रकार कहकर वह सासु के चरणो मे गिर पडी। यह जानकर भानुमती और जिनदत्त को आश्चर्य के साथ महान् आनन्द हुआ।

तब वधू को देखने के लिए सभी बन्धु-बांधव आश्चर्य से वहां आए। रत्नपाल के अनुरूप रत्नवती को देखकर सब आनन्दित हुए। सेठ के परम सौभाग्य की प्रशंसा करते हुए स्वजन अपने-अपने घर की ओर चले गए। रत्नवती ने अपने विनय, विवेक, चातुर्य और दक्षता से परिजनों तथा गुरुजनों को मंत्र-मुग्ध, सम्मोहित, कीलित और वशीभूत कर लिया। पुत्र और पुत्रवधू के मधुर व्यवहार और कार्यों की निपुणता के कारण माता-पिता ने अपने आपको भार उतरे हुए भार-वाहक की भांति हल्का अनुभव किया। रत्नपाल भी रत्नवती के साथ पंचेन्द्रिय जन्य विषय-सुखों का अनुभव करता हुआ यथा समय धार्मिक और व्यावहारिक कार्यों में संलग्न सुख से समय व्यतीत करने लगा।

एक बार जिनदत्त ने पूर्व रात्रि और अपररात्रि में धर्म-जागरण करते हुए सोचा—'अहो ! मैंने एक ही जन्म में सुख-दुःख की विचित्र शृंखला देखी है और उसका अनुभव भी किया है, तो भी मेरा मन विरक्त क्यों नहीं हुआ ? मैं इन्द्रिय-विषयों के भोग से पराङ्मुख क्यों नहीं हुआ ? बन्धुजनों में मेरा स्नेह शिथिल क्यों नहीं हुआ ? धन आदि के प्रति त्याग की भावना क्यों नहीं बढ़ी ? हा ! हा ! जो क्षण बीत जाते हैं, वे पुनः लौटकर नहीं आते। जो यौवन लावण्य और शारीरिक बल क्षीण हो जाता है, वह पुनः प्राप्त नहीं होता। अरे ! तुच्छ जीवन के लिए ऐसी चिन्ता ? कितनी दौड़-धूप ! कितना छल-कपट ! क्या रंक की तरह राजा को भी यह सब नहीं छोड़ना पड़ता इसमें क्या शंका है ? मृत्यु का नियम सर्वसाधारण और निश्चित है। उसके आगे किसी का विनय या बल प्रयोग सफल नहीं होता। इसलिए मैं अपना हित का चिन्तन और आचरण क्यों नहीं करूँ ? अहो ! आयुष्य के मूल्यवान् तीन भाग बीत गए। अब जो कुछ बचा है उसमें मुझे आत्म-कल्याणकारी धर्म कार्य, भवांतर में हित, सुख और क्षेम के लिए करना चाहिए।' इस प्रकार भावना करता हुआ विरक्त हुआ, वैराग्य को प्राप्त हुआ और बन्धन को तोड़ने के लिए तत्पर हुआ। उसने भानुमती के समक्ष अपनी भावना रखी। भानुमती ने भी पति के इस शुभ कार्य का अनुमोदन किया। और पति का अनुगमन करने के लिए उत्सुक हुई। अपने पुत्र आदि बन्धुजनों की आज्ञा लेकर जिनदत्त अपनी पत्नी के साथ, धर्मघोष आचार्य के पास प्रव्रजित हो गया। वे दोनों अनेक प्रकार की घोर तपस्या से शरीर को तपाते हुए, स्वाध्याय ध्यान से आत्मा को भावित करते हुए, अन्त में संलेखना सहित अनशन कर कल्प विमानवासी देव हुए।

कहा—'प्रभो। मैंने ऐसा कौनसा पाप किया था कि जिससे मुझे सोलह वर्षों तक माता-पिता का वियोग सहना पड़ा और धन-नाश का सामना करना पड़ा ?' आचार्य ने ज्ञान बल से कहा—'एकबार अज्ञान के वशीभूत होकर तेरी आत्मा ने अपनी माता द्वारा दिए गए सुपात्रदान की क्रोध के आवेश में गर्हा की और उन मुनियों की निन्दा की, उसका फल यहां भीषण रूप से तुमने भोगा है। पश्चात् तुम्हारी मां ने यथार्थज्ञान कराया और दान का महात्म्य बताया, तब तुमने उस सुपात्र दान की अनुमोदना की। धर्म के प्रति तुम्हारी रुचि उत्पन्न हुई। उसके प्रभाव से तुमने पुनः सब कुछ प्राप्त कर लिया।

अपने पूर्व वृत्तान्त को सुनकर—रत्नपाल और उसकी पत्नी रत्नवती को परम वैराग्य हुआ। रत्नपाल ने सोचा—'इस जाज्वल्यमान संसार से मेरी आत्मा को शीघ्र ही निकालूँ। बुद्धि का यही परम फल है कि मैं अपनी आत्मा का उद्धार करूँ।' यह सोचकर रत्नपाल विरक्त होगया। उसने घर का सारा भार पुत्र को देकर स्वयं रत्नवती के साथ भगवती दीक्षा स्वीकार कर दीक्षित हो गया। उसने पवित्र क्रिया की, निर्मल ध्यान किया, उज्ज्वल स्वाध्याय किया, तीव्र तप तपा और अप्रमत्त विहार किया। अनेक वर्षों तक संयम पर्याय का पालन कर दोनों ब्रह्मदेव लोक में देवरूप में उत्पन्न हुए। वहाँ से च्युत होकर वे महाविदेह क्षेत्र में सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होंगे तथा समस्त दुःखों का अन्त करेंगे। 

रयणवाल कहा का हिन्दी-रूपान्तर

समाप्त



काव्यकर्ता की प्रशस्ति

(१) इस (रत्नपाल की कथा) चरित्र को सुनकर जगत की विचित्रता, लक्ष्मी की चचलता एव बधुजनों के स्वार्थपरक प्रेम को समझना चाहिए।

(२) इसमें भव्यजनो की भावना धर्म प्रवृत्ति मे सुस्थिर होती है। धर्म मे ही सब सुखो की सुन्दर प्राप्ति होती है।

(३) अधिक क्या, अध्यात्म-सुख का एकमात्र कारण, तीन लोक मे सारभूत धर्म ही है, भव्यों को धर्म की सदा आराधना करनी चाहिए।

(४) वर्तमान कलिकाल मे समुद्र के समान धीर-गभीर अखण्ड उज्ज्वल आचार से युक्त तेरापथ के प्रथम आचार्य श्री भिक्षुस्वामी हुए।

(५) भिक्षु स्वामी ने ससार और मोक्ष का पृथक्-पृथक् मार्ग बताया। दोनो कभी भी एक नही हो सकते।

(६) राग पाप का कारण है और जीव दया (अहिंसा) धर्म का मूल है। फिर वे दोनों साथ (एकत्र मिश्र) कैसे हो सकते है ?

(७) श्रीभिक्षु स्वामी ने अनेक प्रकार के भयकर कष्टो को सहन कर धर्म का जागृति की। उस दृढ मनस्वी ने सकटो से घबराकर अपना सत्य मार्ग नही छोडा।

(८) उनके द्वितीय पट्टधर धीर श्री भारमलजी स्वामी, तृतीय रायचन्द्र जी एव चतुर्थ श्री जयाचार्य हुए।

(९) विमल हृदय श्री मघवा गणी पाचवे पट्ट पर, श्री माणकचन्द्रजी महाराज छठे एव श्री डालचन्द्र जी महाराज सातवे पट्ट पर सुशोभित हुए।

(१०) मोक्ष मार्ग के पथिक महान् कृपापरायण श्री कालुगणी आठवे पट्ट पर हुए। जिनके शासन मे भिक्षुगण की अतुल वृद्धि-समृद्धि हुई।

(११) जिनके अनुग्रह सुधा से सिंचित होकर मुझ जैसा मंदबुद्धि भी साक्षर बन गया। अहो ! गुरु का माहात्म्य सचमुच अवर्णनीय है।

(१२-१३) भिक्षु गण के नवम आसन पर, वर्तमान में महान् प्रभावी आचार्य श्री तुलसी हैं। निरन्तर श्रमरत एवं धर्म प्रचार में दक्ष आचार्य श्री आज के युग के अनुकूल उपदेश देते हुए अणुव्रत आन्दोलन का प्रचार कर रहे हैं। आधुनिक लोग प्रायः उनसे परिचित हैं। प्रभाव से आकृष्ट होकर अनेक प्रकार के लोग आचार्य श्री से वार्तालाप करने आते रहते हैं।

(१४-१५) उन गुरु चरणों का अनुगामी मुनि श्री केवलचन्द्र जी का पुत्र, श्री धन मुनि एवं आर्या दीपां जी का लघुभ्राता, चन्दनमुनि ने (काव्यकर्ता) जो काव्य कल्पना का रसिक है, एकावनवें वर्ष में प्राकृत भाषा का अध्ययन किया।

(१६) बालकों के लिए भी सुग्राह्य, ऐसा अल्प समास वाला तथा मधुर कथानक युक्त प्राकृत भाषा में प्रवेश के लिए इस गद्य काव्य की रचना की।

(१७) श्री मोहनविजय ने गुजराती भाषा की गीतिका में इस कथानक का प्रणयन किया है। उसी से यह कथासूत्र साभार लिया गया है।

(१८) मेरे इस प्रथम प्रयास में अनेक दोषों की संभावना हो सकती है। आशा है विज्ञजन उनका विशोधन कर देंगे।

(१९-२०) विक्रम संवत् २००२ में जयपुर में चतुर्मास किया। श्री लाल मुनि एवं श्री मूल मुनि दोनों ही भक्तिभाव के साथ सेवा करते हैं। यहां एकदिन अचानक शिकारी कुत्तों के आक्रमण से हाथ जख्मी हो गया। पक्का पाटा बंधा। इस समय में इस काव्य की मैंने रचना की। यह कृति सबको कल्याणकारी हो।



काव्यकर्ता की प्रशस्ति

(१) इस (रत्नपाल की कथा) चरित्र को सुनकर जगत की विचित्रता, लक्ष्मी की चचलता एव बधुजनो के स्वार्थपरक प्रेम को समझना चाहिए।

(२) इससे भव्यजनो की भावना धर्म प्रवृत्ति मे सुस्थिर होती है। धर्म से ही सब सुखो की सुन्दर प्राप्ति होती है।

(३) अधिक क्या, अध्यात्म-सुख का एकमात्र कारण तीन लोक मे सारभूत धर्म ही है, भव्यो को धर्म की सदा आराधना करनी चाहिए।

(४) वर्तमान कलिकाल मे समुद्र के समान धीर-गभीर अखण्ड उज्ज्वल आचार से युक्त तेरापथ के प्रथम आचार्य श्री भिक्षुस्वामी हुए।

(५) भिक्षु स्वामी ने ससार और मोक्ष का पृथक्-पृथक् मार्ग बताया। दोनो कभी भी एक नही हो सकते।

(६) राग पाप का कारण है और जीव दया (अहिंसा) धर्म का मूल है। फिर वे दोनो साथ (एकत्र मिश्र) कैसे हो सकते है?

(७) श्रीभिक्षु स्वामी ने अनेक प्रकार के भयकर कष्टो को सहन कर धर्म की जागृति की। उस दृढ मनस्वी ने सकटो मे घबराकर अपना सत्य मार्ग नही छोडा।

(८) उनके द्वितीय पट्टधर धीर श्री भारमलजी स्वामी, तृतीय रायचन्द्र जी एव चतुर्थ श्री जयाचार्य हुए।

(९) विमल हृदय श्री मघवा गणी पाचवे पट्ट पर, श्री माणकचन्द्रजी महाराज छठे एव श्री डालचन्द्र जी महाराज सातवे पट्ट पर सुशोभित हुए।

(१०) मोक्ष मार्ग के पथिक महान् कृपापरायण श्री कालुगणी आठवे पट्ट पर हुए। जिनके शासन मे भिक्षुगण की अतुल वृद्धि-समृद्धि हुई।

(११) जिनके अनुग्रह सुधा से सिंचित होकर मुझ जैसा मंदबुद्धि भी साक्षर बन गया। अहो! गुरु का माहात्म्य सचमुच अवर्णनीय है।

(१२-१३) भिक्षुगण के नवम आसन पर, वर्तमान में महान् प्रभावी आचार्य श्री तुलसी हैं। निरन्तर श्रमरत एवं धर्म प्रचार में दक्ष आचार्य श्री आज के युग के अनुकूल उपदेश देते हुए अणुव्रत आन्दोलन का प्रचार कर रहे हैं। आधुनिक लोग प्रायः उनसे परिचित हैं। प्रभाव से आकृष्ट होकर अनेक प्रकार के लोग आचार्य श्री से वार्तालाप करने आते रहते हैं।

(१४-१५) उन गुरु चरणों का अनुगामी मुनि श्री केवलचन्द्र जी का पुत्र, श्री धन मुनि एवं आर्या दीपां जी का लघुभ्राता, चन्दनमुनि ने (काव्यकर्ता) जो काव्य कल्पना का रसिक है, एकावनवें वर्ष में प्राकृत भाषा का अध्ययन किया।

(१६) बालकों के लिए भी सुग्राह्य, ऐसा अल्प समास वाला तथा मधुर कथानक युक्त प्राकृत भाषा में प्रवेश के लिए इस गद्य काव्य की रचना की।

(१७) श्री मोहनविजय ने गुजराती भाषा की गीतिका में इस कथानक का प्रणयन किया है। उसी से यह कथासूत्र साभार लिया गया है।

(१८) मेरे इस प्रथम प्रयास में अनेक दोषों की संभावना हो सकती है। आशा है विज्ञजन उनका विशोधन कर देंगे।

(१९-२०) विक्रम संवत् २००२ में जयपुर में चतुर्मास किया। श्री लाल मुनि एवं श्री मूल मुनि दोनों ही भक्तिभाव के साथ सेवा करते हैं। यहां एकदिन अचानक शिकारी कुत्तों के आक्रमण से हाथ जखमी हो गया। पक्का पाटा बंधा। इस समय में इस काव्य की मैंने रचना की। यह कृति सबको कल्याणकारी हो।

